॥ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

॥ श्रीसंकर्षणप्रियानुजाय नमः ॥

श्रीभगवते वासुदेवाय नमः

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

तृतीयोऽध्यायः

ॐ सहनाववतु सहनौ भुनक्तु । सहवीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

त्वामतीन्द्रियमव्यक्तमक्षरं निर्गुणं विभुम् ।
ध्यानासाध्यं च सर्वेषां परमात्मानमीश्वरम् ॥
स्वेच्छामयं सर्वरूपं स्वेच्छारूपधरं परम् ।
निर्लिप्तं परमं ब्रह्म बीजरूपं सनातनम् ।
स्थूलात्स्थूलतरं प्राप्तमतिसूक्ष्ममदर्शनम् ॥
स्थितं सर्वशरीरेषु साक्षीरूपमदृश्यकम् ।
शरीरवन्तं सगुणमशरीरं गुणोत्करम् ।
प्रकृतिः प्रकृतीशं च प्राकृतं प्रकृतेःपरम् ॥
सर्वेशं सर्वरूपं च सर्वान्तकरमव्ययम् ।
सर्वाधारं निराधारं निर्व्यूहं स्तौमि किं विभुम् ॥

अहा ! वह देखो ! सामने एक वहुत बडा गम्भीर सागर लहरें लेताहुआ देखपडता है जिसमें एक नउका बहती चली जारही है और उस नउकापर एक कोई पथिक अपनी गठरी मोटरी लादे किसी कर्णधारसे पार उतारदेनेकी प्रार्थना कररहा है। चलो ! थोडा आगे बढकर देखो तो सही ! कैसी लीला है ?

आगे बढकर— सखे ! यह तो एक अद्भुतलीला दृष्टिमें आरही है। यह तो परम अपार महाभारतसंग्राम रूप गंभीर सागरके मझधार में गीता नामकी नउका बही जारही है, जिसपर अर्जुन नामका एक पथिक अपने शुभाशुभ कर्मोंकी गठरी मोटरी लादेहुए जगदभिराम घनश्याम रूप परम प्रवीण कर्णधारसे पार उतारदेनेकी प्रार्थना कररहा है। चलो ! शीघ्र चलो ! हमलोग भी इसी नउकापर चढ अर्जुनके साथ-साथ उसी सांवले कर्णधारसे प्रार्थना करतेहुए झट भवसागरके पार होजावें ॥

अर्जुन उवाच—

मू०— ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ! ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ! ॥१॥

+व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिम्म मोहयसीव मे ।
तदेकं वद ! निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

पदच्छेदः— ×जनार्दन ! (हे जनानामभिलषितसिद्धिकर्त्ता महेश्वर !) चेत् (यदि) कर्म्मणः (कर्मयोगापेक्षया) बुद्धिः (ज्ञानम्) ज्यायसी (प्रशस्ततरा) ते (तव) मता (मान्या) तत् (तर्हि) केशव ! (हे वासुदेव !) घोरे (बन्धुवधाख्ये हिंसात्मके क्रूरे) कर्म्मणि (क्रियायाम्) माम् (शोकग्रस्तार्जुनम्) किम् (कथम्) नियोजयसि (प्रवर्त्तयसि । प्रेरयसि) व्यामिश्रेण (क्वचित्कर्मप्रशंसा क्वचित् ज्ञानप्रशंसा इत्येवं सन्देहोत्पादकेन) इव (सदृश) वाक्येन (वचनेन) मे (मम) बुद्धिम् (अल्पमेधाम्) मोहयसि (भ्रान्त्या योजयसि) इव । तत् (तयोः ज्ञानकर्मणोः मध्ये) एकम् (एकार्थम् । मुख्यम् । निश्च-

---

+ किसी किसी गीता में व्यामिश्रेणैव ऐसा पाठ है । तहां अन्वय में इव के स्थानमें एव समझना चाहिये ॥

× इस जनार्दन शब्द की विविध प्रकारकी व्युत्पत्ति अ० १ श्लोक ३५ में देखो । इनमें केवल यहां एक व्युत्पत्ति होनी चाहिये वह यों है—"सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषित सिद्धय इति जनार्दनः" ।

यात्मकम्) निश्चित्य (निर्णयंकृत्वा) वद ! (कथय !) येन (निश्चयात्मकवाक्येन) अहम् (अर्जुनः) श्रेयः (परम कल्याण स्वरूपं मोक्षम्) आप्नुयाम् (प्राप्स्यामि) ॥ १, २ ॥

पदार्थः—(जनार्दन !) हे भक्तोंकी अभिलाषा पूर्त्तिकरनेवाले जनार्दन !(चेत) यदि (कर्मणः) कर्मयोगसे (बुद्धिः(ज्ञानयोग श्रेष्ठ है ऐसा (ते मता) तुमसे माना जाता है (तत्) तब (केशव !) हे केशव ! तुम (माम्) मुझ अल्पबुद्धिको (घोरे) ऐसे बन्धुओंकी हिंसारूप घोर (कर्मणि) कर्ममें (किम्) क्यों (नियोजयसि) प्रेरणा करते हो ? अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि जब कर्मयोगसे ज्ञानयोग श्रेष्ठ मानतेहो तो क्यों मुझको फिर कर्ममें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा देते हो ? ॥ १ ॥

भगवन् ! ऐसे (व्यामिश्रेण इव) दो प्रकारके मिलेहुए वचनोंके समान (वाक्येन) वाक्योंसे तुम (मे बुद्धिम्) मेरी अल्पबुद्धिको (मोहयसीव) मोहित करनेवालेके समान क्यों मोहमें डालते हो ? इसलिये (तत्) इन दोनोंमें जो श्रेष्ठ हो (एकम्) उसी एकको (निश्चित्य) निश्चयकरके (वद !) कहो ! (येन) जिससे (अहम्) मैं (श्रेयः) परमकल्याणरूप मोक्षको (आप्नुयाम्) प्राप्त होऊं ॥ २ ॥

भावार्थः—दूसरे अध्यायमें योगेश्वर भगवान श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अर्जुनके कल्याण निमित्त "सांख्ययोग" और "कर्मयोग" का उपदेश किया । अर्थात् "प्रजहाति यदा कामान्"

(अध्याय २ श्लोक ५५) से "एषा ब्राह्मीस्थितिः पार्थ ०० ०" (श्लोक ७२) तक "ज्ञाननिष्ठा"का उपदेश किया, पर इससे पहले उसी अध्यायके ४७ वें श्लोकमें "कर्मण्येवाधिकारस्ते" तथा ४८ वें में "योगस्थः कुरु कर्म्माणि" कहकर कर्म्मनिष्ठा का उपदेश करचुकेथे। इसी कारण इन दो प्रकारकी बातोंको सुन अर्जुनके चित्तमें व्याकुलता उत्पन्न होआयी। विचारने लगा, कि यह बात कैसी हुई ? (मैं तो श्रीपतिको अपना परम हितकारी गुरु जानकर ऐसी आपत्तिके समय अपना परम श्रेय पूछ रहाहूं और उनसे यों कहचुका हूं कि "पृच्छामि त्वां धर्म्मसंमूढचेताः" हे भगवन्! मैं धर्म्म विषयमें मूढ हूं। इसलिये मैं तुमसे यह पूछताहूं कि "यच्छ्रेयस्यान्निश्चितं-ब्रूहि तन्मे ० ००" जो मेरेलिये कल्याणकारक हो सो निश्चय कर उपदेश करो!) पर बडे शोक की बात है, कि जनार्दनने ऐसा न किया।

ये वार्त्तायें तो मेरी उस प्रार्थनासे विपरीत देखपडती हैं। न जाने इनके गूढ-मर्म मेरी समझमें न आये वा ऐसे घोर समयमें केशव मेरी बुद्धिकी परीक्षा कररहा है। क्योंकि जिस "ज्ञाननिष्ठा"को मुक्तिका उपाय बतलाया है, मुझको तिस ज्ञान-निष्ठासे रोककर कर्म निष्ठाहीमें रहनेकी आज्ञा कीहै। जो कर्म इस एक जन्ममें मेरी मुक्ति का कारण नहीं होसकता। इससे बोध होता है, कि मुझको युद्धरूप घोर कर्ममें फंसाकर अनेक जन्मोंमें भटकनेकेलिये छोडदिया है। हा! मैं ऐसा मन्दभाग्य हूं।

ऐसे मनमें विचार, व्याकुल-चित्त होकर बोला, कि [ज्यायसी

चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्द्दन !] हे जनार्दन ! तुमको सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जनार्दन इसी कारण कहता है, कि " सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषित सिद्धय इति जनार्दनः" अपनी अभिलाषा की सिद्धि निमित्त जो सर्वोंसे याचा जावे वा जिससे सब प्राणी अपनी मनोकामनाकी सिद्धिकी प्रार्थना करें उसे कहिये जनार्दन । अथवा " जनं जननं तत्कारणमज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेणार्दयति हिनस्तीति जनार्दनः !" जो जन्मको अथवा मातृगर्भमें जन्म लेनेका जो मुख्य कारण अविद्या तिसे नाश करदेवे, उसे कहिये जनार्दन । सो हे भगवन् ! ये सब गुण तो तुममें विद्यमान ही हैं फिर तुम "जनार्दन" कहलाकर इस समय मेरी बुद्धिको व्याकुल क्यों कररहे हो ? यदि तुम्हारी समझमें यही निश्चय है, कि कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर मैंने जो पहले तुमसे यही कहा था, कि इन "भीष्म द्रोण इत्यादि श्रेष्ठ पुरुषोंके वध करनेसे सन्न्यासी हो, भीख मांगकर खाना उत्तम है" इस मेरे वचनको तुमने न माना । [तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव !] तब क्यों अपने बन्धुओंकी हिंसा रूप महा घोर नरकावह कर्ममें मुझको नियुक्त करते हो ? ऐसा क्यों ? ऐसे कर्म से मुझको मुक्त क्यों नहीं करते ? तुमतो कर्मोंका निषेध करते हो ! फिर कहते हो, कि युद्ध कर ! ऐसा क्यों ? जब तुम ऐसी बात करोगे तो मुझ अज्ञानीका कहां ठिकाना लगेगा ? । माता यदि दूधमें विष मिलाकर बच्चेको पिलावे तो उसके वचनेकी क्या आशा कीजासकती है ? इसी प्रकार तुम्हारा उपदेश श्रवण कर मैं मानो मरा चलाजाता हूं। क्योंकि [व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे]

दो तत्त्वोंके मिश्रित वचनोंसे मेरी बुद्धिको तुम मोहमें डालरहे हो। यदि तुम्हारे विचारसे तुम्हारे वचन उचित हों तो हों, पर मैं मन्दमति हूं, मेरी समझमें कुछ नहीं आते। कभी तो तुम कहते हो, कि "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (अ० २ श्लो० ४५) वेद त्रिगुणात्मक कर्मोंके बतानेवाले हैं इसलिये तूं इनको छोड निस्त्रैगुण्य होजा! और निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्वस्थ होकर योग क्षेमकी परवाह न करके आत्मानन्दमें प्रवेश करजा। अप्रमत्त होकर अपनेमें स्थिर होजा! ऐसा कहकर मुझको निवृत्तिमार्ग उपदेश करते हो। फिर कहते हो, कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते ..." (अध्या० २ श्लो० ४७) तथा "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते" (अ० २ श्लो० ३१) अर्थात् कर्म ही में तेरा अधिकार है और क्षत्रियोंके लिये युद्धसे बढकर कोई दूसरा धर्म नहीं है। ऐसे कहकर प्रवृत्तिमार्ग में डुबाते हो। फिर कहते हो, कि "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय!" (अ० २ श्लो० ४९) अर्थात् हे धनंजय बुद्धियोगसे कर्म अत्यन्त निकृष्ट है। इस वचनसे ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा कर्मको निकृष्ट बतलाते हो। एवम् प्रकार हे भगवन्! एकही अधिकारीको प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका अधिकार कैसे होसकता है? जैसे एक ही प्राणी को कोई कहे, बैठे भी रहो और चलो भी, तो ऐसा नहीं होसकता।

हे भगवन्! आपहीके उपदेशसे मैं इतना तो अवश्य समझ गया हूं, कि जो देहाभिमानी है, उसको कर्मकी आवश्यकता है। क्योंकि उसे अपने देहका पालन, पोषण तथा अपने नाम, यश, प्रभुता, महत्व इत्यादिके प्रचार करनेकी लालसा बनी रहती है। इसलिये वह कर्मोंमें

फँसा रहता है। इसीके प्रतिकूल जिसका देहाभिमान नष्ट होगया है उसीको ज्ञानकी प्राप्ती होती है। इसलिये यहतो एक सीधी बात सभी समझ सकते हैं, कि कर्म और ज्ञानका अधिकारी एकही पुरुष नहीं होसकता।" हे गोविन्द! तब तुम मुझ एक मन्दमतिके प्रति क्यों ऐसे मिश्रित वचनोंको कहकर मेरी बुद्धिको मोहमें डालरहे हो? यदि ऐसे कहो, कि "मैं तुझसे "कर्म" और "ज्ञान" दोनोंको विकल्प मात्र कहताहूं" तो हे भगवन्! स्वजातीय वस्तुमें विकल्प होसकता है पर विजातीयमें नहीं। जैसे धातुओंके गलाते समय स्वर्णकार सोना, चांदी, तांबा इत्यादि भिन्न-भिन्न धातुओंको मिलानेमें विकल्प करसकता है, पर इन धातुओंमें किसी काष्ठ वा फल, फूल इत्यादिका विकल्प नहीं होसकता। इसीप्रकार ज्ञान और कर्म जो तुम्हारे ही कहने सेविजातीय देख पडते हैं इनमें विकल्प नहीं होसकता। दूसरी बात यह है, कि जब कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है, तो ऐसा कौन मूर्ख होगा जो ऐसे ज्ञानरूप हीराको छोड कर्मरूप कांचका ग्रहण करेगा? यदि यह कहो, कि इन दोनोंके अधिकारी भिन्न-भिन्न रहे, तो ऐसे अल्प समय में, मुझ एक अर्जुनके प्रति दोनों के कहनेकी क्या आवश्यकता थी? इसलिये हे जनार्दन! मेरी बुद्धि इस समय शान्तिको न प्राप्त करके औरभी व्याकुल होगयी है।

प्रिय पाठको! सत्य है। इस समय अर्जुनकी दशा ऐसी होरही है जैसे "ग्रहग्रहीत पुनि वातवश तेहि पुनि बीछी मार। ताहि पियाइये बारुणी कहहु कौन उपचार॥" (तुलसी) अर्थ—कोई पुरुष अपने किसी बुरे ग्रहसे ग्रसाहुआ दुःखी होरहा हो, तिसपर वातवश हो

अर्थात् वायु बिगडनेसे बावला होरहा हो, तिसपर बिच्छू मारदेवे और तत्पश्चात् उसे मद्य पिलायाजावे, तो विचारने योग्य है, कि उसकी कैसी बुरी दशा होजावेगी ? इसीप्रकार इस समय अर्जुनकी दशा समझनी चाहिये । क्योंकि एकतो बेचारा राजसे च्युत होगया है, तिसपर युद्ध छिडगया है, तिसमें बन्धुवर्गोंकी हिंसा करनेके शोकसे घबरायाहुआ है, तिसपर ज्ञान और कर्म दोनों सिद्धान्तोंसे मिश्रितवचन सुनकर परम व्याकुलताको प्राप्त होगया है ।। इसकारण अधिक ढिठाईसे यों बोलता है, कि हे केशव ! मैं तुमसे यही प्रार्थना करताहूं कि [**तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्**] इन दोनो मार्गोंमें जौन मेरेलिये कल्याणकारक हो उसी एकको निश्चयकर कहो ! मैंने जो ऐसा कहा, कि आपके वचन दो तत्वोंसे मिश्रित देखपडते हैं, सो मैं अत्यन्त मन्दबुद्धि हूं इसलिये ऐसा कहता हूं । इसी भयसे डरते-डरते मैंने " इव " शब्दकी योजनाकी है, अर्थात् तुम्हारे वचन मिश्रितके समान मुझे जान पड़ते हैं । मैं यह नहीं कहता, कि यथार्थमें वे मिश्रित हैं । इसीप्रकार जो मैंने यह कहा, कि "मोहयसि" मुझको छलतेहो, वा मेरी बुद्धिको मोहमें डालतेहो ! सो भी मैं अपनी व्याकुलताके कारण कहता हूं । क्योंमि मैं पहलेही कहचुका हूं, कि इस वंधुबध रूप घोर हिंसाको देखकर "**भ्रमतीव च मे मनः**" मेरा मन चक्कर खाता है । यथार्थमें तुम्हारे समान गुरु भला शिष्यको क्यों मिश्रित वचन कहकर मोहमें डालेगा ? कदापि नहीं ! । इसी कारण डरते-डरते इस " **मोहयसि** " शब्दके साथ भी मैंने "**इव**" शब्दका प्रयोग किया है। सच तो यह है, कि तुम्हारे वचन न तो मिश्रित हैं,

न तुम मुझको मोहते हो, पर मुझको मिश्रितके समान जान पड़ते हैं। अपनी अल्पबुद्धिके कारण मैं स्वयम् मोहमें पड़रहा हूं। भला तुम ऐसा क्यों करोगे? मैंने पूर्वजन्ममें उग्र तपस्या कीथी, जिसका फल मुझको आज मिला है, कि हे श्रीपति! जो तुम ब्रह्मादिको भी हाथ नहीं लगते, सो आज तुम इस मन्दबुद्धि अर्जुनके हाथ लगगये हो। भला सोचो तो सही! जिसको कामधेनु हाथ लगजावे, वह उससे भिन्न-भिन्न अर्थरूप क्षीरको दूहनेमें क्यों आलस करेगा? जिसे पारसमणि हाथ आजावे वह अपने ग्रामभरके लोहको स्वर्ण बनालेनेमें क्यों असमंजस करेगा? देखो अमृतके समुद्रके तटपर जाकर भी अमर न हुआ तो उसके समीप जानेका लाभ क्या है? इसीप्रकार हे कमला-पति! मैं इस समय तुम्हारी समीपता पाकर इस घोर युद्धका विचार न करके अपना परम कल्याण तुमसे पूछताहूं। मैं संसारके रोगोंसे ग्रस्त महारोगी हूं, जिसके तुम परम चतुर वैद्य हो। चतुर वैद्यकी यही चतुराई है, कि रोगीको ऐसी औषधि देवे जिससे शीघ्र रोगोंका नाश भी होजावे और खानेमें भी मधुर और रुचिकारक हो। सो हे भगवन्! तुम मुझको ऐसा उपदेशकरो! जो सब गूढ तत्वोंसे भरा भी हो और मेरी बुद्धिको भी स्थिर करदेवे तथा समझनेमें भी मुझको किसीप्रकारका कष्ट न हो।

शंका—सचमुच भगवानके वचन कर्म और ज्ञान दोनों निष्ठाओंसे मिलेहुए होनेके कारण गड़बड़ भमभमासे हैं अथवा अर्जुनकी समझका दोष है?

समाधान— अर्जुनकी समझका दोष है। अर्जुन कई प्रकारके

शोकोंसे व्याकुल होनेके कारण एकाग्र चित्त नहीं रहसकता । सुनते-सुनते उसकी चित्तवृत्ति रणभूमिकी ओर चलीजाती है । इसलिये अनुसन्धान जाता रहना है । वचनोंके तारतम्यको नहीं पकड सकता

दूसरी बात यह है, कि श्री कृष्णचन्द्र युद्धस्थित जानकर वीरोंको युद्धके लिये शंख-ध्वनि द्वारा ललकारते हुए देखकर अर्जुनको संक्षिप्त रूपसे कर्म और ज्ञान दोनोंका विषय समझाकर जो कुछ कहना था उसे दूसरे ही अध्यायमें समाप्तकर युद्ध करवाना चाहते थे; इसलिये अर्जुनकी समझमें बात न बैठी। क्योंकि जिस कर्म और ज्ञानके सिद्धान्तमें बडे-बडे विद्वान झगडरहे हैं। कोई कर्म और ज्ञानका समुच्चय बताता है अर्थात् यह कहता है, कि एक ही पुरुषको एक ही बार दोनोंका अधिकार है । कोई कहता है, कि इन दोनोंका समुच्चय हो नहीं सकता कर्म साधन है ज्ञान उसका फल है । फल प्राप्त होनेके पश्चात् साधनमें परिश्रम करना निरर्थक है । एवम् प्रकार इस विषे विद्वानोंके अनेक झगडे हैं सो ऐसे झगडेकी बात अर्जुनकी समझमें इतनी शीघ्रतासे कैसे बैठे ? शंका मत करो !

अर्जुनकी ऐसी शोकभरी प्रार्थना सुन श्री हरि दोनों निष्ठाओंका इस प्रकार वर्णन करना आरम्भ करते हैं, जिससे अर्जुनकी बुद्धि भी ठिकाने पर आजावें और विश्वमात्रके मुमुक्षुओंका कल्याण भी होजावे ।

पाठकोंको चाहिये, कि अगले श्लोकके भावार्थको एकाग्रचित्त होकर पढें और उसके मर्मों पर पूर्ण प्रकार ध्यान देवें—

श्री भगवानुवाच ।

मू०—लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
॥ ३ ॥

पदच्छेदः—अनघ (हे अपाप ! विशुद्धान्तःकरण !) अस्मिन् लोके (अस्मिन् संसारे। शुद्धाशुद्धान्तःकरणतया द्विविधेऽधिकारीजने) पुरा (सर्गादौ । पूर्वाध्याये वा) मया (सर्वज्ञेनेश्वरेण) द्विविधा (उपायोपेयभेदेन द्विप्रकारा । अधिकारीभेदेन साध्यसाधनावस्थाभेदेन-वा द्विप्रकारा) निष्ठा (अनुष्ठेयतात्पर्य्यम् । स्थितिः) प्रोक्ता (स्पष्ट-लक्षणेनोक्ता) सांख्यानाम् (आत्मविषयविवेकज्ञानवताम् । वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्थानाम्। ज्ञानभूमिमारूढानाम् । शुद्धान्तःकरणानाम्) ज्ञानयोगेन (ज्ञानमेवयोगस्तेन) योगिनाम् (कर्मिणाम् । कर्म-योगाधिकारिणाम्) कर्मयोगेन (कर्मैव योगस्तेन) ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अनघ!) हे पापोंसे रहित निर्दोष अर्जुन! (पुरा)× इस सृष्टि की आदिकालमें (अस्मिन् लोके) इस लोकमें (मया) मेरे द्वारा (द्विविधानिष्ठा) दो प्रकारकी ब्रह्मनिष्ठा (प्रोक्ता) कथनकी गयी हैं । (सांख्यानाम्) आत्मज्ञानियोंकेलिये (ज्ञानयोगेन) सांख्य योगसे परिपूर्ण और (योगिनाम्) कर्म-योगियोंके लिये (कर्मयोगेन)

× "पुराः"—पूर्वं सर्गादौ प्रजाः सृष्ट्वा तासामभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिसाधनं वेदार्थ संप्रदायमाविष्कुर्वता प्रोक्ता मया सर्वज्ञेनेश्वरेण। (शंकराचार्यः) किसी किसी टीकाकारने " पुरा " का अर्थ पूर्वाध्याय किया है पर बहुतोंकी यह सम्मति नहीं है ।

कर्मयोगसे परिपूर्ण अर्थात् दोनोंके लिये ये दोनों निष्ठायें विलग-विलग कथन कीगयी ॥३॥

भावार्थः— अर्जुनके हृदयकी गति समझनेवाले जब अर्जुन के वचन सुनकर इतना जानगये, कि अर्जुनने जो दो कडे शब्द अपने वचनमें मेरे लिये प्रयोग किये हैं; अर्थात् प्रथम तो मेरे वचनों को मिश्रित वाक्य (गडबड झभझा) बतलाया, फिर यह कहा, कि " विमोहयसि " मेरी बुद्धिको मोहते हो ! । इन दोनों वचनोंके कहनेकी लज्जा अर्जुनके मनमें हुई है । इसी कारण मुझसे कुछ भयभीत होरहा है । तब कृपासागर, क्षमाके समुद्र, पतितपावन भगवानने अर्जुनको निर्भय करनेके निमित्त ' अनघ ' कहकर पुकारा है । अर्थात् हे अर्जुन ! तू सर्व प्रकार निर्दोष है । दूसरा तात्पर्य "अनघ" कहनेका यह है, कि हे अर्जुन तेरा हृदय पापोंसे रहित है, इस कारण यद्यपि तूने अभी मेरे वचनोंको पूर्ण रीतिसे नहीं समझा है, तथापि तुझको स्वच्छ-हृदय और सर्व प्रकार निर्दोष जानकर मैं यह गीताशास्त्र सब वेदोंका सार, उपनिषदोंका निचोड तेरे प्रति कथन करूंगा । तेरे इस प्रश्नसे संसारी जीवोंका भी अत्यन्त ही कल्याण होगा । तूने जो मेरे वचनको मिश्रितके समान समझा है सो इसमें तेरा दोष नहीं है । मैंने ही जो तुझे कई प्रकार के मिश्रित वचन कह सुनाये इसका कारण सुन!

इस गीताशास्त्रके प्रथम अध्यायमें तो इस शास्त्रका उपोद्घात मात्र है और दूसरा अध्याय संपूर्ण गीताशास्त्रका सूत्र मात्र है । जैसे समयका संकोच देखकरे महापुरुषोंने विद्यार्थियोंके शीघ्र कंठगत करानेके लिये और सदा उस शास्त्रका भाव उसकी जिह्वा पर उपस्थित रहनेकेलिये सर्व प्रकारके

शास्त्रोंको सूत्रबद्ध करदिया है, फिर उन सूत्रोंकी वृत्ति बनाकर भिन्न अर्थोंका बोध करातेहुए उसका व्याख्यान किया है। इसी प्रकार हे अर्जुन! इस घोर युद्धके समय सम्पूर्ण गीता-शास्त्र तुझे शीघ्र समझादेनेके तात्पर्य से मैंने दूसरे अध्यायको सूत्रके समान तेरे प्रति कथन करदिया, पर तेरे कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि युद्धके उपस्थित होनेके कारण तेरी बुद्धि कुछ चंचल रही। इसीलिये तेरी समझमें जो त्रुटि रहगई है उसके पूर्ण करदेनेके निमित्त मैं इस दूसरे अध्यायके सूत्रवत् वाक्यों का पूर्ण व्याख्यान अब १६ अध्यायोंमें विलग-विलग कर तुझे समझाता हूं। इससे संपूर्ण संसारका भी कल्याण होगा और तेरी बुद्धि भी स्थिर होजावेगी। सुन! एकाग्र चित्त होजा!

पाठकोंके बोधार्थ यहां दिखलादिया जाता है, कि भगवान्ने दूसरे अध्यायमें किस तारतम्यके साथ संपूर्ण गीताको सूत्रवत् कह-दिया है।

आदौ निष्कामकर्मनिष्ठा ततोऽन्तःकरणशुद्धिः ततः शम-दमादिसाधनपुरःसरः सर्वकर्मसन्न्यासः ततोवेदान्तवाक्य-विचारसहिता भगवद्भक्तिनिष्ठा ततस्तत्त्वज्ञाननिष्ठा। तस्याः फलं च त्रिगुणात्मकाऽविद्यानिवृत्त्या जीवन्मुक्तिः। जीवन्मुक्ति-दशायां च परमपुरुषार्थावलम्बनेन परवैराग्यप्राप्तिः। दैव-सम्पदाख्या च शुभवासना तदुपकारिण्यादेया। आसुरसम्पदाख्या त्वशुभवासना तद्विरोधिनी हेया। दैवसंपदोऽसाधारणं कारणं सात्त्विकी श्रद्धा आसुरसम्पदा तु राजसी तामसी चेति हेयोपा-देय विभागेन कृत्स्नशास्त्रार्थपरिसमाप्तिः।

अर्थ— सबसे पहले निष्कामकर्मोंकी निष्ठा, फिर अन्तःकरणकी शुद्धि तिससे शमदमादि साधन द्वारा सब कर्मोंका सन्न्यास । तिससे वेदान्तवाक्योंके विचारके साथ भगवद्भक्तिकी निष्ठा। तिससे तत्त्वज्ञानकी निष्ठा । तिसका फल त्रिगुणात्मका अविद्याकी निवृत्ति द्वारा प्रारब्धानुसार पांचभौतिक देहकी स्थितिपर्य्यन्त जीवन्मुक्ति। फिर देह त्याग होजानेपर " विदेहमुक्ति " । फिर पूर्वोक्त जीवन्मुक्तिकी दशामें परमपुरुषार्थके आश्रयसे परम वैराग्यकी प्राप्ति । तिसकी रक्षा करनेवाली जो दैवी सम्पदारूप शुभवासना है, उसका ग्रहण और तिस वैराग्यकी विरोधिनी जो आसुरीसम्पदारूप अशुभ वासना है तिसका सर्वदा त्याग । दैवी सम्पदाका असाधारण कारण सात्त्विकश्रद्धा, और आसुरीसम्पदाका असाधारण कारण राजसी और तामसी श्रद्धा । इनके ग्रहण और त्यागको कथन करतेहुए भगवान्ने परम उत्कृष्ट तारतम्यके साथ गीताशास्त्रकी समाप्ति करदी है।

सूक्ष्म है— परम तत्त्वके बोध निमित्त तथा संसार बन्धनसे छूटकर भगवत्स्वरूपमें लय होनेके निमित्त पहले अन्तःकरणकी शुद्धि ही की आवश्यकता है जो निष्कामकर्म्मोंके साधनसे उत्पन्न होती है । विना अन्तःकरण शुद्धकिये हुए भगवत्की ओर बुद्धि मुरती ही नहीं, न उसके चरणोंमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। जैसे अत्यन्त मलीन वस्त्रपर किसी प्रकारका सुन्दर रंग नहीं चढसकता । इसी प्रकार जबतक नाना प्रकारके पाप-कर्मोंके कारण तथा काम, क्रोध इत्यादि विकारोंके कारण प्राणीका अन्तःकरण मलीन रहता है तबतक सहस्रों यत्न करनेपर भी उसपर भगवद्भक्तिका रंग नहीं चढसकता ।

इसी कारण भगवान्ने सबसे पहले निष्काम-कर्मोंका साधन बतलाया है।

अब पाठकोंके कल्याणार्थ यह भी जना दिया जाता है, कि दूसरे अध्यायमें भगवान्ने किन श्लोकोंको सूत्रवत् कथन किया है और तिन सूत्रवत् श्लोकोंमें किस श्लोकका व्याख्यान कौन अध्याय है—

दूसरे अध्याके सूत्रवत् श्लोक	अध्याय जिसमें उस श्लोकका व्याख्यान है	व्याख्यानका संक्षिप्त तात्पर्य्य
कर्मण्येवाधिकारस्ते (श्लो० ४७) योगस्थःकुरुकर्माणि (श्लो० ४८)	३, ४	निष्काम कर्मोंकी सिद्धिद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिका वर्णन
विहायकामान्यःसर्वान् (श्लो० ७१)	५, ६	शुद्धअन्तःकरणवालेको शम दम इत्यादि द्वारा सर्व कर्मोंके न्यासकी निष्ठाका वर्णन
युक्त आसीत मत्परः (श्लो० ६१)	७ से १२ तक	भगवद्भक्तिनिष्ठा अर्थात् उपासनाका वर्णन
वेदाविनाशिनं नित्यम (श्लो० २१)	१३	तत्त्वज्ञाननिष्ठाका वर्णन

दूसरे अध्यायके सूत्रवत् श्लोक	अध्याय जिसमें उस श्लोकका व्याख्यान है	अध्याय का संक्षिप्त तात्पर्य
त्रैगुण्यविषया वेदाः (श्लो० ४५)	१४	तिस तत्त्वज्ञाननिष्ठाका फल
तदा गन्तासि निर्वेदम् (श्लो० ५२)	१५	परवैराग्य निष्ठाका वर्णन
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः (श्लो० ५६) यामिमां पुष्पितां वाचं (श्लो० ४२)	१६	तिस परवैराग्यकी सहायता करनेवाली दैवीसम्पदा और तिसकी विरोधिनी आसुरी सम्पदाका वर्णन
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थः (श्लो० ४५)	१७	राजसी और तामसी श्रद्धाकी निवृत्ति करतेहुए दैवीसम्पदाका असाधारण कारण सात्विक श्रद्धाकी प्राप्तिकावर्णन
,,	१८	उक्तज्ञानका उपसंहारकरतेहुए सम्पूर्ण गीताशास्त्रका उपसंहार

तात्पर्य यह है कि जैसे कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनोंका वर्णन करतेहुए वेद समाप्त होता है इसी प्रकार यह श्रीमद्भगवद्गीता

भी क्रमशः इनही तीनोंके वर्णनमें समाप्त कीगयीहै। इसी कारण इसको पांचवां वेद कहते हैं।

अब भगवान अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकार कर उसके चित्तकी व्याकुलता दूर करनेके तात्पर्यसे अपने मिश्रित वाक्योंको स्पष्ट कर ब्रह्मनिष्ठाके कर्म औ ज्ञानको विलग-विलग स्पष्टरूपसे वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !**] हे अनघ ! निर्दोष अर्जुन ! मैं इस संसारमें लोकोंके कल्याणनिमित्त "पुरा" सृष्टिकी आदिमें वेदोंके द्वारा ब्रह्मनिष्ठाके दो भेद वर्णन करचुका हूं। यहां "द्विविधा" कहनेसे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि भगवान् दो निष्ठाओंका विलग-विलग वर्णन करते हैं वरु एकही ब्रह्मनिष्ठाके दो भेद विलग-विलग दिखलाते हैं।

भगवानके कहनेका तात्पर्य्य यहां यह है, कि इस सृष्टिमें जितने जीव उत्पन्न कियेगये हैं वे सब दैवी और आसुरी इनहीं दो सम्पदाओंके अन्तर्गत उत्पन्न हैं (देखो अध्या० १६) जितने प्राणी दैवीसम्पदा से उत्पन्न हैं उनकी बुद्धि सात्विकी होती है, इसी कारण उनके हृदय में भगवत्स्वरूपकी ओर स्वयं श्रद्धा होआती है। क्योंकि पूर्व-जन्ममें अथवा पूर्व-सृष्टिमें अनेक निष्काम कर्मोंके साधन द्वारा उनका अन्तःकरण शुद्ध होजाता है। अतएव ऐसे प्राणी वर्त्तमान जन्ममें ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त करनेके पश्चात् ही निवृत्तिमार्गमें प्रवेश करजाते

टिप्प०— इन ही अधिकारियोंके लिये उपनिषद्की भी आज्ञा है- श्रु०**यदिवेतर्था ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा।** (देखो जाबालोपनिषद् श्रु० ४ में) अर्थात् अधिकारी पुरुष ब्रह्मचर्य्यावस्थासे ही सन्न्यासी होजावे, नहीं तो गृहस्थसे वा वानप्रस्थसे सन्न्यासी होवे।

हैं, अर्थात् संसारसे उपराम होकर आत्मानन्द तथा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति निमित्त ज्ञानका अवलम्बन करलेते हैं। इसी कारण ऐसे पुरुषको सांख्य कहते हैं। क्योंकि जिसकी बुद्धि सांख्यामें हो उसे ही सांख्य कहते हैं। इसलिये भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! सृष्टिकी आदि ही में [**ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्**] ऐसी बुद्धिवालोंके निमित्त मैंने ज्ञानयोगका उपदेश किया। पर रजोगुणी श्रद्धाके कारण जिनकी बुद्धि प्रवृत्तिकी ओर लगीहुई है, कर्मोंमें जिनकी अभिलाषा बनीहुई है; अर्थात् नाना प्रकारके यज्ञोंमें, योगोंमें, तपोंमें जिनकी रुचि बनीहुई है तथा स्वर्ग सुखके भोगोंमें अणिमादि-सिद्धियोंकी प्राप्तिमें जिनकी अभिलाषा बनी हुई है, उनहीको **कर्मयोगी** कहते हैं। ऐसे योगियोंकी उन्नति कर्मयोगसे होती है। यह वार्त्ता मैंने पहले ही कथन करदी है। अर्थात् ÷**अरुन्धतीदर्शनन्याय** से पहले उनको कर्मका उपदेश किया है। फिर उन कर्मोंके फलको त्याग करनेका उपदेश कर ज्ञान-तत्त्वका उपदेश किया है। फिर उस तत्त्वसे भगवत्स्वरूप की प्राप्तिके यत्न करनेका उपदेश किया है। सो सब तत्त्व मैं तुझको इसी गीताशास्त्रमें यथाक्रम उपदेश करूंगा। इसी कारण हे अर्जुन! तू "ज्ञान" और "कर्म" इन दोनों प्रकारकी

÷ अरुन्धतीदर्शनन्यायः— अरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां तारां मुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति।

अर्थ— अर्थात् अरुन्धतीका देखनेवाला पहिले उस अरुन्धतीके समीपवाले अन्य ताराओंको ग्रहण कर पीछे यथार्थ अरुन्धतीका ग्रहण करता है इसे "अरुन्धती-दर्शन-न्याय" कहते हैं।

निष्ठाओंको विलग-विलग अधिकारियोंके प्रति मत समझ ! एक ही पुरुष अरुन्धतीदर्शनन्यायसे इन दोनोंका भिन्न-भिन्न समयोंमें अधिकारी होसकता है। इसलिये इन दोनोंमें साधनकाल और सिद्धान्तकालका भेद है।

प्रिय पाठको! सच है। वेदोंमें भी पहले÷"पश्येम शरदः शतम् जीवेमशरदः शतꣳशृणुयाम०००" इत्यादि मंत्रोंसे सकाम-कर्म ही का लेख देखाजाता है। फिर उक्त अरुन्धतीदर्शनन्यायसे "+ कुर्वन्नेवेह कर्माणि ०००" मंत्र द्वारा सकाम-कर्मका ही उपदेश करनेके पश्चात् निष्काम कर्मकी ओर बुद्धि मोरीगयी है। जिस निष्काम-कर्म द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त करते हुए ज्ञानका अधिकार बतलायागया है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! मैं प्रथम ही वेदोंमें दो प्रकारकी भूमिकाओंका कथन करचुका हूं अर्थात् ज्ञानियोंके लिये सांख्ययोग और योगियोंके लिये कर्मयोग उपदेश किया है। अधिकारके भेदसे विलग-विलग अधिकारियोंकी आवश्यकता नहीं है।

भगवानका अभिप्राय यह है, कि एक ही पुरुष कालभेदसे दोनोंका अधिकारी होसकता है। केवल भूमिका भेद है। अधिकार भेद नहीं है। इसी कारण 'निष्ठा' एक वचन प्रयोग किया है। यदि भिन्न-भिन्न दो निष्ठाओंका कहना प्रयोजन होता तो "द्वे निष्ठे" द्विवचन प्रयोग करते।

वसिष्ठ-मुनिने भी रघुकुल-मणिसे ऐसा ही कहा है ' द्वौ क्रमौ

÷ शु० यजु० अध्या० ३६ मन्त्र २४ में देखो।

+ शु० यजु० अध्या० ४० मन्त्र २ में देखो।

चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ! योगो वृत्तिनिरोधोहि ज्ञानं सम्य गवेक्षणम् । असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्व निश्चयः । प्रकारौद्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥ (योगवाशिष्ठे) अर्थ– वशिष्ठजी कहते हैं, कि हे राघव ! योग और ज्ञान ये दोनों क्रम +चित्तवृत्तिके नाश करदेनेके निमित्त हैं । कर्मयोगसे चित्तवृत्तियोंका निरोध और ज्ञानयोगसे आत्मसाक्षात्कार । इनमें किसीको कर्मयोग असाध्य है और किसीको ज्ञानयोग असाध्य है । इस कारण शिव भगवान्‌ने ये दो क्रम कथन किये । इसलिये इन दोनोंमें जिस प्राणी से जो साध्य हो उसीका ग्रहण करे । जो पूर्वजन्ममें कर्मयोगकी पूर्त्ति करचुका है उसकेलिये ज्ञानयोग और जिसने पूर्वजन्म में कर्म- योग पूर्ण नहीं किया वा कर्मयोग करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होगया उसके लिये कर्मयोग ॥ ३ ॥

अब श्रीकृष्ण भगवान् इसी विषयको अधिक स्वच्छ करनेकेलिये अर्जुन के प्रति यों कहते हैं, कि जैसे बिना कारण कार्य्य नहीं होता इसी प्रकार बिना कर्म ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होसकती ।

+ चित्तवृत्ति=ये चित्तवृत्ति दो प्रकारकी होती है–प्रमा और अप्रमा । प्रमा उसे कहते हैं जो प्रमाण-जन्य हो अर्थात् यथार्थ ज्ञानके साथ मिश्रित हो । जैसेईश्वरके ज्ञानकी वृत्ति ।

अप्रमा उसे कहतेहैं जो यथार्थ ज्ञान और दूषित ज्ञान दोनोंसे मिश्रित हो । तहां इसी दूषित ज्ञानको भ्रम भी कहते हैं । जैसे शुक्ति (सीप) में रजत (चांदी) का ज्ञान और रज्जु (रस्सी) में सर्पका ज्ञान, दूरसे देखने में रेलगाडीके लाइनोंके मिले हुए का ज्ञान इत्यादि । इनही को भ्रमात्मक वृत्ति कहतेहैं । इसीप्रकार अग्निमें अग्निका, जलमें जलका, तथा दुःख–सुखका ज्ञान ये यद्यपि अप्रमा है पर यथार्थ है ।

मू०—न कर्म्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
॥ ४ ॥

पदच्छेदः— पुरुषः (सन्मार्गान्वेषी मनुष्यः) कर्म्मणाम् (क्रियाणाम सत्वशुद्धिकारणानाम) अनारम्भात् (अननुष्ठानात) नैष्कर्म्यम् (सर्व कर्मशून्यत्वम ज्ञानम् । निष्क्रियात्मस्वरूपेणैवावस्थानम) अश्नुते (प्राप्नोति) च (तथा) न (नहि) सन्न्यसनात् केवलात्कर्मपरित्यागमात्रात । औत्सुक्यमात्रेण सन्यासग्रहणात् । चित्तशुद्धिरहितात् सन्न्यासात)एव, सिद्धिम् (मोक्षम) समधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (पुरुषः) कोई पुरुष (कर्मणाम्) कर्मोंके (अनारम्भात्) विना आरंभकिये (नैष्कर्म्यम्) नैष्कर्म्य अवस्थाको अर्थात् मोक्षको (न) नहीं (अश्नुते) प्राप्त होसकता है (च) तथा (सन्न्यसनादेव) एकाएक कर्मको छोडदेनेसे भी (सिद्धिम्) सिद्धि अर्थात् मोक्षको (न) नहीं (समधिगच्छति) लाभ करसकता है ॥ ४ ॥

भावार्थः— प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि बहुतेरे बुद्धिमान् एकबारगी कर्मको छोड ज्ञानी बन बैठते हैं । शीतकालमें ठण्डकके भयसे स्नान करनेका साहस नहीं करते । कृपणता संयुक्त होकर दान देना इत्यादि शुभ कर्मोंको छोडदेते हैं । अहर्निशि सांसारिक झमेलोंमें फंसकर पूजा, पाठ, जप, हवन इत्यादि सब कर्मोंको त्याग अपनेको

ज्ञानी समझते हैं । कुछ पूछनेपर उत्तर देते हैं, कि कर्म तो बन्धनोंका कारण है । केवल ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होजाती है। हंसी आती है इनके वचनोंपर जो ज्ञानका सारतत्व कुछभी न जानकर कथनमात्र ज्ञानी बन कर्मोंको त्याग " **मारे घुट्टी (एडी) और फूटे ललाट** " की कहावतको चरितार्थ करदेते हैं । ऐसे आलसी प्राणियोंका तो तीन कालमें भी उद्धार नहीं होसकता। इन दिनों प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि नाना प्रकारके कपोल कल्पित मत वाले प्रायः ज्ञानी बन बैठे हैं । इसलिये मैं उनको यही कहताहूँ, कि इस गीताके इस श्लोककी ओर थोडी दृष्टि उठावें और एकाग्रचित्त हो इस श्लोकका तात्पर्य्य पूर्णप्रकार समझनेकी चेष्टा करें । श्री कृष्णभगवान् अपने परमभक्त अर्जुनकी शंका निवारणार्थ कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**] विना कर्म आरंभ कियेहुए कोई प्राणी कर्मरहित अवस्थाको अर्थात् मोक्ष वा ज्ञानको नहीं लाभ करसकता है ।राजाहो, रंकहो, ब्रह्मचारीहो, गृहस्थहो, वानप्रस्थहो, तपस्वीहो, बुद्धिमानहो वा मूर्खहो । कोई भी क्यों न हो, विनाकर्म आरंभ किये कर्मोंके मर्मको नहीं समझ सकता और जबतक मर्म समझमें न आवे तबतक नहीं जानसकता, कि कर्मोंसे रहित होना क्या है और उस कर्मरहित होनेका कैसा अपूर्व आनन्द है ? संसृत-कार्य्योंमें भी देखा जाता है, कि छोटेसे छोटे कार्य्य की पूर्त्ति भी विना कर्मकिये नहीं होसकती । यदि किसीको काशीजाकर विश्वनाथका पूजन करवाना अभिष्ट हो तो जबतक वह अपने दोनों पैरोंसे गमन करनेकी क्रिया आरंभ नहीं करेगा, घर बैठे बैठाये काशी कदापि नहीं पहुंच सकता । पर जब वह काशी पहुंच जावेगा तब

उसकी गमन क्रियाकी निवृत्ति आपसे आप होजावेगी। प्रमाण—श्रु०
"तावद्रथेन गंतव्यं यावद्रथ पथि स्थितः। स्थित्वा रथ पथस्थाने रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ अमृतनादोपनिषत् खण्ड १ अनु० ३)
अर्थ— जबतक पथमें रथकी स्थिति है तबहीतक रथके द्वारा गमन करने योग्य है पर जब पथस्थानमें रथ पहुंचगया तब रथ छोड प्राणी चला जाता है। इसीप्रकार क्षुधाकी शांति निमित्त भोजनकी क्रिया क्षुधा शान्ति होतेही समाप्त होजाती है। इन उदाहरणोंसे सिद्ध होता है, कि विनाकर्म आरंभ किये नैष्कर्म्यकी अवस्था नहीं आती।

यदि कर्मोंका कुछभी तात्पर्य्य न होता तो वडे-वडे ब्रह्मवेत्ता, आचार्य्य, ऋषि और महर्षिगण श्रुति और स्मृतियोंके द्वारा विधि और निषेधके वर्णन करनेमें इतना अपने मस्तिष्कको क्यों पचाते ? अपने अमूल्य समयको क्यों नष्ट करते ? पंच-महायज्ञ, नाना प्रकारके श्रौतस्मार्त्तकर्म तथा चारों वर्ण और आश्रमोंके भिन्न-भिन्न धर्म्म, जो श्रुति स्मृतियोंके द्वारा बतायेगये हैं, क्यों बतायेजाते ?

हां! इतना तो अवश्य है, कि अरुन्धतीदर्शनन्यायसे पहले कर्म करनेमें प्राणियोंकी श्रद्धा उपजायी जाती है और इस श्रद्धाके उपजाने की आवश्यकता अज्ञानी जीवोंके लिये है। क्योंकि जबतक अज्ञानी जीवोंका अन्तःकरण विषयोंके स्वादसे मलीन रहता है और विषयों की ओर अधिक रुचि रहती है। तबतक उनसे कर्मोंका अभ्यास कराने के लिये नानाप्रकारके फल शास्त्र पुराणोंमें कथन कियेगये हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यहहै, कि शास्त्रोंने पहले सकामियोंके लिये कर्मके फलों का उपदेश कियाहै, फिर जब देखलिया, कि इनको अशुभ-कर्मोंके त्याग

और शुभकर्मोंके साधनका अभ्यास होगया तब शुभ कर्मोंके फलोंका त्याग उपदेश किया अर्थात् निष्काम होकरे कर्मोंके साधन करनेकी आज्ञा दी । क्योंकि सकाम-कर्म करनेवालोंका परिणाम दो प्रकारोंसे दुःखदायी होता है । प्रथमतो यह, कि यदि विधि-पूर्वक शास्त्रानुसार कर्म करनेके कारण उनको फल मिलता चला गया तो वे उन फलों को भोगते भोगते विषयी बनजाते हैं । जैसे अग्निमें घृत डालनेसे ज्वाला बढती जाती है ऐसे विषय-भोगसे विषय-वासना दिन-दिन अधिक बढती है फिर तो मत पूछो ! विषयानन्दसे परे कोई दूसरा आनन्द उनके नेत्रोंमें समाताही नहीं। इस वचनको कृष्णभगवान् अर्जुनके प्रति प्रथम ही कहआये हैं, कि " **भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम** " (अध्य० २ श्लो० ४४) ऐसे प्राणी कूपघटिकायंत्रन्यायसे स्वर्ग इत्यादिका भोग करते हुए बार-बार नीचे ऊपर आते-जाते रहते हैं। इसी दशामें पडे हुए परब्रह्म जगदीश्वर से बिमुख रहते हैं। यह तो सकाम-कर्मोंका प्रथम "परिणाम" हुआ।

दूसरा "परिणाम" सकामियोंके कर्मका यह है, कि विधि-पूर्वक कर्मोंके अनुष्ठानमें वा मंत्रोंके जपादिमें उलटा-पुलटा होजानेसे यदि कर्मों के फल उनको न मिले तो शास्त्रोंमें अविश्वास होजाताहै। अपनी भूल चूकका दोष तो देते नहीं मंत्रोंहीमें दोष लगाते हैं । फिर तो वे धीरे-धीरे सब कर्मोंका त्याग करतेहुए सर्वप्रकार भ्रष्ट होजाते हैं। क्योंकि इधर तो अन्तःकरणकी शुद्धि भी लाभ न होने पायी उधर कर्मोंसे पतित होकर दुर्दशाको प्राप्त हुए। इसलिये जबतक मनुष्य अज्ञानी है तब ही तक उसे सकाम कर्मोंका लोभदेकर शास्त्रोंने शुभकर्मोंका अभ्यास करवाया है।

क्योंकि ये इन्द्रियां बहुत ही बलवान हैं । हठात् मनको अपने-अपने विषयकी ओर खींच भ्रष्ट करदेती हैं । तो यह संभवही नहीं है, कि ये इन्द्रियां चुपचाप बैठने देवें । इसलिये जबतक प्राणी समाधिस्थ नहींहुआ है तबतक वह इन इन्द्रियोंकी प्रेरणावश कुछ न कुछ करताही रहेगा । इसी कारण इनको निष्काम कर्मकी ओर मोरदेनेकी आवश्यकता है । जैसे वृक्षका वानर उस वृक्षके नीचे देवपूजन करतेहुए किसी पुरुषकी पूजाका जलपात्र उठा लेगया हो, तो उससे उस जलपात्रके छुटानेका उपाय यह है, कि दो छोटे-छोटे मिट्टीके पात्रोंमें अन्न भरकर उसके सम्मुख उसी वृक्षके किसी डालपर रखदियेजावें, तो वह वानर झट उन दोनों पात्रोंको हाथोंसे पकडलेवेगा और जलपात्र छोडदेवेगा । इसी प्रकार विषयाभिलाषियोंको जब शुभकर्मोंके फलका लालच दिखलाया जाता है तब वे तामसकर्मोंको छोड सात्त्विककर्मोंका साधन करने लगजाते हैं, पर धीरे-धीरे जब गुरु उपदेश द्वारा फलोंसे उपराम होने लगता है तब कर्मोंका फल त्याग निष्कामकर्म करने लगजाते हैं ।

एवम्प्रकार आचार्य्योंने मनुष्योंके कल्याण निमित्त अरुन्धतीदर्शनन्यायसे निष्काम कर्मोंका उपदेश किया है । जब इन निष्काम कर्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होजाती है, तब चाहे कर्म करतेरहो चाहे छोडदो ! तब ही "कर्मयोग" और "कर्मसन्यास" दोनोंका समान अर्थ होता है । सो श्यामसुन्दर आगे कहेंगे, कि " सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः " (अध्या० ५ श्लो० ४) मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि विना कर्मोंके आरंभ किये कोई प्राणी नैष्कर्म्य अवस्थाको प्राप्त नहीं होसकता । इसी

तात्पर्य्यको दृढ करतेहुए श्यामसुन्दर कहते हैं—[न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति] कोई पुरुष कर्मोंको एकवारगी छोडदेने से भी सिद्धि प्राप्त नहीं करसकता । अर्थात् विना चित्तकी शुद्धि प्राप्त किये केवल काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारणकर सिर मुंडा हाथ पांव मोर वृक्षोंके तले बैठजानेसे सिद्धि प्राप्त नहीं होसकती । इन्द्रियोंके झपेटोंसे नहीं छूटसकता । वृक्षके नीचेभी इन्द्रियां सतावेहींगी । पूर्वके पापकर्म सहायक होकर उस कौतूहली सन्यासीको पापात्मा करदेवेंगे । क्योंकि उसका अन्तःकरण मलीन है । इसीलिये उसे ज्ञान उत्पन्न होनेका अवकाश भी नहीं मिलेगा । प्रमाण-" ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ अर्थ—पापोंके क्षयहोनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होतीहै । जैसे दर्पणको स्वच्छ करलेनेसे प्राणी अपनेको आपमें देखता है ।

बिना अन्तःकरणकी शुद्धिके कर्म्मोंको त्याग सन्न्यास धारण करलेना दुःखका ही कारण होता है । सो श्रीभगवान आगे कहेंगे कि " सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः " (अध्या० ५ श्लो० ६) अर्थात विना कर्मयोगके सन्न्यास दुःखका ही कारण होताहै । इसीकारण जबतक त्याग स्वयम उत्पन्न न होवे तबतक सन्न्यास ग्रहण करना नहीं चाहिये । श्रुतिकी भी आज्ञा है, कि " यदहरेव विरजेत् तदहरेव परिव्रजेत् " जिसी दिन विषयोंके सुखसे वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन सन्न्यास ग्रहण करे । सो वैराग्य बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए प्राप्त नहीं

होसकता और विना निष्कामकर्म अन्तःकरण शुद्ध नहीं होसकता। इसी कारण केवल औत्सुकी सन्न्याससे सिद्धि नहीं मिलसकती ॥४॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन ! विना कर्मकिये यदि कोई चुप वैठरहे तो क्या हानि है ? क्योंकि वह शुभाशुभके झंझटोंसे बचेगा। यहभी एक प्रकारका लाभ ही होगा।

इसके उत्तरमें भगवान कहते हैं—

मू०— नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

पदच्छेदः— हि (यस्मात् कारणात्) प्रकृतिजैः (प्रकृतितोजातैः) गुणैः (सत्त्वरजस्तमोभिः स्वभावप्रभावैः) सर्वः (सकलजनः) अवशः (अस्वतन्त्रः) कर्म (कायिकं वाचिकं मानसिकं वा, लौकिकं वैदिकं वा) कार्य्यते (कर्मणिप्रवर्त्तते) तस्मात। कश्चित् (कश्चन विदुःषो वा मूर्खो वा) जातु (कस्याञ्चिदवस्थायाम्) क्षणम् (निमेषमात्रम) अपि। अकर्मकृत् (कर्माण्यकुर्वाणः) नहि (नैव) तिष्ठति (शरीरवृत्तिं निर्वर्तयति) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (हि) क्योंकि (प्रकृतिजैर्गुणैः) प्रकृतिसे उत्पन्न सात्विक, राजस, तामस तीनों गुणोंके स्वभावके प्रभावसे (सर्वः) सब छोटे बडे (अवशः) अस्वतंत्रहोकर (कर्म) कुछ न कुछ कर्म (कार्यते) करतेही रहते हैं। इसलिये (कश्चित) कोई प्राणी विद्वान हो वा मूर्ख (जातु) किसी अवस्थामें (क्षणमपि) पलमात्र भी

(अकर्मकृत) बिना कर्मकिये (नहि तिष्ठति) चुप बैठ नहीं सकता है ॥ ५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्‌से पूछा है, कि यदि कोई प्राणी कुछ न करे चुप बैठा रहे तो क्या हानि है? इसके उत्तरमें श्रीकृष्णभगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि [**नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**] एक क्षण भी कोई प्राणी विना कुछ किये चुप नहीं बैठसकता। राजा हो वा रंक हो, वीर हो वा कादर हो, ब्राह्मण हो वा चाण्डाल हो स्त्री हो वा पुरुष हो, बालक हो वा वृद्ध हो, निरोग हो वा रोगी हो, योगी हो वा वियोगी हो, कोईभी क्यों न हो? विना कुछ किये क्षणमात्र भी कर्मरहित नहीं होसकता।

योगी जब समाधिमें बैठजाता है, तबतो समाधि-काल पर्य्यन्त विना कर्म स्थिर रहसकता है, पर जब वह भी समाधिसे जगता है तो देखना सुनना, हँसना, बोलना, उपदेश करना, भोजन, शयन, गमन, वमन, हवन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि लौकिक अथवा वैदिककर्म करताही रहता है। क्यों ये सबके-सब किसी न किसी कर्ममें फँसे रहते हैं? इसका कारण भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**कार्य्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः**] ये जितने जीव मात्र इस संसारमेंहैं सब प्रकृतिके गुणोंके वशीभूत हैं इसलिये अवश हैं अपने वशमें स्वतंत्र नहीं हैं, परतन्त्र हैं। प्रकृतिसे उत्पन्न जो सात्विक, राजस और तामस तीन गुण, हैं इन्हीं तीनों गुणोंके अनुसार जो बनाहुआ प्राणियोंका स्वभाव है तिसी स्वभावके वश सबके-सब पडेहुए हैं। तात्पर्य्य यह है, कि तीनों गुणोंके

अनुसार जिसके शरीरमें जौन *गुण न्यून वा अधिक होता रहता है उसीके अनुकूल वह शुभाशुभ आचरण करता रहता है । जैसे बिलसे बाहर निकलते ही मूषकको बिल्ली झपट मार पकड लेती है, ऐसे ही गर्भसे बाहर आतेही यह प्राणी प्रकृतिसे पकडा जाता है । फिर तो प्रकृति क्षण क्षण अपने गुणोंकी प्रेरणा कर उस प्राणीसे कुछ न कुछ करवाती ही रहती है । क्योंकि गर्भसे बाहर होतेही प्राण वहिर्मुख प्रवाह करने लगजाता है, जिसके साथ--साथ मन भी सब इन्द्रियोंको संग लिये बाहरकी ओर होजाता है और अपना मनोराज फैलाकर संसृत व्यवहारोंमें फंस जाता है । तब सब इन्द्रियां अपने अपने विषयकी ओर चल पडती हैं । इसी कारण स्वभावानुसार कर्मोमें सब प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती रहती है । वही प्रकृति नानाप्रकारके राग द्वेष इत्यादि भावोंको इस जीवके सम्मुख करती जाती है और तदनुसार ही कर्म कराती जाती है । जैसे बचपन ही से टकटकी लगाकर माता पिताको देखना, माताके स्तनसे दूधका खींचना, दूध मिलनेसे प्रसन्न होकर हंसना, किलकिलाना, न मिलनेसे रोना इत्यादि सब क्रियाओंको आरम्भ करादेती है । इसी कारण योगेश्वर भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! प्रकृतिजन्य तीनों गुणमय कर्मोके करनेमें सब प्राणी विवश हैं । स्वतंत्र नहीं हैं । इस कारण चुप नहीं बैठसकते । इसलिये क्या अच्छी बात है, कि जब तक वहीर्मुख वृत्ति है निष्काम-कर्मको न छोडें ।

* इस विषयको अर्थात् इन तीनों गुणोंके विभागको भगवान् आगे चलकर १४वें अध्याय में विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे ।

बहुतेरे टीकाकारोंकी यह सम्मति है, कि श्री कृष्णभगवानने यह श्लोक केवल अज्ञानी जीवोंके विषय कहाहै अर्थात् अज्ञानी जीव प्रकृतिके वशीभूत होकर त्रिगुणात्मक कर्मोंको करते रहते हैं। ज्ञानी नहीं करते पर श्रीधर स्वामी अपने भाष्यमें कहते हैं, कि " कश्चिदपि ज्ञानी वाऽज्ञो वा " अर्थात् कश्चित् कहनेसे भगवान का तात्पर्य्य ज्ञानी वा अज्ञानी दोनोंसे है, क्योंकि शारीरक-कर्म भोजन, निद्रा, भाषण, प्रहसन इत्यादि क्रिया करनेमें दोनों समान हैं। जो हो, पर बिना कर्म किये चाहे वह दैहिक हो वा मानसिक हो, लौकिक हो वा वैदिक हो, कोई एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। यदि कोई ज्ञानी विचारमें बैठा है तो वह भी कर्म ही है। जो मुमुक्षु होकर श्रवण, मनन इत्यादि कररहा है वे भी कर्म ही हैं। ज्ञानी पुरुषके वैदिक-कर्म छूट जावें तो छूटजावें पर शारीरक कर्म तो उनके भी नहीं छूट सकते। इसलिये भगवानने "कश्चित्" और " सर्वः " दो शब्दोंका प्रयोग करके इस तात्पर्यको पुष्ट कर-दिया है।

इस प्रकार कर्मके करनेमें सब इन्द्रियां लगी रहती हैं। श्रुतियों ने भी इन्द्रियोंको ग्रह और उनके विषयोंको अतिग्राहके नामसे प्रसिद्ध करे दिखलादिया है, कि ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयके वशमें पड़कर कर्म करती रहती हैं। प्रमाण—श्रु० वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति। जिह्वा वै ग्रहः स रसेना-तिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति। चक्षुर्वै ग्रहः स रूपे-णातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति। श्रोत्रं वै ग्रहः स

शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दान् शृणोति। हस्तो वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याᳫ हि कर्म करोति।
(बृह० अ० ३ ब्रा० २ श्रु० ३, ४, ५, ६, ८, ॥

अर्थ—"वागेन्द्रिय" जो ग्रह है वह अपने नाम अर्थात् "बोलनेयोग्य विषयरूप अतिग्राहसे पकडा जाकर" वचन द्वारा सर्व शब्द वा वाक्य मात्रका उच्चारण करता है। "जिह्वा" जो ग्रह है वह " अपने अतिग्राह रससे पकडा जाकर" जिह्वाद्वारा षटरस इत्यादि रसोंका स्वाद लेता है। "चक्षुः" (आंख) जो ग्रह है सो" अपने अतिग्राहरूपसे पकडा जाकर" चक्षुसे सब रूपोंको देखता है। " श्रोत्र " (कान) जो ग्रह है वह " शब्दरूप अपने अतिग्राहसे पकडा जाकर श्रोत्र द्वारा शब्दोंको सुनता है। "हस्त" (हाथ) जो ग्रह है वह "कर्म रूप अतिग्राह से पकडा जाकर" हाथोंसे कर्मोंको करता है।

इन श्रुतियोंसे सिद्ध होता है, कि इन्द्रियां अवश होकर अर्थात् दूसरेके वशमें पडकर सर्व प्रकारकी क्रियाओंको करती रहती हैं—भगवानने भी मानो इन्हीं श्रुतियोंको दूहकर यह श्लोक कथन किया है। इसी कारण इसमें "अवशः" शब्दका प्रयोग किया ॥ ५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा— भगवन्! यदि कोई विषयासक्त प्राणी हठात् अपनी इन्द्रियोंको रोक चुप एकान्त जाबैठे तो क्या कर्म के त्यागका फल उसे कुछभी न होगा ?

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

मू०—कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमुढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
॥ ६ ॥

पदच्छेदः— यः (पुरुषः) विमूढात्मा (रागद्वेषाद्याक्रान्तचित्तः) कर्मेन्द्रियाणि (हस्तपादवागादीनि) संयम्य (औत्सुक्यमात्रेण निगृह्य । संहृत्य) मनसा (अन्तःकरणेन) इन्द्रियार्थान् (विषयान्) स्मरन् (चिन्तयन्) आस्ते (एकान्ते ध्यानापदेशेनोपविशति) सः (पुरुषः) मिथ्याचारः (कपटाचारः । मृषाचारः । विषयांश्चिन्तयन्योगनिष्ठामात्मनो लोकेऽभिव्यनक्तयन् । असदाचारः । दाम्भिकः) उच्यते (आहूयते) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (यः विमूढात्मा) जो मूढ अर्थात् रागादि दोषोंसे दूषित अन्तःकरणवाला है वह यदि (कर्मेन्द्रियाणि) हाथ, पांव, जिह्वा इत्यादि कर्मेन्द्रियोंको (संयम्य) रोककर (मनसा) मनमें (इन्द्रियार्थान्) विषयोंको (स्मरन् आस्ते) स्मरण करताहुआ चुप बैठजाता है तो (सः) वह (मिथ्याचारः) झूठा आचारवाला, पापात्मा (उच्यते) कहाजाता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो भगवानसे यह शंका की थी, कि कर्मोंको एकबारगी छोडकर त्यागी हो चुप बैठजानेसे क्या त्यागका फल कुछ नहीं होगा? इसका उत्तर देतेहुए श्यामसुन्दर यों कहते हैं,

कि हे अर्जुन ! [**कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा**] जिस प्राणीके राग-द्वेष निवृत्त नहीं हुए हैं तथा विषयोंके भोगनेसे जिसको उपराम नहीं हुआ है अथवा अत्यन्त दरिद्र होनेके कारण कभी किसी प्रकारके विषय का आनन्द लाभ नहीं किया है, तो अवश्य विषयोंकी सुन्दरता और सुखका स्मरण उसके चित्तमें बना रहेगा । ऐसा प्राणी संसारको धोखा देकर ठगनेके लिये एकान्तमें जा योगीका स्वांग बना चुप बैठ-जाता है । बाहरसे तो इन्द्रियोंको रोक सब कर्मोंको त्याग कियेहुए चुप बैठा देखा जाता है पर मनसे सदा इसी चिन्तामें मग्न रहता है, कि कहां किसको किस प्रकार ठग कर अपना स्वार्थ सिद्ध करूं । तो [**मिथ्याचारः स उच्यते**] ऐसा प्राणी मिथ्याचारी अर्थात् कपटी, दम्भी और पापात्मा कहा जाता है । इसलिये हे अर्जुन ! अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे जो मलीन अन्तःकरणवाला प्राणी कर्मोंको छोड त्यागीसा स्वांग बना बैठेगा उससे कुछभी लाभ नहीं । उसका ऐसा करना निरर्थक है । इसी कारण प्राणीको उचित है, कि बिना समझे अर्थात् बिना ज्ञान कर्म त्याग न करे । क्योंकि दैहिक कर्म खाना, पीना, मलमूत्र त्याग करना इत्यादि तो कभी छूटनेवाले ही नहीं हैं, फिर उसने छोडा ही क्या ? केवल पारलौकिक कर्म छोडा । जब एवम् प्रकार पारलौकिक तथा विहित वैदिक कर्मोंको छोडदेगा तो अवश्य विकर्म अर्थात् मलीन कर्मोंको उसके समीप आनेका अवकाश मिलेगा जब मलीन कर्म सामने आगये तो वे प्रकृतिके बलवान होनेके कारण उस विमूढात्माको अपने वश करही लेंगे । क्योंकि कितना भी यत्न

करो, पर बलवान् प्रकृति न छोडेगी । इसलिये बिना ज्ञान प्राप्त हुए सब छोडछाड एकान्त सेवन करना पापकी वृद्धिका कारण है ।

ऐसा नियम है कि योग और भोग दोनों एकान्त चाहते हैं । सो योग तो ऐसे मूढ पुरुषके पास आवेहीगा नहीं, पर भोग एकान्तपाकरे उसे सतावेहीगा । इसलिये विना ज्ञान प्राप्त हुए तथा बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए कर्मोंको त्याग एकान्त बैठ रहनेसे सिद्धि नहीं होसकती है । भगवान् पहले भी कह चुके हैं (देखो श्लो० ४) । इसलिये मायाके वशीभूत जो देहाभिमानी विमूढात्मा है उसका त्याग केवल कपट मात्र है । विचारने योग्य है, कि व्योमयान पर बैठाहुआ देव आप चले वा न चले पर वह व्योमयान (विमान) तो उसे आकाशमें लेही जावेगा । देखो ! वृक्षकी पत्ती सुख कर निर्जीव होजाती है, पर वायुतो उसे बहुत दूर आकाशमें फिरायाही करता है । इसी प्रकार कर्म्म छोडकर बैठने वाला भी मानसिक विकारके कारण मायाके झकोडेमें पड कुछ न कुछ तो करेहीगा । इसलिये हठकरके जो विहितकर्म्म त्याग बैठता है, उसे मलीन हृदय रहनेके कारण पापकर्ममें फंसनेका भय है । पापकर्म करते-करते वह प्राणी नीची योनियोंको अवश्य प्राप्त हो ही जावेगा । प्रमाण श्रु०—**य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चांडालयोनिं वा ।** (छां० अ० ५ ख० १० श्रु० ७) अर्थात् जो प्राणी श्रेष्ठ कर्मोंको परित्यागकर कपूय (निकृष्ट) कर्मोंका आचरण करते हैं वे नीची योनियोंमें अर्थात् कूकर, शूकर, चांडाल इत्यादि योनियोंमें जा उत्पन्न होते हैं, इसलिये

जो विना आत्म-विचार केवल कौतूहल करके कर्मोंको त्याग बैठता है वह पतित हो नीची योनियोंमें जन्म पाता है ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, भगवन् ! अपना मन अपने वश किये हुए हो, पर इन्द्रियोंसे सर्व कर्मोंका साधन करता रहे तो उसकी कैसी गति होगी ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन !
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
॥ ७ ॥

पदच्छेदः—अर्जुन ! (हे धनञ्जय !) यः (पूर्वस्मान्मिथ्याचाराद्विलक्षणः पुरुषः) तु, मनसा (विवेकवैराग्ययुक्तेनान्तःकरणेन) इन्द्रियाणि (श्रोत्रादीनि बाह्यकरणानि) नियम्य (शब्दादिविषयासक्तेर्निवर्त्य । विवेकयुक्तेन निगृह्य । ईश्वरप्रवणानिकृत्वा) असक्तः (फलाभिलाषवर्जितः) कर्मेन्द्रियैः (हस्तपादादिभिः) कर्मयोगम् (निष्कामकर्मानुष्ठानम्) आरभते (अनुतिष्ठति) सः (विवेकीपुरुषः) विशिष्यते (पूर्वस्मादधिको भवति विशेषो भवति । चित्तशुद्ध्या ज्ञानवान्भवति) ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (यः) जोप्राणी (मनसा) मनसे (इन्द्रियाणि) इन्द्रियोंको (नियम्य) निग्रहकियेहुए (असक्तः) कर्मोंके फलकी आशासे रहित (कर्मेन्द्रियैः) हाथ पांव इत्यादि

कर्मेन्द्रियोंसे (कर्मयोगम्) नानाप्रकारके निष्काम-कर्मोंका (आरभते) अनुष्ठान करता रहताहै (सः) वही विवेकी चतुर पुरुष (विशिष्यते) विशेष है, अर्थात उस प्राणीसे श्रेष्ठ है जो आलस्य वश कर्मोंको छोड मिथ्या सन्न्यासी बन मनसे सर्व प्रकारके विषयोंकी अभिलाषा करता रहता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि जो प्राणी अपने मनको हाथ कियेहुए केवल इन्द्रियोंसे कर्मोंका साधन करता रहता है उसकी क्या गति होती है ? इसके उत्तरमें भगवान कहते हैं, कि [**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन !**] अर्जुन ! जो प्राणी अपनी इन्द्रियोंको अपने मन अर्थात् विवेकयुक्त अन्तःकरणसे वशीभूत किये विषयकी सारी अभिलाषा त्यागे हुए, केवल विहित कर्मोंका अनुष्ठान आरंभ करता है और [**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते**] सुन्दर रमणी इत्यादिकी आसक्तिसे रहित केवल भगवत्के चरणकमलोंमें भ्रमरके समान मनको लगायेहुए शरीरनिर्वाहमात्र कर्मेन्द्रियोंसे विहित कर्मोंका सम्पादन करतारहता है अर्थात् शरीरयात्राके निर्वाहार्थ तथा अपने कुटुम्बियोंके पालन-पोषण निमित्त उचित व्यवहार कियाकरता है, पर पुष्करणीके कमलवत् किसीमें एक तृणमात्र भी आसक्ति नहीं रखता है ऐसा पुरुष विशेषकर विवेकी समझा जाता है। तहां श्रुतिका भी वचन है, कि " ३० सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः " (कठो० अ० २ वल्ली २ श्रु० ११) अर्थात् जैसे सूर्य्य सब शुद्ध अशुद्ध वस्तुओंके देखनेसे दूषित नहीं होता इसी प्रकार निर्मल

अन्तःकरणवाला इन्द्रियोंसे बाहरके सब व्यवहार करताहुआ दूषित नहीं होता। इसीकारण भगवान् कहते हैं, कि "स विशिष्यते" वही विशिष्ट पुरुष कहाजाता है अर्थात् पूर्वकथन किये हुए पाखण्डी सन्न्यासीसे सहस्रगुण श्रेष्ठ समझाजाता है। क्योंकि विहित कर्म कैसा भी निकृष्ट क्यों न हो श्रेष्ठ ही कहाजाता है। ऐसे कर्मकरनेवालेको कोई बुद्धिमान् पापी नहीं कहसकता। जैसे माता, पिता, आचार्यादिको जबतक वे जीवित हैं तबतक यदि कोई अग्निसे उनके शरीरको दग्धकरे तो वह घोर पापी और महा आततायी कहाजावेगा, पर जब वेही माता पिता मृतक होजाते हैं तब उनके मृतक-शरीरके दग्ध करनेसे कोई उस दग्ध करनेवालेको पापी नहीं कहता। क्योंकि इसप्रकार दग्धकरना विहित कर्म है। प्रमाण श्रु०— "ॐ न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसाहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥ अर्थ— तू माताका हनन करनेवाला नहीं है, तू भ्राताका हनन करनेवाला नहीं है, तू भगनीका हनन करनेवाला नहीं है, तू गुरुका हनने वाला नहीं है तथा ब्राह्मणका हननेवाला नहीं है। क्योंकि यह तेरा विहित कर्म है। हां मृतक शरीरोंका स्पर्श हुआ है इसलिये शुद्ध होनेकेलिये श्राद्धादि कर्मोंका सम्पादन करना भी विहित कर्म है।

आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र यहां अर्जुनको यह समझा रहे हैं, कि हे अर्जुन! इसी प्रकार तू मनसे सर्व प्रकारकी अभिलाषा छोड और जय अजयकी इच्छा त्याग अपने शत्रुओंकी ओर बाणोंका प्रहार कर! तो तेरा भी यह कर्म विहित समझा जावेगा, जिससे तेरी भी विशेषता और श्रेष्ठता बनी रहेगी और कुछ तेरी भी हानि

न होगी। मुख्य तात्पर्य यह है, कि अन्तःकरणसे स्थिर होजा! और आनन्द पूर्वक कर्मेन्द्रियोंको कर्म करने दे!

यहां ६ और ७ श्लोकोंमें भगवानने दो बातें भिन्न-भिन्न दिखलायी हैं, पहले श्लो० ६ में उन पुरुषोंकी दुर्गति दिखलायी है, जो मनसे तो विषयोंकी कांक्षामें लगे रहते हैं और बाहरसे लोगोंको दिखानेके लिये सन्न्यासी बन कपटी मुनिका स्वांग बना विहित कर्मों का भी संपादन करना छोड बैठते हैं और इस ७ वें श्लोकमें इसीके प्रतिकूल उन लोगोंकी श्रेष्ठता दिखलायी है, जो मनसे तो सर्व विषयों का त्याग किये हुए अपने आत्म-विचार तथा भगवद्भजनमें डूबे रहते हैं—केवल शरीरनिर्वाह निमित्त इन्द्रियों द्वारा विहितकर्मोंका संपादन करते रहते हैं।

आशा है, कि मेरे प्रिय पाठकगण इन ६ और ७ श्लोकोंके मर्म को पूर्ण-प्रकार विचार कर छठवें श्लोक के अनुसार कर्म त्याग कर पाखण्डी बननेवालोंके समीप न बैठेंगे। क्योंकि जिस प्रकारके मनुष्य का संग होता है तदनुसार संगके दोषसे बुद्धि भ्रष्ट होजाती है और संग करनेवाला भी घोर नरकमें पडता है। श्रुतिने भी जहां चार प्रकारके दूषित पुरुषोंकी गणना की है तहां यों कही है, कि - श्रु० पञ्चमश्च,चरंस्तैरिति (छांदो० पंचम प्र० खं० १०श्रु०६) अर्थात् वे चार प्रकारके मनुष्य तो नरकमें गिरते ही हैं पर पांचवां वह भी गिरता है, जो तिनके साथ-साथ आचरण करता है॥ ७॥

अब श्यामसुन्दर अर्जुनको भी इसी पिछले सिद्धान्तके अनुसार आचरण करनेका उपदेश करतेहुए कहते हैं—

मू०— नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रा पि च ते न प्रसिद्धेदकर्मणः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— त्वम् (हे अर्जुन !) *नियतम् (शास्त्रविहितम् । स्ववर्णाश्रमोचितम् । फलाभिसन्धिरहितं सन्ध्योपासनादिकम् । श्रौतं-स्मार्तं च) कर्म्म (चित्तशोधकम् कर्म) कुरु (सम्पादय !) हि (यस्मात्) अकर्म्मणः (अकरणात्) कर्म्म (विहित कर्माचरणम्) ज्यायः (अधिकतरम् । प्रशस्यतरम्) च (तथा) अकर्मणः (सन्ध्योपासनादिनित्यकर्मरहितस्य । युद्धादिकर्मरहितस्य वा) ते (तव) शरीरयात्रा (शरीरस्थितिः । देहव्यवहारः) अपि । न (नैव) प्रसिद्धेत् (प्रकर्षेण सिद्धो भवति) ॥ ८ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! (त्वम्) तू (नियतम्) फलकी आशा छोड शास्त्र विहित सन्ध्यादि नित्यकर्मोंको (कुरु) कियाकर! (हि) क्योंकि (अकर्मणः) कुछ नहीं करनेसे (कर्म) कर्म करना (ज्यायः) अधिक श्रेष्ठ है । (च) तथा (अकर्मणः)

*नियतम्—नित्यं यो यस्मिन् कर्म्मण्यधिकृतः फलायचाश्रुतम् तन्नियतम् शंकराचार्य्यः) अर्थात् शास्त्र विहित नित्यकर्मका तात्पर्य्य यह है, कि जो जिस कर्ममें अधिकारको प्राप्त है वह कर्मफल रहित होय तो नित्यकर्म कहाता है ।

नियतम्—नित्यं सन्ध्योपासनादि कर्म (श्रीधरः)

नहीं कर्म करनेसे (ते) तेरी (शरीरयात्रा) शरीरके व्यवहारोंका निर्वाह (अपि) भी (न) नहीं (प्रसिद्धत्) सिद्ध होसक्ता ॥८॥

भावार्थः— श्यामसुन्दरने पूर्वके दो श्लोकों द्वारा अर्जुनको यह उपदेश किया है, कि मनमें विषयवासनाके रहते जो प्राणी कर्मों को छोड सन्यासीका आचरण करने लगता है, उससे वह गृहस्थ उत्तम है जो विषयवासनाओंसे रहित होकर सब विहित-कर्मोंका साधन करता रहता है । इसी तात्पर्यको फिर दृढ करतेहुए भगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश करते हैं, कि [**नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः**] तू नियत कर्मोंका अभ्यास कियाकर ! क्योंकि कुछ नहीं करनेसे करना श्रेष्ठ है । अर्थात् जितने कर्म तेरे वर्ण और आश्रमके अनुसार श्रुति और स्मृतियोंने विहित करदिये हैं, जिनके करनेसे किसी विशेष फल की प्राप्तिका तो कुछ प्रयोजन नहीं है, केवल मनुष्यमात्रको मानुषी अधिकार होनेके कारण जिनका करना विहित है और जिनके नहीं करनेका प्रायश्चित्त मात्र लग सक्ता है, ऐसे कर्मोंको नियत कर्म कहते हैं । जैसे सन्ध्योपासनादि कर्मोंको नियत कर्म कहा है । प्रमाण— श्रु० " अथ य इमां सन्ध्यां नोपास्ते नाचष्टे न स जयति ये तूपासते श्रोत्रिया भवन्तीत्युपनीताश्छेदन भेदन भोजन मैथुन स्वपन स्वाध्यायानाचरन्ति ये सन्ध्याकाले ते श्वशूकरशृगालगर्दभसर्पयोनि वभिसम्पद्यमानास्तमोऽभिसम्पद्यन्ते तस्मात् सायं प्रातः सन्ध्यामुपासीत । (गोभिल गृह्यसूत्रे) अर्थ— जो प्राणी इस सन्ध्याकी उपासना नहीं करता और

हां ! जो प्राणी चुप बैठकर भगवत्स्वरूपमें अपना मन लगाता है तथा समाधिस्थ हो अपना समय आनन्दमें बिताता है उसकी न्यारी बात है । वह तो महानुभाव है ॥ नमस्कार करनेके योग्य है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः**] हे अर्जुन ! अकर्म रहनेसे तो तेरे शरीरकी यात्रा भी नहीं सिद्ध होसकती है ।

प्र०—शरीर यात्रा क्या है ?

उ०—यह जो शरीर है सो कर्मानुसार कहींसे आरम्भ हुआ है और कहीं जाकर समाप्त होजावेगा । इसीको शरीर-यात्रा कहते हैं । जैसे कोई पथिक किसी स्थानसे चलता है और मार्गमें चलनेका व्यापार करता हुआ जहां-जहां टिकनेकेस्थान मिलजाते हैं तहां-तहां रातिको ठहरता हुआ आगे-आगे बढता चलाजाता है । इसी प्रकार यह प्राणी (जीव) कर्मानुसार अपनी शरीर-यात्रामें नाना प्रकारकी योनिरूप पथिकाश्रममें टिकता हुआ अन्तमें मनुष्यरूप उत्तरणस्थानमें आटिकता है । तहां उचित है, कि इसकी स्थिति अर्थात् निर्वाहके लिये जो विहितकर्म सम्मुख आजावें उनको धर्म्म जान सम्पादन करता चले । क्योंकि इनके नहीं करनेसे शरीर स्थिर नहीं रह सकता । जैसे भोजनके लिये अन्नका एकत्र करना, शरीरको शीतसे बचानेकेलिये तथा शरीरके छिद्रोंको छुपानेके लिये वस्त्रोंको तयार करना वा कराना, आतप तथा वर्षा इत्यादिके दुःखसे बचनेके लिये गृहकी रचना करनी, भगवत्-प्राप्तिके निमित्त भजन, यजन इत्यादि करना आवश्यकीय है ।

नहीं कर्म करनेसे (तो) तेरी (शरीरयात्रा) शरीरके व्यवहारोंका निर्वाह (अपि) भी (न) नहीं (प्रसिद्धत्) सिद्ध होसकता ॥८॥

भावार्थः— श्यामसुन्दरने पूर्वके दो श्लोकों द्वारा अर्जुनको यह उपदेश किया है, कि मनमें विषयवासनाके रहते जो प्राणी कर्मोंको छोड सन्न्यासीका आचरण करने लगता है, उससे वह गृहस्थ उत्तम है जो विषयवासनाओंसे रहित होकर सब विहित-कर्मोंका साधन करता रहता है। इसी तात्पर्यको फिर दृढ करतेहुए भगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश करते हैं, कि [नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः] तू नियत कर्मोंका अभ्यास कियाकर! क्योंकि कुछ नहीं करनेसे करना श्रेष्ठ है। अर्थात् जितने कर्म तेरे वर्ण और आश्रमके अनुसार श्रुति और स्मृतियोंने विहित करदिये हैं, जिनके करनेसे किसी विशेष फल की प्राप्तिका तो कुछ प्रयोजन नहीं है, केवल मनुष्यमात्रको मानुषी अधिकार होनेके कारण जिनका करना विहित है और जिनके नहीं करनेका प्रायश्चित्त मात्र लग सकता है, ऐसे कर्मोंको नियत कर्म कहते हैं। जैसे सन्ध्योपासनादि कर्मोंको नियत कर्म कहा है। प्रमाण— श्रु० "अथ य इमां सन्ध्यां नोपास्ते नाचष्टे न स जयति ये नोपास्ते श्रोत्रिया भवन्तीत्युपनीतांश्छेदन भेदन भोजन मैथुन स्वपन स्वाध्यायानाचरन्ति ये सन्ध्याकाले ते श्वशूकरशृगालगर्दभसर्पयोनिष्वभिसम्पद्यमानास्तमोभिरसम्पद्यन्ते तस्मात् सायं प्रातः सन्ध्यामुपासीत। (गोभिल गृह्यसूत्रे) अर्थ— जो प्राणी इस सन्ध्याकी उपासना नहीं करता और

हां ! जो प्राणी चुप बैठकर भगवत्स्वरूपमें अपना मन लगाता है तथा समाधिस्थ हो अपना समय आनन्दमें बिताता है उसकी न्यारी बात है । वह तो महानुभाव है । नमस्कार करनेके योग्य है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः] हे अर्जुन ! अकर्म रहनेसे तो तेरे शरीरकी यात्रा भी नहीं सिद्ध होसकती है ।

प्र०—शरीर यात्रा क्या है ?

उ०—यह जो शरीर है सो कर्मानुसार कहींसे आरम्भ हुआ है और कहीं जाकर समाप्त होजावेगा । इसीको शरीर-यात्रा कहते हैं । जैसे कोई पथिक किसी स्थानसे चलता है और मार्गमें चलनेका व्यापार करता हुआ जहां--जहां टिकनेकेस्थान मिलजाते हैं तहां--तहां रात्रिको ठहरता हुआ आगे-आगे बढता चलाजाता है । इसी प्रकार यह प्राणी (जीव) कर्मानुसार अपनी शरीर-यात्रामें नाना प्रकारकी योनिरूप पथिकाश्रममें टिकता हुआ अन्तमें मनुष्यरूप उत्तमस्थानमें आटिकता है । तहां उचित है, कि इसकी स्थिति अर्थात् निर्वाहके लिये जो विहितकर्म सम्मुख आजावें उनको धर्म्म जान सम्पादन करता चले । क्योंकि इनके नहीं करनेसे शरीर स्थिर नहीं रह सकता । जैसे भोजनके लिये अन्नका एकत्र करना, शरीरको शीतसे बचानेकेलिये तथा शरीरके छिद्रोंको छुपानेके लिये वस्त्रोंको तयार करना वा कराना, आतप तथा वर्षा इत्यादिके दुःखसे बचनेके लिये गृहकी रचना करनी, भगवत्-प्राप्तिके निमित्त भजन, यजन इत्यादि करना आवश्यकीय है ।

बिना किये शरीर दुःख पावेगा। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! अपनी शरीरयात्राकी सिद्धिकेलिये भी तुझे कर्म करना योग्य है। क्षत्रियजातिका धर्म्म जो युद्ध उसे तू अवश्य कर! पश्चात् राजसूय इत्यादि कर्मोंका भी सम्पादन करते रहना। एवम्प्रकार नियतकर्म करते रहनेसे तेरे दोनों हाथ लड्डू हैं। इधर क्षत्रिय धर्मके अनुसार राजनीतिकी भी रक्षा होगी और उधर तुझे अपने अन्तःकरणकी शुद्धि भी लाभ होगी.

चारोंवर्ण और चारों आश्रमोंको उचित है, कि श्रुति और स्मृतियोंकी आज्ञानुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके धर्मको अपना जानवी-धर्म जानकर फलोंसे निःसंग हो सम्पादन कियाकरें।

परायेके वर्ण और आश्रमके धर्मके पीछे भूलकर भी पडनेकी इच्छा न करें। क्योंकि भगवानका वचन है, कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह" परायेका धर्म भयावह होता है अतएव अपने धर्मको करते मरजाना उत्तम है पर परायेके धर्ममें नहीं पडना ॥ ८ ॥

इतना सुन अर्जुनने यों शंका की— "भगवन् कर्म पाप हो वा पुण्य तथा विहितहो वा अविहित, कर्म तो बन्धनका ही कारण होता है। बेडी लोहेकी हो वा सोनेकी बांध ही डालती है। मैंने विद्वानोंसे सुना है, कि—"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते" अर्थात् यह जीव कर्मसे बांधा जाता है और ज्ञानसे मोक्षको प्राप्त होता है। इसलिये मैं जो मुमुक्षु हूं कर्मसे बहुत दूर भागता हूं तिस मुझको कर्म करनेकी आज्ञा क्यों देते हो?"।

धन, ये तीन बातें यहां एकत्र होजाती हैं। इनमें कौन मुख्य माना जावे ?

समाधान—इन तीनोंमें यज्ञार्थ कर्मोंका करना मुख्य है। कर्मोंका फल परित्याग करदेनेसे तीनों बचनोंका तात्पर्य्य एकही होताहै। क्योंकि ईश्वरमें अर्पण कर देनेसे मानवधर्मके फलोंका त्याग होजाता है। सो भगवान् आगे कहेंगे, कि—"यत्करोषि यदश्नासि०००" (देखो अ० ९ श्लो० २७) अर्थात् हवन, दान इत्यादि जो कुछ तू करे सबके फलों को मुझ ईश्वरमें अर्पण करता चलाजा तो वे तेरे कर्म भी यज्ञार्थही समझे जावेंगे। अब रहे वे कर्म जो शरीर-यात्राकी सिद्धि निमित्त हैं, तहां विचारने योग्य है, कि शरीर-यात्राकी सिद्धिका प्रयोजन क्या है ? यह प्रत्यक्ष है कि जिस हथियारसे किसी वस्तुको बनाते हैं वह टूट जावे वा निकम्मा होजावे तो वह वस्तु तयार नहीं होसकती— इसी प्रकार शरीरयात्राकी सिद्धिमें यदि किसी प्रकारका उपद्रव होपड़े, रोग ग्रस्त होजावे तो ईश्वराराधनमें बाधा अवश्य होगी। इसीलिये शरीर-यात्रा पर्य्यन्त अर्थात् जबतक शरीर है तबतक इसे आनन्दपूर्वक निर्वाह लेजाने ही से ईश्वराराधनमें पूर्ण सहायता मिलती है।

दूसरी बात यह है, कि यात्रा तो मनुष्य किसी स्थानपर पहुंचनेके लिये करता है। सो इस मनुष्यकी यात्रा परब्रह्म तक पहुंचने के लिये है। इसलिये शरीर-यात्राका निर्वाह उचित रीतिसे करना चाहिये। अब रहे वे कर्म जो ईश्वराराधन निमित्त हैं, तिनमें केवल इतनाही भय है, कि प्राणी ईश्वराराधन करते-करते कभी किसी मायाके जालमें

बिना किये शरीर दुःख पावेगा । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! अपनी शरीरयात्राकी सिद्धिकेलिये भी तुझे कर्म करना योग्य है । क्षत्रियजातिका धर्म्म जो युद्ध उसे तू अवश्य कर ! पश्चात् राजसूय इत्यादि कर्मोंका भी सम्पादन करते रहना । एवम्प्रकार नियतकर्म करते रहनेसे तेरे दोनों हाथ लड्डू हैं। इधर क्षत्रिय धर्मके अनुसार राजनीतिकी भी रक्षा होगी और उधर तुझे अपने अन्तःकरणकी शुद्धि भी लाभ होगी

चारोंवर्ण और चारों आश्रमोंको उचित है, कि श्रुति और स्मृतियोंकी आज्ञानुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके धर्मको अपना मानवी-धर्म जानकर फलोंसे निःसंग हो सम्पादन कियाकरें ।

परायेके वर्ण और आश्रमके धर्मके पीछे भूलकर भी पडनेकी इच्छा न करें । क्योंकि भगवानका वचन है, कि " स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह" परायेका धर्म भयावह होता है अतएव अपने धर्मको करते मरजाना उत्तम है पर परायेके धर्ममें नहीं पडना ॥ ८ ॥

इतना सुन अर्जुनने यों शंका की— " भगवन् कर्म पाप हो वा पुण्य तथा विहितहो वा अविहित, कर्म तो बन्धनका ही कारण होता है । बेडी लोहेकी हो वा सोनेकी बांध ही डालती है । मैंने विद्वानोंसे सुना है, कि—"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते" अर्थात् यह जीव कर्मसे बांधा जाता है और ज्ञानसे मोक्षको प्राप्त होता है । इसलिये मैं जो मुमुक्षु हूं कर्मसे बहुत दूर भागता हूं तिस मुझको कर्म करनेकी आज्ञा क्यों देते हो ?" ।

धन, ये तीन बातें यहां एकत्र होजाती हैं। इनमें कौन मुख्य माना-जाता ?

समाधान—इन तीनोंमें यज्ञार्थ कर्मोंका करना मुख्य है। कर्मोंका फल परित्याग करदेनेसे तीनों बन्धनोंका तात्पर्य एकही होताहै। क्योंकि ईश्वरमें अर्पण करदेनेसे मानवधर्मके फलोंका त्याग होजाता है। सो भगवान् आगे कहेंगे कि—"यत्करोषि यदश्नासि०००" (देखो अ० ८ श्लो० २७) अर्थात् हवन, दान इत्यादि जो कुछ तू करे सबके फलों को मुझ ईश्वरमें अर्पण करता चलाजा तो वे तेरे कर्म भी यज्ञार्थही समझे जावेंगे। अब रहे वे कर्म जो शरीर-यात्राकी सिद्धि निमित्त हैं, तहां विचारने योग्य है, कि शरीर-यात्राकी सिद्धिका प्रयोजन क्या है ? यह प्रत्यक्ष है कि जिस हथियारसे किसी वस्तुको बनाते हैं वह टूट जावे वा निकम्मा होजावे तो वह वस्तु तयार नहीं होसकती— इसी प्रकार शरीरयात्राकी सिद्धिमें यदि किसी प्रकारका उपद्रव होपड़े, रोग ग्रस्त होजावे तो ईश्वराराधनमें बाधा अवश्य होगी। इसीलिये शरीर-यात्रा पर्य्यन्त अर्थात् जबतक शरीर है तबतक इसे आनन्दपूर्वक निबाह लेजाने ही से ईश्वराराधनमें पूर्ण सहायता मिलती है।

दूसरी बात यह है, कि यात्रा तो मनुष्य किसी स्थानपर पहुंचनेके लिये करता है। सो इस मनुष्यकी यात्रा परब्रह्म तक पहुंचने के लिये है। इसलिये शरीर-यात्राका निर्वाह उचित रीतिसे करना चाहिये। अब रहे वे कर्म जो ईश्वराराधन निमित्त हैं; तिनमें केवल इतनाही भय है, कि प्राणी ईश्वराराधन करते-करते कभी किसी मायाके जालमें

पडकर ईश्वरसे कुछ संसृतकामनाकी अभिलाषा न कर बैठे, इस धोखेसे यदि बचताजावे तो उसका पासा लाल है।

अब प्रत्यक्ष रूपसे सिद्ध होता है, कि तीनों प्रकारके कर्मोंके अर्थ "यज्ञार्थ" ही होते हैं। इनसे इतर जो संसार-साधन निमित्त सकाम कर्म हैं वे बन्धनके कारण हैं। शंका मतकरो!

इसी तात्पर्य्यको स्वच्छरूपसे समझादेनेकेलिये भगवान कहते हैं, कि [**तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर!**] हे अर्जुन! तिस भगवतकी प्राप्तिके निमित्त मुक्तसंग होकर सब कर्मोंके फलकी आशा छोड श्रद्धासहित आनन्दपूर्वक जहां जैसी आवश्यकता देख कर्मोंका सम्पादन कियाकर!

+ यज्ञ शब्दका अर्थ ईश्वर न करके, यदि याग, मख, क्रतु, इष्टि, होम, हवन इत्यादि करें, तो भी कोई हानि नहीं है। यदि ये कर्म भी ईश्वरप्राप्तिके निमित्त ही कियेजाते हों। अन्यथा ये सब बन्धनके कारण हैं।

इसीकारण भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि मुक्तसंग होकर जितने कर्म कियेजाते हैं वे यज्ञार्थ अर्थात् ईश्वरप्राप्तिके निमित्त होते हैं।

+ इसी गीताके अगले अध्यायमें अर्थात् चौथे अध्यायमें भगवान् नानाप्रकारके यज्ञोंका वर्णन करेंगे। तिनमें जो प्राणी जिस यज्ञका अधिकारी अपनेको समझे मुक्तसंग होकर करे तो संसारबन्धनसे नहीं बांधा जासकता। यदि कोई यज्ञ ही यज्ञमें प्रवृत्त रहना चाहे तो उसे बचपनसे वृद्धावस्था पर्य्यन्त यज्ञार्थकर्मोंसे ही छुट्टी नहीं मिलेगी। पर इतना उसे अवश्य ध्यानमें रखना होगा, कि सब यज्ञोंका फल ईश्वर प्राप्ति ही है॥

बन्धनके कारण नहीं होते । इसलिये फलकी आशा त्याग वा फलको ईश्वरमें अर्पण करता हुआ प्राणी चाहे किसी भी कर्ममें प्रवृत्त रहे बन्धनमें नहीं आसकता । जैसे सूर्य्यकी किरणें जलमें डूबी हुई देख पडती हैं, पर जो सच पूछो तो जल उन किरणोंका स्पर्श भी नहीं करता । इसी प्रकार मुक्तसंग प्राणी सब कुछ करताहुआ भी किसीकर्म के बन्धनोंमें नहीं पडता। प्रमाण श्रुतिः—पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते । (कठो० अ० २ वल्ली० १ श्रु०२) अर्थ— जो कामनायें बहिर्गत हैं अर्थात् संसृत हैं उन कामनाओंमें बाल-बुद्धिवाले सामान्यपुरुष फंसके मृत्युके विस्तार फांसमें फंसकर बार-बार जन्म, मरण, जरा, रोगादिका दुःख सहते हैं, पर जो धीर अर्थात् विवेकी हैं वे ब्रह्मज्ञानरूप अमृतत्वको ध्रुव अर्थात् अटल-सुख जानकर इस अध्रुव अर्थात् नश्वर संसारकी कामनाओंको नहीं चाहते हैं ।

इसलिये ज्ञानीजन मुक्तसंग होकर कर्मोंका सम्पादन करते हैं ॥ ९ ॥

अब श्रीकृष्णभगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! यह वचन आज ही मैं तुमसे नहीं कहता हूं, वरु सृष्टिकी आदिमें ही प्रजापतिरूपसे मैंने यज्ञार्थ-कर्मोंका विधान करदिया और प्रजाओंको विहित-कर्मोंके सम्पादन करनेकी आज्ञा देदी है । सो सुन !—

मू०—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

पदच्छेदः— पुरा (सर्गादौ) प्रजापतिः (प्रजानां स्रष्टा) सह यज्ञाः (यज्ञाधिकृताः विहितकर्मकलापेन सह) प्रजाः (त्रीन् वर्णान्) सृष्ट्वा (उत्पाद्य) पुरा (पूर्वम् । कल्पादौ) उवाच (उक्तवान्) अनेन (यज्ञेन । स्वाश्रमोचितधर्मेण) प्रसविष्यध्वम् (प्रसूयध्वम्) एषः (यज्ञाख्यो धर्म्मः) वः (युष्माकम) इष्टकामधुक् (अभिष्ट-भोगप्रदः । अभिप्रेतान्फलविशेषान्दोग्धीति प्रापयतीति इष्टार्थपूरकः) अस्तु (भवतु) ॥ १० ॥

पदार्थः— (पुरा) सृष्टिरचनाकी आदि अर्थात् कल्पके आरंभमें (प्रजापतिः) सृष्टिके रचने वाले प्रजापतिने (सहयज्ञाः) नानाप्रकारके यज्ञोंके विधानोंके सहित अथवा जिसके साथ-साथ यज्ञ उत्पन्नहुआ ऐसी सहयज्ञा (प्रजाः) प्रजाओंको, अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णोंको रचकर (उवाच) यह आज्ञा देदी, कि (वः) तुमलोग (अनेन यज्ञेन) इस यज्ञसे अर्थात् अपने वर्णाश्रमरूप विहितकर्मोंके सम्पादन करनेसे (प्रसविष्यध्वम्) अपनी सर्वप्रकारकी वृद्धिकरो ! (एषः) यही यज्ञ (वः) तुमलोगोंको (इष्टकामधुक्) तुम्हारे मनोवांछित-भोगका दुहनेवाला अर्थात् देने वाला (अस्तु) होवे ! ॥ १० ॥

भावार्थः— इस सृष्टिके आरम्भ अर्थात् इस वर्त्तमान कल्प की आदिमें यज्ञोंका विधान वेदोंके द्वारा कैसे किया ? उसे वर्णन करते

हुए श्री व्रजचन्द आनन्दकन्द . अर्जुनके प्रति यों कहते हैं, कि हे पार्थ ! तू सर्व शास्त्र ज्ञाता विद्वान है । तू तो जानता ही है, कि [**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः**] सृष्टिकी आदि में ही प्रजापतिने यज्ञोंके साथ प्रजाओंको रचकर कहा अर्थात् इस सृष्टि के रचनेवाले प्रजापति, ब्रह्माने जब मेरी आज्ञानुसार अपने तपोबलसे सृष्टिकी रचना की तब प्रजाके साथ साथ यज्ञ अर्थात् नानाप्रकारके कर्मोंकी रचना भी करदी और उनमें यज्ञ करनेकी शक्ति भी डालदी ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्रजापतिने रचनाके पश्चात् जब सारी सृष्टि जडवत् पडी हुई देखी, तब विचारने लगे, कि जबतक यज्ञ अर्थात् कर्म करनेकेलिये " क्रियाशक्ति " और " ज्ञानशक्ति" को एकसाथ मिलाकर इन जीवोंको न दूंगा तब-तक सृष्टिकी वृद्धि न होगी । यह सृष्टि ज्योंकी त्यों जडवत् पडी रहेगी । अन्ततोगत्वा यही होगा, कि जितनी रचना होचुकी है, वह सृष्टि-क्रमानुसार कुछ दिन स्थिर रह कहीं न कहीं जाकर समाप्त हो जावेगी । इसलिये इस सृष्टिके जड चैतन्य सब भूतोंमें ऐसी शक्ति डालनी चाहिये जिससे सृष्टिकी वृद्धि होवे । ऐसे विचार प्रजापतिने सबोंमें " क्रियाशक्ति " और " ज्ञानशक्ति " डाल कर कर्म करने की पूर्ण सामर्थ्य देदी । अर्थात् हाथ, पांव, आंख, नाक, कान इत्या-दिमें क्रियाशक्ति और मन, बुद्धि इत्यादि अन्तःकरणमें ज्ञान-शक्ति देकर यज्ञोंके करनेकी सामर्थ्य प्रदान करदी । एवम् प्रकार सर्व कर्मोंके सम्पादन करानेके तात्पर्य्यसे नाना प्रकारके यज्ञोंका

विधान भी वेदोंमें करदिया। चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके भिन्न–भिन्न कर्मोंको विस्तार पूर्वक कथन करदिया। इसी कारण यह प्रजा "सहयज्ञा" कहीजाती है। इसलिये यदि इनमें कोई वर्ण वा आश्रम अपने कर्मानुसार न चले तो नष्टभ्रष्ट होकर नाश होजाता है। इसी कारण इस सृष्टि की रचनाके साथ कर्मोंकी रचना कर प्रजापतिने प्रजाको " पुरोवाच " कल्पकी आदिमें कह दिया, कि [अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्] हे मेरी प्यारी प्रजाओ! तुम लोग इसी यज्ञसे अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रमके विहित कर्मोंको प्रीतिपूर्वक शुद्ध नियमके साथ अनुष्ठान करनेसे अपनी सर्वप्रकारकी वृद्धि करते रहो! यही अनुष्ठान तुम लोगोंको अपने अपने अभिष्ट कामनाओंको देनेवाला होगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि "गर्भाधान" संस्कारसे "अन्त्येष्टि" संस्कार पर्य्यन्त जो १६ संस्कार हैं, सन्ध्यादि जो पंचमहायज्ञ हैं तथा जिन यज्ञोंका वर्णन भगवान्ने चौथे अध्यायमें किया है तिन कर्मोंको नियम-पूर्वक सम्पादन करते रेहनेसे अपनी शारीरिक, आत्मिक, लौकिक, और पारेलौकिक धर्मोंकी पूर्त्ति द्वारा सर्व प्रकारकी वृद्धि होती रहती है। एवम् प्रकार वृद्धि होते-होते प्राणी आत्मिक उन्नति करता हुआ और इन यज्ञोंके फलको ईश्वरमें अर्पण करता हुआ निःसंग हो भगवत्स्वरूपको प्राप्त होता है।

शंका— पूर्व श्लोकमें " यज्ञार्थे " शब्दका अर्थ "ईश्वरार्थ" करआये हैं। " यज्ञो वै विष्णुः " श्रुतिका प्रमाण देकर यह कहआये

हैं, कि विष्णुके अर्थ कर्म करना यज्ञार्थ कहलाता है, तो फिर जो यहां संसार-वृद्धिके अर्थ बहुतेरे कर्मोंको कहते हैं वे क्या बन्धनके कारण नहीं होंगे ?

समाधान—यहां शंकाका स्थान नहीं है। इसका तात्पर्य तो भगवानने पूर्वश्लोकमें ही "**मुक्तसंगः**" शब्द कहकर समझादिया है। अर्थात् ये जितने कर्म हैं इनके फलकी आशा छोडकर करनेसे परमात्माकी ही प्राप्ति होतीहै। इसलिये "**यज्ञार्थ**" शब्दका अर्थ विष्णुके अर्थकरनेमें कुछ भी शंका नहीं। दूसरी बात यह है, कि भगवानकी आज्ञाका प्रतिपाल करना भी भगवानको प्रसन्न करनेका कारण है। फिर जब वह प्रसन्न होगा तो अवश्य उसकी प्राप्ति भी होगी। सभी जानते हैं, कि उसकी इच्छा सृष्टिकी बृद्धिसे है क्योंकि "**एकोऽहं बहुस्याम**" एक मैं हूं बहुत होजाऊं। ऐसा संकल्प उसने पहले ही किया, तो अब उसकी आज्ञाकी रक्षा करनी जीवमात्रका धर्म है। जैसे चक्रवर्ती राजाकी आज्ञाका प्रतिपालन करनेसे वह राजा अत्यन्त प्रसन्न होकर पुरस्कार प्रदान करता है, ऐसे वह सब देवोंका देव अपनी आज्ञाका प्रतिपालन होना देखकर पुरस्कारमें मोक्ष तथा अपने चरणों की भक्ति प्रदान करता है। इसीलिये विष्णुकी आज्ञा प्रतिपालनार्थ कर्म भी मानो विष्णु ही को प्राप्त करदेता है। अतएव इन कर्मों को भी यज्ञार्थ ही कहनेमें कुछ दोष नहीं है। इसी कारण विवाह गर्भाधान इत्यादि भी यज्ञार्थ ही कहे जासकते हैं। क्योंकि ×स्त्री-पुरुष

× **टिप्पणी**— आजकलके नवीन-शिक्षा-विभूषित नवयुवक यों शंका करबैठते हैं, कि

के संयोगसे सन्तान द्वारा सृष्टिकी वृद्धि होती है। जो साक्षात् भगवानकी ही आज्ञा है।

अब श्यामसुन्दर श्री कृष्णचन्द्र अर्जुनसे कहते हैं, कि एवम् प्रकार प्रजापतिने सृष्टिकी आदिहीमें प्रजाके साथ यज्ञोंकी रचनाकर ऐसी आज्ञा देदी, कि " **अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्** " इस गर्भमें अर्थात् गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टि कर्म पर्य्यन्त नाना प्रकारके नामकरण, मुण्डन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत और विवाहादि यज्ञोंसे अपने ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ इत्यादि चारों आश्रमोंका धर्म-पालन करतेहुए "प्रस-

---

जब परमात्मा का अभिप्राय सृष्टिकी वृद्धिसे ही है तो क्या परस्त्रीमें तथा वेश्यामें वीर्य्य वपन करनेसे सृष्टिकी वृद्धि नहीं होगी ?

इस शंकाका उत्तर यह है, कि अनुचित रीति से भगवान्ने सृष्टिकी वृद्धिकी आज्ञा नहीं दी। वरु निषेध करदिया। यदि यह कहो, कि ऐसा करनेसे सृष्टिकी वृद्धि तो अवश्य होती फिर निषेध क्यों किया ? तो ऐसी शंका बुद्धिमान कदापि नहीं करेंगे। क्योंकि सृष्टि की वृद्धि अथवा सन्तान की उत्पत्ति तो मा, बहन, बेटीके संग भी व्यभिचार करनेसे हो सकती है। पर ऐसा करना क्या बुद्धिमान निषेध नहीं करेंगे ?

यदि यह कहो, कि प्रकृति ने पशु पक्षियों में तो इसका विचार नहीं रक्खा है तो ऐसा कहना परममूढता है। पशु पक्षियोंमें तो अपने जोड़ोंका ऐसा उत्तम विचार है, कि मनुष्योंमें भी नहीं है। जो पशु पक्षीके जोड़े अपनी मांद और घोंसलेमें अपने बच्चों सहित एक संग रहते हैं वे अपनी ही जातिके दूसरे पशु पक्षीको अपनी मांद वा घोंसलेमें नहीं घुसने देते।

अब यदि इतना समझाने परभी न माने तो सिर खुले साइकिल पर चढ़े शहरकी गलियोंमें फिरतेहुओंका उत्तर देनेमें ब्रह्मदेव भी लज्जित हैं। बस ! अधिक क्या कहा जावे।

विष्यध्वम्" सृष्टिकी वृद्धि और उन्नतिमें तत्पर रहो! इस प्रकार यज्ञों के द्वारा सृष्टिकी उन्नति करते रहो! यह यज्ञ तुम लोगोंके लिये "इष्टकामधुक्" अभिष्ट फलको प्रदान करनेवाला होवे! जैसे कामधेनु गैया से प्राणी अपने मनोवांछित फलोंको प्राप्त करता है ऐसे यह यज्ञ तुम लोगोंको अभिष्ट फलका देनेवाला होवे!

शंका= इसी अध्यायमें भगवान पहलेसे कहते चलेआते हैं, कि "मा कर्मफलहेतुर्भू" कर्मफलका हेतु मत हो अर्थात् फलकी इच्छा मतकर। अब कहते हो, कि प्रजापतिने यह वर देदिया, कि "एषवोऽस्त्विष्टकामधुक्" यह यज्ञ तुमको इष्ट-भोगका देनेवाला होवे। ऐसे कहनेहीसे ये सब यज्ञ सकाम समझे जाते हैं अर्थात् इनसे नाना प्रकार के फलोंकी प्राप्ति होती है। ये दोनों बातें एक दूसरेके विरुद्ध हैं। ऐसा क्यों?

समाधान—यहां जो प्रजापतिने "×इष्टकामधुक्" कहा तहां इष्ट शब्द का अर्थ मेदनी कोषमें "पूजितम्" और "प्रियम" किया है। अर्थात् जो पूजने योग्य हो और अपना परमप्रिय हो उसे इष्ट कहते हैं। फिर उसी कोषने "इष्ट" शब्दका अर्थ यज्ञ भी किया है और इससे पहले यज्ञका अर्थ विष्णु कर आये हैं। इसलिये इष्टका अर्थ भी विष्णु ही हुआ। "एषवोऽस्त्विष्टकामधुक्" का आन्तरिक अर्थ यही है, कि हे प्रजाओ! इस यज्ञसे तुम लोगोंको अपने इष्टदेवकी प्राप्ति होती रहे।

+ इष्टम्—आकांक्षितम्, वाञ्छितम्, पूजितम्, प्रियम्। यज्ञः। इति मेदनी।

दूसरा अर्थ यह भी है, कि जब इष्ट प्रियको कहते हैं तो सबसे अधिक प्रिय यह आत्मा है, इसीके लिये संसार में सब कुछ प्रिय होता है श्रु०—**न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति** (बृहदा० ब्राह्म० ४ श्रु० ५) अर्थ—याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि हे मैत्रेयी ! माता, पिता, स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि जो कुछ अपनेको प्रिय लगते हैं सो यथार्थमें उनके कारण वे प्रिय नहीं हैं वरु सब अपने आत्माकेलिये प्रिय हैं। इस विषयको अध्या० २ श्लो० ६६ पृष्ठ ५१३ में दिखलाआये हैं ।

इसलिये अपना इष्ट जो परमप्रिय आत्मा तिसकी प्राप्तिकी कामना को "इष्टकाम" कहते हैं— इसी कारण "इष्टकामधुक्" का अर्थ यह भी हुआ, कि हे प्रजाओ ! इन यज्ञोंसे तुमको आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती रहे ।

तीसरा अर्थ यह भी होसकता है, कि संसारमें जितने यज्ञ हैं— अर्थात् कर्म हैं सबोंके दो फल होते हैं—मुख्य और आनुषंगिक। तहां निष्कामकर्म करनेवाला मुख्य फलकी कामना नहीं भी करे, भगवत्में अर्पण करदे, पर आनुषंगिकफल तो उसे आपसे आप स्वाभाविक प्राप्त होहीगा । पू० श्रु० **तद्यथाम्रेफलार्थं निर्म्मितेच्छायागन्धे इत्यनुत्पद्येते एवं धर्मं चर्य्यमाणमर्था अनुत्पद्यन्ते नोचेदनुत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति**" जैसे आमका-वृक्ष किसी मनुष्यने केवल फलके निमित्त लगाया पर छाया और गंध जो आनुषंगिक-फल हैं—वे तो बिनामांगे उसे आपसे-आप मिलजाते हैं- इसी प्रकार धर्म्मके आचरण करनेवालेको ईश्वर की प्राप्ति जो मुख्य फल है, होती ही है । यदि न हो तो उसके

आनुषंगिकफल जो नाना प्रकारके संस्कृतभोग हैं विना मांगे आपसे आप उसके समीप आजाते हैं । इन्हीं आनुषंगिक-फलोंके विषे प्रजापतिने " इष्टकामधुक् " पदका प्रयोग किया है । यहां शंका मत करो !

इस श्लोकमें जो "यज्ञ" शब्द है उससे अश्वमेध, अग्निष्टोमादि यज्ञोंका भी प्रयोजन है ॥१०॥

इतना कहकर फिर प्रजापतिने प्रजाओंके प्रति और कौनसी बातें कहीं ? सो हे पार्थ सुन !

मू०— देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥

पदच्छेदः— अनेन (देवतापूजनात्मकेन यज्ञेन) देवान् (इन्द्रादीन्) भावयत ! (हविर्भिः तर्पयत !) ते देवाः (इन्द्रादयः) वः (युष्मान) भावयन्तु (वृष्टिद्वारा अन्नादिभिर्वर्द्धयन्तु । आप्याययन्तु) एवम् (अनेन रूपेण) परस्परम् (अन्योन्यम)भावयन्तः (संवर्द्धयन्तः) परम (प्रशस्यतरम) श्रेयः [अभीष्टमर्थम परस्परंभेदविगलनलक्षणं ब्रह्म) अवाप्स्यथ (प्राप्स्यथ) ॥ ११ ॥

पदार्थः— प्रजापतिने फिर कहा, कि हे प्रजाओ ! तुमलोग (**अनेन**) इसप्रकारके यज्ञसे अर्थात् यज्ञके विषय इत्यादिसे (**देवान्**) वायु, अग्नि, सूर्य्य, इन्द्रादि देवताओंको (**भावयत !**) तृप्तकरो ! और (**ते देवाः**) वे देवतागण भी (**वः**) तुमलोगोंको (**भावयन्तु**) वृष्ट्यादि द्वारा अन्नादि प्रदानकर प्रसन्न करते रहें। इसप्रकार (**परस्परम्**) आपसमें एक दूसरेको (**भावयन्तः**) प्रसन्न करतेहुए तुमलोग

(परंश्रेयः) परमकल्याण अर्थात् अपने परमप्रिय अभीष्टफल मोक्ष तथा भगवत्स्वरूपको (अवाप्स्यथ) प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

भावार्थः— अब कृपासागर नटनागर श्रीवृन्दाबन-विहारी जगत-हितकारी अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे पार्थ ! प्रजापतिने सृष्टि करते समय अनेक योनियों और पदार्थोंकी रचना नियमपूर्वक करदी । क्योंकि जो रचना नियमपूर्वक नहीं होती वह क्षणमात्र भी नहीं ठहरसकती । जैसे कोई प्राणी बालूकी भीतसे अपना घर तयार करे तो वृष्टिकालमें एक ही वर्षाके पडनेसे वह घर गिरजावेगा । इसीप्रकार (ओदन) भात बनाते समय हांडीमें विना जल चावल छोडदेवे तो सब चावल जल-भुन कर भस्म होजावेंगे । तात्पर्य्य यह, कि अविहित और अनियमित रचनायें जो विना विचार कीजाती हैं स्थिर नहीं रहसकतीं । इसीकारण प्रजापतिने सृष्टिकी रचना करते समय अपने तप-रूप बलसे बहुत विचारा, कि इस सृष्टिके स्थिर रहनेके निमित्त किन-किन नियमोंकी आवश्यकता है ? बहुत काल विचारनेके पश्चात् जैसे कोई नरेश अपने राज्यके चलानेके लिये मंत्री, अमात्य, सेनापति, सेना, कोषाध्यक्ष इत्यादि नाना प्रकारके अधिकारियोंको नियत कर उनमें अपनी शक्ति प्रदानकर प्रजाकी रक्षा करता है । इसीप्रकार प्रजापतिने भी सूर्य्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, वरुण, कुबेर, इन्द्रादि नाना-प्रकारके देवोंको उत्पन्नकर उनमें अपनी शक्ति दे सृष्टिकी रक्षा करनेकी आज्ञा देदी । सूर्य्यको यह आज्ञा देदी, कि तुम अपने आकर्षणसे चन्द्रमा, पृथ्वी, तारागण इत्यादिको खैंचेहुए स्थिर रखो । अपने प्रकाशसे संसृत-व्यवहारके साधनमें प्रजाओंकी सहायता करते रहो ! तथा जितने

पदार्थ हैं उनसे वाष्प उत्पन्न करते रहो ! इसी प्रकार वायुको यह आज्ञादी, कि तुम उन वाष्पोंको पृथ्वीसे उडाकर ऊपर आकाशमें एकत्र कियाकरो। चन्द्रमाको यह आज्ञा देदी, कि तुम अपने अमृतकोषसे दोचार बूंद इस वायुद्वारा एकत्रहुए वाष्पोंमें डालदिया करो ! जिससे वृष्टि उत्पन्न होकर पृथ्वीपर पडे। फिर उस वृष्टिसे उत्पन्न हुए अन्न और औषधियों में अमृतरस डालकर पुष्ट कियाकरो! इन तुम्हारे पुष्ट कियेहुए अन्नोंको सूर्य्य अपने तापसे पकाकर हमारी प्रजाके भोजन योग्य तयार करदेवेगा। एवम्प्रकार प्रजापतिकी आज्ञा पाकर सूर्य्य, चन्द्र इत्यादि सब देव अपनी-अपनी शक्ति द्वारा सृष्टिकी रक्षा करने लगगये। वृष्टिद्वारा अन्न प्रदानकर यज्ञोंमें सहायता करनेलगे । प्रजापति एवम्प्रकार सम्पूर्ण प्रबन्ध उचितरीतिसे नियमित कर प्रजाओंके प्रति बोले, कि [**देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः**] हे मनुष्यो ! इन देवताओंकी वृष्ट्यादि करनेसे जो अन्न तुमलोगोंको प्राप्त हो उसे यज्ञद्वारा हवन कियाकरो ! जिससे इन देवताओंकी तृप्ति होतीरहे। क्योंकि जब तुम इस प्रकार हवन कियाकरोगे, तो उससे सुन्दर बलवान् स्नेहयुक्त धूम उत्पन्न होगा, जिस धूमको वायु-देव प्रसन्नतापूर्वक ऊपर लेजावेगा और सूर्य्यदेवको भी वाष्पके बनानेमें सहायता मिलेगी।

इतना तो सब जानते हैं, कि जिस किसीको अपने परिश्रममें किसीसे सहायता मिलती है वह उस सहायकसे तृप्त होता है। इसी कारण इन यज्ञोंके द्वारा वायु, सूर्य्य आदि देवगण अपने परिश्रममें पूर्ण सहायता पानेसे तृप्त होकर आनन्दपूर्वक वृष्टि प्रदान करते हैं, जिससे पृथ्वीपर नाना प्रकारके तृण, औषधि और अन्नोंकी वृद्धि होतीहै।

इसी अभिप्रायसे प्रजापति आज्ञा देरहे हैं, कि तुम लोग देवताओंको हवनादिसे तृप्त किया करो और वे देवता तुमलोगोंको वृष्टिद्वारा तृप्त कियाकरें।

वृष्टि द्वारा पृथ्वीकी प्रजा कैसे तृप्त होती है? सो सुनो! वृष्टि द्वारा जो पृथ्वीपर तृणोंकी वृद्धि होती है उसे गैया भक्षण कर दूध, घृत, इत्यादि अमृत समान पदार्थोंको देती है जिनके द्वारा यज्ञोंका सम्पादन होता है और जिनके भोजनसे शरीर बलवान होता है। औषधियोंसे नाना प्रकारके रोगोंका नाश होता है। अन्नोंको भोजनकर प्राणी हृष्ट पुष्ट और बलवान होते हैं। शरीर बलवान होनेसे आसन प्राणायामादि क्रियाओंके परिश्रममें सहायता मिलती है, जिनके सिद्ध होने से प्राणी समाधि लाभकर परब्रह्ममें जा मिलता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि ऐसा नियम बांध मनुष्य और देवताओंको एक दूसरेकी सहायताके लिये आज्ञा देकर यों वर देदिया कि [**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**] एवम्प्रकार तुम लोग एक दूसरेका परस्पर भाव करते हुए परमकल्याणको प्राप्त होते रहोगे। अर्थात् इस संसारमें तो धन, सम्पत्ति, पुत्र, पौत्र इत्यादि नाना प्रकारके भोगोंसे तृप्त रहोगे और अन्तमें मोक्ष पदवीको लाभ करते हुए भगवत्स्वरूपको प्राप्तकर परमानन्द लाभ करोगे। अर्थात् बुभुक्षुत्व और मुमुक्षुत्व दोनों प्रकारके ऐश्वर्य्य तुमको प्राप्त होंगे। बृहदारण्यकोपनिषत्के प्रथम अध्याय ब्राह्मण ५ श्रुति २ में कहा है, कि—"श्रु०—**यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युम जयति**" अर्थ—जिस दिन प्राणी हवन करता है उसी दिन मृत्युको जय करता है अर्थात् फिर मरनेके लिए जन्म नहीं लेता। अमरपदकी प्राप्ति

करनेका अधिकारी होजाता है।

अब इस श्लोकका अर्थ दूसरे प्रकार किया जाता है—वे ही सूर्य्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण इत्यादि देवता इस अपने शरीरमें भी वर्त्तमान हैं। यथा श्रु०— ॐ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशं- श्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानोभूत्वा नाभिं प्रावि- शदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् (ऐतरेयोप० खं० २ श्रु० ४)

अर्थ—" अग्निने वचन होकर मुखमें प्रवेश किया। वायुने प्राण होकर नासिकामें प्रवेश किया। आदित्य (सूर्य्य) ने चक्षु होकर नेत्र-गोलकोंमें प्रवेश किया। दशों दिशाओंने श्रोत्र होकर कानों में प्रवेश की। चन्द्रमाने मन होकर हृदयमें प्रवेश किया। मृत्युने अपान होकर नाभिमें प्रवेश किया। जलोंने रेत होकर शिश्नेन्द्रियमें प्रवेश किया।" इसलिये प्राणी जो कुछ भोजन करता है उस अन्न से इन देवताओंकी तृप्ति होती है। भोजन करना भी आध्यात्मिक यज्ञ ही समझा जाता है। इसीलिये भोजन करनेवालोंको चाहिये, कि पहिले पांच ग्रास पांच मंत्रों द्वारा प्राणादि पांचों वायुमें हवन करें। वे पांचों मंत्र ये हैं-ॐ प्राणाय स्वाहा। ॐ व्यानाय स्वाहा। ॐ अपानाय स्वाहा। ॐ उदानाय स्वाहा। ॐ समानाय स्वाहा। नित्य ऐसे भोजन करनेसे सब इन्द्रियां पुष्ट और बलवान होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादिके अभ्यासमें समर्थ होती हैं। एवम्प्रकार अभ्यास करते करते प्राणी ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान तथा भगवत्स्वरूपको प्राप्त करता

है। इसलिये अन्नोंको तयारकर भोजन करना तथा ब्राह्मण, साधु, अतिथि, दरिद्र, अपाहज, रुग्ण इत्यादिको भोजन कराना और वलि-वैश्वदेव द्वारा अपने बनाये हुए अन्नसे पशुपक्षियोंको तृप्त करना भी यज्ञ ही है। क्योंकि इससे सम्पूर्ण विराट्की तृप्ति होती है। बृहदारण्यक अध्याय १ ब्राह्मण ५ श्रुति २ में भी कथन किया है, कि "ॐ देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च" अर्थात् दो प्रकारके अन्नोंको पूजापतिने देवताओंमें विभाग करदिया। एक हुत× और दूसरा प्रहुत। हुत जो अग्निमें हवन द्वारा देवताओंको तृप्त करता है और "प्रहुत" जो वलिहरण द्वारा पृथ्वीके जीवोंको प्रसन्न करता है। इनमें एक आधिदैविक कहा जाता है और दूसरा आध्यात्मिक कहा जाता है। इन दोनों प्रकारके यज्ञोंसे देवता और मनुष्योंमें परस्पर भाव बने रहनेसे सबके सब परम कल्याणको प्राप्त होते हैं।

शंका—तुमने जो यह वार्त्ता कही है, कि मनुष्योंके हवन करनेसे वायु और सूर्य्यको सहायता मिलती है जिससे वे वृष्टि प्रदान करते हैं। तहां शंका यह है, कि यदि मनुष्य हवन न करें तो क्या इन देवों में वृष्टि प्रदानकी शक्ति न रहेगी ?

समाधान—इन देवताओंमें वृष्टिकी शक्ति तो है ही क्योंकि यह इनका स्वाभाविक धर्म्म है। पर तुम्हारे हवन इत्यादि न करनेसे तुम्हारे ही भावमें न्यूनता (कमी) प्रवेश करेगी। फिरतो बिना भाव के

× द्वे अन्ने पिता देवानभाजयदिति मन्त्रोक्तमन्नद्वयं हुतंचाग्नौ हवनं प्रहुतं च हुत्वा वलिहरणमेतदन्नद्वयम् (देखो बृहदारण्यकोपनिषद् मिताक्षरा श्रीमन्नित्यानन्द मुनि विरचिता)

तुमसे प्रसन्न न होंगे, जब प्रसन्न न हुए तो उनकी इच्छा, तुम्हारे लिये वृष्टि प्रदान करें वा न करें अथवा अति वृष्टि करदें। यदि एक दम वृष्टि नहीं हुई तो भी तुम गये। क्योंकि सब तुम्हारी करी धरी कृषि सूख जावेगी, तुम्हें एक मुष्टी अन्न भी हाथ नहीं आवेगा। नहीं जो, कुपित होकर कहीं अति वृष्टि करदी तो भी तुम गये। क्योंकि तुम्हारी की धरी सब कृषि एकदम बहजावेगी। इसीकारण प्रजापतिने इस श्लोकमें भाव शब्दका प्रयोग किया है। शंका मत करो!

भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ हैं, पर इस स्थानमें प्रसन्न करनेका ही तात्पर्य्य है। जब कोई शक्तिमान किसीसे प्रसन्न होता है तो उसकी सहायताके लिये अपनी शक्तिका यथार्थ अंश प्रयोगमें लाता है। अथवा यों कहना चाहिये, कि जहां परस्पर एक दूसरेकी प्रसन्नताका प्रयोजन है तहां उतनी ही शक्तिकी आवश्यकता है, जिससे एक दूसरेकी रक्षा हो। अधिक वा न्यून शक्तिके प्रयोगसे रक्षा नहीं होसकती। जैसे दीपक वायुकी सहायतासे बलता है सो वायु, यदि अधिक होजावे तौ भी दीपक बुतजावेगा और यदि न्यून होजावे तौ भी दीपक बुतजावेगा। इससे सिद्ध होता है, कि शक्तिमानको सदा प्रसन्न रखना चाहिये जिससे वह किसीकी रक्षा निमित्त यथार्थ शक्तिसे अधिक वा न्यूनका प्रयोग न करे। फिर बुद्धिमान समझ सक्ते हैं, कि देवताओंके प्रसन्न न होनेसे वे यथार्थ शक्तिका प्रयोग न करके अधिक वा न्यूनका प्रयोग करदेवें, अर्थात् अतिवृष्टि वा अनावृष्टि कर देवें तो प्रजाओंकी बहुत बडी हानि होगी। इसलिये उचित है, कि मनुष्य देवताओंके साथ भाव बनाये रखें। यही प्रजापति की आज्ञा है ॥११॥

उक्त शंकाके निवारणार्थ प्रजापति फिर कहते हैं—

मू०—इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
॥ १२ ॥

पदच्छेदः— हि (यस्मात्) यज्ञभाविताः (यज्ञैस्तोषिताः) देवाः (इन्द्रादयः) वः (युष्मभ्यम्) इष्टान् (अभिलषितान्) भोगान् (स्त्रीपुत्रपश्वन्नहिरण्यादीन्। सुखमूलमपवर्गम् वा) दास्यन्ते (वितरिष्यन्ति) तैः (देवैः) दत्तान् (भोगान्) एभ्यः (देवेभ्यः) अप्रदाय (अदत्त्वा। अनृणयम् कृत्वा। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकं यागं नित्यनैमित्तिकरूपं वैश्वदेवाग्निहोत्रजातेष्ट्यादिरूपमकृत्वा) यः (प्राणी) भुङ्क्ते (स्वदेहेन्द्रियाण्येव तर्पयति) सः (देवादिस्वापहारी) स्तेनः (तस्करः) एव (निश्चयेन) ज्ञेयः (ज्ञातव्यः)॥ १२॥

पदार्थः— (हि) क्योंकि (यज्ञभाविताः) तुम्हारे पंच महायज्ञ दर्श, पौर्णमास तथा अन्य नानाप्रकारके यज्ञोंसे सन्तुष्ट होकर (देवाः) वायु, सूर्य्य, चन्द्रादि देव (वः) तुमलोगोंकेलिये (इष्टान् भोगान्) गो, महिषी, अश्व, हस्ती, हिरण्य इत्यादि तुम्हारे भोगके पदार्थ तथा अपवर्ग (दास्यन्ते) विना मांगे ही देंगे (तैर्दत्तान्) तिनसे दियेहुये इन पदार्थोंको (एभ्यः) इन देवोंके निमित्त (अप्रदाय) नहीं देकर अर्थात् उनसे उऋण न होकर (यः) जो प्राणी (भुंक्ते) अपने स्वार्थवश आपही भोगता है (सः) सो

देवादिके भागको हरण करनेवाला (एव) निश्चय कर (स्तेनः) चोर (ज्ञेयः) समझा जाता है ॥ १२ ॥

भावार्थः— अब श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि पहले जो प्रजापतिने यह कहा, कि "हे देवताओ और मनुष्यो ! तुम दोनों एक दूसरेका भाव करतेहुए परम कल्याणको प्राप्त होगे" इसी तात्पर्य्यको दृढ करनेकेलिये अब वही प्रजापति कहते हैं, कि [इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः] हे मनुष्यो ! जब तुम एवम्प्रकार अपने-अपने भिन्न यज्ञोंसे देवाताओंका सम्मान करोगे तब वे वायु, सूर्य्य, चन्द्र, इन्द्रादि देव तुम्हारे इन यज्ञोंसे सन्तुष्ट होकर तुमको तुम्हारे कर्मके बदले पुत्र, पौत्र, धन, सम्पत्ति, अश्व, महिषी, हस्ति, हिरण्य, तथा और भी नाना प्रकारके सुख प्रदान करेंगे। तथा अपवर्गके भी अधिकारी बनादेवेंगे ।

इसीके प्रतिकूल यदि तुम उनको एवम्प्रकार यज्ञादिसे भावित न करोगे ! सन्ध्या, हवन, तर्पण, बलिहरण इत्यादि कर्मोंको छोड धर्म्मरहित होजाओगे तो तुम क्या कहलाओगे ? सो सुनो– [तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः] जो उन्हीके दियेहुए अन्नादि पदार्थोंको तथा नाना प्रकारके विषयोंको पा, उनके स्वादमें लिपट इन्द्रियोंके वशीभूत हो, हवनादि छोड, देव, द्विज, ब्राह्मण, साधु, अतिथि, और गुरुओंका भाग नहीं देता है, आप खाजाता है, वह निश्चय कर चोर समझा जाता है । क्योंकि गुरु, अतिथि तथा देवोंका भाग चुराकर अपनी स्त्री, पुत्र इत्यादिके ही शृंगारादिमें तथा मद्य मांसादि

के ग्रहणमें, वेश्यादिके नृत्यमें, लगा देता है। यहां चोर कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि जैसे चोरोंको राजाके सिपाही मुशकें बांधकर न्याय-कर्त्ता अधिकारी (हाकिम) के पास लेजाते हैं और उसके कियेका दण्ड दिलवाकर उसे कारागारमें बांधते हैं। इसी प्रकार हवन, तर्पण, अतिथि-सत्कार इत्यादि नहीं करनेवाले प्राणीको यमदूत बांधकर यम-राजके पास लेजा, नरकके कारागारमें डाल देते हैं। स्वधर्मरूप दीपकके बुत जानेसे ऐसे प्राणीका घर भी ×श्मशानके तुल्य होजाता है। नाना प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक दुःखरूप भूत प्रेत उसके गृहरूप श्मशानमें निवास करने लग जाते हैं। जैसे जलके अभाव से मछलियां तडप-तडपकर मर जाती हैं, इसी प्रकार यज्ञादि धर्मके अभाव होनेसे मनुष्य तडप-तडपकर मर जाते हैं। प्रमाण— श्रु०—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति।

(मुण्ड० १ खण्ड० २ श्रु० ३)

अर्थ— जो ब्रह्मचारी वा गृहस्थ ❀ दर्श, × पौर्णमास,

× प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि इनही कर्मोंके अभावसे इन दिनों विसूचिका अर्थात् प्लेग इनफ्लुएंजा इत्यादि महामारीसे लोग पीडित होरहे हैं।

❀ दर्शः— (अन्योन्यं चंद्रसूर्य्यौ तु दर्शनात्"दर्श" उच्यते) जिसदिन चंन्द्र और सूर्य्य दोनों परस्पर एक दूसरेको देखें अर्थात् सामने हों उसी दिनको दर्श अर्थात् अमावस्या कहते हैं।

× पौर्णमासः—पूर्णमासीको कहते हैं। इस दिन भी विशेषरूपसे हवनादिका सम्पादन करना चाहिये।

÷चातुर्मास्य और ÷ अग्रयणमें अग्निहोत्र नहीं करता और अतिथि-

÷चातुर्मास्यम्—"आषाढ़शुक्लद्वादश्यां पौर्णमास्यामथापि वा। चातुर्मास्य व्रतारम्भं कुर्य्यात् कर्कटसंक्रमे। अभावे तु तुलार्केऽपि मन्त्रेण नियमं व्रतौ। कार्तिके शुक्ल-द्वादश्यां विधिवत्तत्समापयेत् (वाराहे)॥" आषाढ़शुक्लपक्षद्वादशीके दिन अथवा पौर्णमासीके दिन कर्ककी संक्रान्तिमें व्रत करनेवाला चातुर्मास्यव्रतका आरम्भ करे। तुलाके सूर्य नहीं मिलनेपर भी कार्तिक शुक्ल द्वादशीके दिन व्रतके नियमको समाप्त करदे। इसीको चातुर्मास्यव्रत कहते हैं। इस व्रतका मंत्र सुनो! पहले तो "चतुरो वार्षिकान् मासान् देवस्योत्थापनावधि: इदं करिष्ये नियमं निर्विघ्नं कुरु मेऽच्युत!॥" इस व्रतका आरंभ करे; फिर "जपहोमाद्यनुष्ठानं नामसंकीर्त्तनं तथा। स्वीकृत्य प्रार्थयेद्देवं गृहीतनियमो बुधः" जप होम तथा नामसंकीर्तनका अनुष्ठान स्वीकार करके इस प्रकार परमात्म देवसे प्रार्थना करे। "इदम्व्रतम्मया देव! गृहीतम्पुरतस्तव। निर्विघ्नं सिद्धिमायातु प्रसा-दात्तव केशव!॥ गृहीतेऽस्मिन् व्रते देव! पंचत्वं यदि मे भवेत्। तदा भवतु सम्पूर्णम्प्रसादा त्ते जनार्दन!" हे देव! यह चातुर्मास्यव्रत तुम्हारे सम्मुख मेरे द्वारा ग्रहण किया जाता है। हे केशव! तुम्हारी कृपासे यह मेरा व्रत निर्विघ्न समाप्त होवे। हे देव! कदाचित् इस बीचमें मैं मृत्युको प्राप्त होजाऊँ तौभी यह मेरा व्रत तुम्हारी कृपासे समाप्त समझाजावे।

इस व्रतका महत्त्व सुनो! — एव मुक्तो नरः शान्तो नित्यस्नायी दृढव्रतः। योऽर्चयेच्चतुरो मासान् हरिं स्यात्तस्य लोकभाक्। (कृष्णरहस्य ग्रन्थ ब्रह्मनारद सम्वादमें देखो) जो प्राणी नित्यस्नान कर एक ही काल भोजनका नियम रखकर शान्तस्वरूप रह चारमासतक बराबर हरिका अर्चन करे वह हरिलोकको प्राप्त होजाता है।

यदि वैदिक रीतिसे करता हो तो वैदिक स्नान मन्त्रोंसे जो मेरे बनाये "बृहत् स्नानविधिमें" दिये हुए हैं स्नानकर पुरुषसूक्तसे भगवत्की अर्चना करे। और ॐ तत् सत् कह कर आरम्भ करे।

÷अग्रयण— अग्रहण मासमें व्रतादि करनेको अग्रयण कहते हैं। जैसे चतुर्मासका नियम कहागया। इसी प्रकार वैदिक विधिसे इसे सम्पादन करे।

सत्कारसे वर्जित रहता है, जो कभी संयोगवशात् हवन करभी देता है तो उन्मनस्क होकर विधि-रहित करता है, तो ऐसे प्राणीके सातों लोकोंके सुख नष्ट होजाते हैं। अथवा सप्तलोक कहनेसे श्रुतिका यह भी अर्थ है, कि ऊपर तीन पीढी वाले पिता, पितामह और प्रपितामह नीचगतिके अधिकारी होजाते हैं और तीन पीढी नीचेकी भी मारी जाती हैं अर्थात् पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र इत्यादिका भी अभाव होजाता है और सातवां आप तो नष्ट होताही है।

शंका—देवताओंको प्रसन्नकर अपने संसृत भोगोंके लिये यज्ञादि करना क्या सकाम नहीं है? देवता जो प्रसन्न होकर फल देवेंगे उन फलोंको तो ग्रहण करनाही पडेगा। फिर पहले निष्कामकर्मोंका उपदेश क्यों किया गया?

समाधान—इस शंकाका उत्तर तो मैं बार बार देता चला आता हूं, पर तुम मेरे समाधानोंको भूल जाते हो, देखो अध्याय २ श्लो० ७० "आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्०००।" अर्थात् विवेकी तो स्वयं फलकी आशा कभी नहीं करता, पर आम्रवृक्षकी छायावत् अन्तःकरणकी शुद्धिके साथ-साथ वे आनुषंगिक फल अर्थात् संसृत-कामनायें भी आपसे आप उसे प्राप्त होजाती हैं। पर ज्ञानी क्याकरे! उनमें रुचि नहीं रखता। निष्काम भी तो तब ही कहा जावेगा, कि फल मिलने पर त्यागता जावे और जिस कर्मका फलही नहीं सामने आवेगा तो त्यागेगा क्या? थोडी बुद्धि लगानेसे समझ जाओगे! शंका मत करो! ॥ १२ ॥

इसी तात्पर्य्यको अगले श्लोकमें अधिक दृढ करते हैं—

मू०—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
॥ १३ ॥

पदच्छेदः—यज्ञशिष्टाशिनः (वैश्वदेवादि शेषान्नभोजनशीलाः। देवयज्ञावशिष्टभोजिनः) सन्तः (शिष्टाः) सर्वकिल्बिषैः (सकलपापैः। चुल्ल्यादि पंचसूनाकृतैः। प्रमादकृतहिंसादिजनितैश्च।) मुच्यन्ते (मुक्ता भवन्ति) ये (यज्ञरहिताः) पापाः (स्वयम्पापरूपाः। आचारहीनाः) आत्मकारणात् (स्वदेहेन्द्रियपोषणार्थम् । स्वोदरपूरणार्थम् ।) पचन्ति (पाकं कुर्वन्ति।) ते (दुराचाराः) तु (निश्चयेन) अघम् (पापम् । मलम्) भुंजन्ते (भक्षणं कुर्वन्ति) ॥ १३ ॥

पदार्थः—(यज्ञशिष्टाशिनः) जो यज्ञके अवशिष्ट भागको भोजन करते हैं, वे (सन्तः) शिष्टपुरुष[सर्वकिल्बिषैः]सब पापोंसे तथा×चुल्ल्यादि पंच पापोंसे भी (मुच्यन्ते) छूट जाते हैं और (ये) जो यज्ञ नहीं करने वाले (पापाः) पापात्मा, आचारहीन पुरुष केवल (आत्मकार-

× १. कण्डणी— ऊखलमें अन्नोंको कूटना
२. पेषणी— चक्कीमें पीसना
३. चुल्ली— चूल्हेमें पकाना
४. उदकुम्भी— घड़ेमें जलभरना
५. मार्ज्जनी— घर आंगन बहारना
इन कर्मोंसे जो जीवोंकी हिंसा होती है उसे चुल्ल्यादि पंचसूना पाप कहते हैं।

णात्) अपने ही पेटभरनेके लिये (पचन्ति) पाक तयार करते हैं (ते) वे दुराचारी (तु) निश्चय करके (अघम) पापको ही (भुञ्जन्ते) भक्षण करते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोकमें जो कह आये हैं, कि जो प्राणी देवताओंका भाग नहीं देकर आप खाजाता है वह चोर है। इसी विषय को और भी दृढ करतेहुए ऐसा दिखलाते हैं, कि ऐसा प्राणी चोर ही नहीं है वह महा घोर पापी भी है । तहां श्रीजगद्रक्षक आनन्दकन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः**] जो लोग यज्ञके अवशिष्ट अर्थात् बचे हुए भागको भोजन करनेवाले हैं वे शिष्ट पुरुष सब पापोंसे छूटजाते हैं। वे कौन-कौन से विशेष यज्ञ हैं ? जिनका शेष भोजन करना चाहिये सो कहते हैं-" **ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्** (मनुः)॥ मनु कहते हैं कि, ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और "पितृयज्ञ" ये मनुष्योंके लिये जो मुख्य पांच यज्ञ हैं कदापि त्याग न करें । अब इन यज्ञोंका स्वरूप विलग—विलग वर्णन किया जाता है—१. ऋषियज्ञ-जो ब्रह्मचारी रहकर वेदोंका पठन पाठन करते हैं और भिक्षा मांगकर गुरुके समीप ला उनको भोजन करा शेष भाग आप भोजन करते हैं वे ऋषियज्ञके अवशिष्ट भागके भोजन करने वाले कहे जाते हैं। २. देवयज्ञ-देवताओंके निमित्त जो हविष्य इत्यादिको प्रदान करके शेष भागके भोजन करनेवाले हैं वे देवयज्ञके अवशिष्ट भागके भोजन करनेवाले कहलाते हैं। ३. भूतयज्ञ-अन्न तयारकर पशु, पक्षी तथा अन्य संसारके जीवोंका भाग

देकर शेषभागको जो भोजन करते हैं वे भूतयज्ञ के अवशिष्ट भागके भोजन करनेवाले कहे जाते हैं। ४ नृयज्ञ--रसोई बनानेके पश्चात् जो + अतिथि अपने द्वारपर आजावे उसको बिना किसी विचारके भोजन कराकर जो भोजन करनेवाले हैं वें नृयज्ञके अवशिष्ट भागके भोजन

+ बिना किसी विचारके अतिथिको भोजन कराना चाहिये। प्रमाण—"दूराच्चोपागतं श्रांतं वैश्वदेव उपस्थितम्। अतिथिं तं विजानीयान्नातिथिः पूर्वमागतः ॥ चौरो वा यदि चाण्डालः शत्रुर्वा पितृघातकः। वैश्वदेवेतु सम्प्राप्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंगमः ॥ न पृच्छेद्गोत्रचरणे स्वाध्यायंच व्रतानि च। हृदयं कल्पयेत्तस्मिन् सर्वदेवमयो हि सः ॥" अर्थ—जो दूरदेशसे आयाहुआ हो, अर्थात जिस समय गृहस्थके घर वैश्वदेव होरहा हो ठीक उसी समय आया हुआ हो, तो उसीको अतिथि जानना चाहिये। उससे पहले जो आयेहुए पुरोधा, ऋत्विज इत्यादि हैं वे अतिथि नहीं कहे जासकते। सो अतिथि चोर हो, चाण्डाल हो, शत्रु हो वा पिता-घातक हो, कोई क्यों न हो वैश्वदेवके समय जो आजावे वही अतिथि है। सोई सर्व-संगम है। ऐसे आयेहुए अतिथिको गोत्र अथवा शाखा (चरण) वा वेद, तथा व्रत (अर्थात् ब्रह्मचारी है वा सन्यासी है) नहीं पूछना चाहिये। इसलिये जो प्राणी अतिथिको भोजन कराकर भोजन करते हैं वे नृयज्ञावशिष्ट के भोजन करनेवाले शिष्ट कहेजाते हैं। शास्त्रोंका वचन है, कि 'वैश्वदेव विहीना ये आतिथ्येन विवर्जिताः सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति ते। काष्ठभार सहस्रेण घृतकुम्भशतेन च। अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः' (पाराशर स्मृतिः) अर्थ—जो प्राणी वैश्वदेवकर्मसे विहीन हैं वे नरक जाते हैं और उस नरकसे इस संसारमें लौटकर काकयोनिको प्राप्त होते हैं। सहस्रों मन लकडीके मध्य, सैंकड़ों घीके घड़ोंसे होम करे पर ऊपर कथन कियेहुए इन दोनों कर्मोंसे हीन हो तो इतनी सामग्री व्यय करके उसका होम करना निरर्थक है। क्योंकि उसके आसपासके जीव तथा भूखे प्यासे उसके घरसे निराश लौटजाते हैं इसलिये वह नरकका भागी अवश्य होगा।

करनेवाले कहे जाते हैं । ५ पितृयज्ञ—पिता, पितामह, प्रपितामह इत्यादिके वार्षिक श्राद्धमें ब्राह्मण, साधु तथा भाई बन्धुओंको भोजन कराकर जो शेष भागके भोजन करनेवाले हैं वे पितृयज्ञके अवशिष्ट भागके भोजन करनेवाले कहे जाते हैं ।

इसलिए भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार इन पांचों यज्ञोंके शेष भाग भोजन करनेवाले शिष्ट पुरुष पापोंसे छूट जाते हैं । किन-किन पापोंसे छूट जाते हैं ? सो सुनो ! प्रायश्चित्ततत्वका बचन है, कि "**ब्रह्म-हत्या कृतं पापं अन्नदानात् प्रणश्यति । अन्नदः पापकर्म्मापि पूतः स्वर्गे महीयते ॥**" अर्थात् अन्नदानसे ब्रह्महत्या नाश होजाती है और अन्नदाता पूर्वोक्त कैसाभी पापाचारी क्यों न हो ? पापोंसे छूट स्वर्ग सुख लाभ करता है । इस संसारमें भी नाना प्रकारसे सुखी रहता है । महाभारतका वचन है, कि "**अन्नदः पशुमान् पुत्री धनवान् भोग-वानपि । प्राणवांश्चापि भवति रूपवांश्च तथा नृप ! ॥ अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशांसि च । कीर्त्तिश्च वर्द्धते शश्वत् त्रिषु लोकेषु पाण्डव ! ॥**"

अर्थ— हे नृपगण ! अन्नका देनेवाला महिषी इत्यादि पशुओंसे, पुत्र पौत्रसे, धनसे, भोगोंसे, आयुसे तथा रूपसे सम्पन्न होता है । हे पाण्डवगण ! अन्नदान देनेवालेकी शक्ति, तेज, यश, और कीर्तिकी वृद्धि सदा तीनों लोकोंमें होती रहती है ।

फिर पद्मपुराणका वचन है, कि:—

क्षुधिते यः प्रयच्छेत अन्नं श्रद्धा समन्वितः ।
ब्रह्मणो भवने सैव ब्रह्मणा सह मोदते ॥

ददत्कन्यामलंकृत्य हस्त्यश्वं च महाधनम् ।
अन्नदानस्य चैतानि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
श्रान्ताय क्षुधितायान्नं यः प्रयच्छति भूमिप ! ।
स्वायम्भुवम्महत्स्थानं स गच्छति नराधिप ! ॥

अर्थ—जो श्रद्धायुक्त अन्न-दान करता है वह ब्रह्मभवनमें जाकर ब्रह्मके साथ आनन्द करता है। जो कोई हाथी, घोडे और धनके साथ कन्याको सर्व अलंकारोंसे युक्त कर दान करे तो ऐसा दान अन्न दानके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं होसक्ता।

फिर विष्णुधर्मसारका वचन है, कि:—

यावतो ग्रसते ग्रासान् विद्वान् विप्रः सुसंस्कृतः ।
अन्नप्रदस्य तावन्तः क्रतवः परिकीर्तिताः ॥

अर्थ—अन्नदान करनेवालेके अन्नके जितने ग्रास संस्कारयुक्त विद्वान ब्राह्मण द्वारा ग्रहण किये जाते हैं उतने यज्ञोंका फल दाताको मिलता है। अन्नदान करते समय इस प्रकारका संकल्प कर लेवे—

"ॐ भगवत्स्वरूपप्राप्तिकामोऽहं श्रान्ताय क्षुधिताय सव्यञ्जनं स्निग्धमन्नं दास्ये" ॥

बृहदा० अध्या० १. ब्राह्मण ५. श्रुति २ का मंत्र है, कि —
" यत्सप्तान्नानि मेधया तपसा जनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳह्येतत् "
अर्थ—पिता जो प्रजापति उन्होंने सात प्रकारके अन्न अपनी

मेधा और तपसे उत्पन्न किये। इनमें वह अन्न साधारण अन्न कहा जाता है, जिसे सब प्राणीमात्र भोजन करते हैं। जो प्राणी इसकी उपासना करते हैं अर्थात् अन्नमययज्ञ करते हैं, वे पापमें लिप्त नहीं होते। क्योंकि "मिश्रं ह्येतत्" यह साधारण अन्न मिश्र इसलिए कहा जाता है, कि सब प्राणियोंकी क्षुधाकी शान्ति निमित्त बनाया गया है। अतएव बलिवैश्वदेव तथा अतिथि-सत्कार करना धर्म्म है। ऐसा करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है।

अब श्रीकृष्णभगवान् कहते हैं, कि [**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**] जो लोग इन यज्ञोंको न करके केवल अपने पेट भरनेके लिये अन्न पकाया करते हैं वे (पापाः) पाप करनेवाले अवश्य पापही का भोजन करते हैं। उनके भोजनका अन्न पापरूप होनेके कारण कृमिके समान है। वे अन्नभोजी नहीं हैं वह कृमिभक्षक हैं।

गृहस्थाश्रमको अन्न तयारकर भोजन करनेमें चुल्यादि पांच प्रकारकी हिंसायें होती हैं, जैसाकि पहले वर्णन कियाजाचुका है।

मुख्य तात्पर्य्य इस श्लोकका यह है, कि इष्टपूर्त्त, दर्श, पौर्णमास, पंचमहायज्ञ इत्यादि यज्ञोंमें अन्न, वस्त्र, द्रव्य, गो इत्यादिका दान देकर जो शेष बचे उससे अपना और अपने आश्रमवालोंका प्रतिपाल करनेवालोंको यथार्थ "यज्ञावशिष्टाशिनः" कहते हैं। जो एवम्प्रकारके पुण्यात्मा हैं वे सब पापोंसे छूटकर भगवत्स्वरूपको प्राप्त

होते हैं। इसके प्रतिकूल जो केवल अपने सुखनिमित्त पुत्र तथा विषय-भोगमें व्यय करनेवाले हैं वे महाघोर नरकमें पडते हैं ॥१३॥

अब श्रीकृष्णचन्द्र अगले दो श्लोकोंमें यज्ञके मुख्य और आनुषंगिक दोनों फलोंको एकठौर समाहार कर वर्णन करतेहुए दिखलाते हैं कि सारी सृष्टिका चक्र यज्ञ ही पर निर्भर है। अर्थात् यज्ञ जो स्वयम परमेश्वर रूप है सोही सारी सृष्टिके चक्रकी कील है।

मू०—अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

पदच्छेदः—भूतानि (प्राणिशरीराणि) अन्नात (भुक्तादन्नाच्छुक्रशोणितरूपेण परिणतात) भवन्ति (जायन्ते) पर्जन्यात (वृष्टेः) अन्नसंभवः (अन्नस्य संभवो जन्म। अन्नस्योत्पत्तिः [भवति] यज्ञात (देवताभिधानपूर्वकं तदुद्देशेनाग्निहोत्रादिधर्मात) पर्जन्यः (वृष्टिः) भवति (उत्पद्यते) यज्ञः (देवतोद्देशेन कृताग्निष्टोमादिधर्म्मः। देवताराधनजोधर्म्मः) कर्म्मसमुद्भवः (ऋत्विग्यजमानयोश्च व्यापारः कर्म ततः समुद्भवो यस्य सः) कर्म्म (ऋत्विग्यजमानयोश्चव्यापारः) ब्रह्मोद्भवम (वेदोद्भवम) विद्धि (जानीहि) ब्रह्म (वेदः)अक्षरसमुद्भवम (परब्रह्मणः समुद्भूतम। साक्षात्परमेश्वरादेवोत्पन्नम्) तस्मात्, सर्वगतम् (सर्वस्मिन्देशे काले च वर्त्तमानम्) नित्यम् (विनाशरहितम) ब्रह्म (सच्चिदानन्दं ब्रह्म। वेदाख्यं

ब्रह्म वा) यज्ञे (अग्निष्टोमवैश्वदेवादि कर्म्मणि) प्रतिष्ठितम् (सम्यक् प्रकारेण स्थितम्) ॥ १४ ॥ १५ ॥

पदार्थः— (**भूतानि**) चौरासीलक्ष योनियोंके शरीर (**अन्नाद्भवन्ति**) अन्नोंसे उत्पन्न होते हैं (**पर्जन्यात्**) वर्षासे (**अन्नसम्भवः**) तिस अन्नकी उत्पत्ति होती है (**पर्जन्यः**) सो वर्षा (**यज्ञात्**) यज्ञसे (**भवति**) होती है । (**यज्ञः**) सो यज्ञ (**कर्मसमुद्भवः**) ऋत्विज और यजमानके कर्मोंसे उत्पन्न होता है (**कर्म**) सो ऋत्विज और यजमानका कर्म, हे अर्जुन ! (**ब्रह्मोद्भवम्**) वेदरूप ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ (**विद्धि**) जान ! सो (**ब्रह्म**) वेदरूपब्रह्म (**अक्षरसमुद्भवम्**) परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान ! (**तस्मात्**) इसलिये (**सर्वगतम्**) तिस सर्वव्यापक (**नित्यम्**) अविनाशी (**ब्रह्म**) ब्रह्मको (**यज्ञे**) यज्ञमें (**प्रतिष्ठितम्**)प्रतिष्ठित जान !

मुख्य अभिप्राय यह है, कि इन यज्ञोंका फल ग्रहण करनेवाला केवल यज्ञपति परमात्मा ही है । इसी कारण पूर्वमें (**यज्ञो वै विष्णुः**) कहकर यज्ञसे भगवत्स्वरूपका ही ग्रहण किया है । शंकर तथा कई अन्य टीकाकारोंने यहां ब्रह्म शब्दका अर्थ "वेद" करके यों कहा है, कि सो जो वेदरूप ब्रह्म है वह विनियोगद्वारा सब ठौर सब यज्ञोंमें प्रतिष्ठित है ॥ १४ ॥ १५ ॥

भावार्थः— अब श्रीकृष्णभगवान अर्जुनको यह बतारहे हैं, कि केवल प्रजापतिकी ही आज्ञासे यज्ञ करना मानव-धर्म नहीं है वरु इस संसारकी रचनाके चक्रानुसार भी यज्ञ करना उचित है ।

अर्थात् जिन नियमोंपर यह संसार बनाहुआ है उन नियमोंको स्थिर रखनेके लिये भी यज्ञ करना आवश्यकीय है, नहीं करनेसे मनुष्य सुखी नहीं रह सकते। क्योंकि नियम भंग होजानेसे रोग और दरिद्रता इत्यादि क्लेशोंका आगमन होता है । इसलिये यज्ञोंके मुख्य और आनुषंगिक फलोंको दिखलाते हुए भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन तू संसारचक्रका नियम सुन ! [**अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्या-दन्नसम्भवः**] मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि चौरासी लक्ष योनियोंके शरीर अन्नसे उत्पन्न होते हैं सो अन्न वृष्टिसे होता है।

अन्नसे शरीर कैसे उत्पन्न होते हैं सो सुनो ! अन्न भोजन करनेसे इस शरीरमें रोम, चर्म, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, और शुक्र सप्तधातुओंकी उत्पत्ति होती है । स्त्रियोंमें वीर्य्यके स्थानमें रज भी अन्नहीसे उत्पन्न होता है । तिनके मेलसे गर्भमें शरीर बनजाता है श्रु०—"पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागव समित् प्राणो धूमो जिह्वाऽर्च्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्याऽऽहुते रेतः सम्भवति ॥" (छांद० उत्तरार्द्ध प्रपा० ५ खंड ७ श्रुति १, २,) अर्थ— राजा जयवलि कहता है, कि हे गौतम ! यह जो पुरुष है वही मानो एक यज्ञका कुण्ड है तहां इसके वचन समिधा हैं, प्राणही धूम है, जिह्वा मानो इस अग्नि कुण्डकी ज्वाला है, नेत्र अंगारा है, कानही चिनगारियां हैं। ऐसा जो यह मानवी शरीर एक अग्निका कुण्ड है तिसमें देवगण अन्न हवन करते हैं जिससे रेत (बीज) तयार होता है । फिर दूसरी श्रुति कहती है-"पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्र-

सूताः" (मुण्ड०ख० १ श्रुति ५) अर्थ—पुरुष स्त्रीमें बीजका सिंचन करता है तिससे बहुतेरी प्रजा उत्पन्न होती है। यदि शंका हो कि बहुतेरे ऊष्मज जीव तो अन्नसे नहीं होते, सडी-गली वस्तुओंसे उत्पन्न होजाते हैं, तो जाने रहो कि अन्न केवल यव, गोधूम और शालिको ही नहीं कहते वरु जो कुछ वस्तु किसी भी जीवसे खायीजावे उसे अन्न कहते हैं। श्रुतिका वचन है— "अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते" अर्थ—सर्व जीवमात्र जिस किसी वस्तुको भक्षण करते हैं उसे अन्न कहते हैं। जैसे ऊंट जो बबूलके कांटे, बकरियां जो अरखडकी पत्तियां, घुन नामका कीट जो काष्ठ और नाना प्रकारके पशु जो घास-पात इत्यादि खाते हैं वे सब अन्न कहेजाते हैं। एवम् प्रकार संसारमें यव, गोधूम फल, फूल, घास, पात, कंकर, पत्थर रुधिर, चर्म सब अन्न ही हैं सो "अन्नाद्वै प्रजा: प्रजायन्ते। याः काश्चपृथ्वीᳲ श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपियन्त्यन्ततः। अन्नᳲ हि भूतानां ज्येष्ठम्। (तैत्तिरी० अनु० २ श्रु० २६) अर्थ— जितने जीव (पृथ्वीᳲ श्रिताः) पृथ्वीसे लगे हैं, अर्थात् निवास करते हैं, सबके शरीर अन्न हीसे उत्पन्न होते हैं, फिर उसी अन्नको सब जीव खाकर जीते हैं। मरनेके पश्चात् भी अन्नहीमें प्रवेश करजाते हैं। अर्थात् पृथ्वी, अग्नि वा जलके अन्न होजाते हैं। इसलिये अन्न ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है। तहां श्रुति यह निश्चय करचुकी है, कि "अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः" (तैतिरी० अनु० १ श्रु० २५) अन्नके भोजन करनेसे वीर्य्य और तिस वीर्य्यसे पुरुष उत्पन्न होता है।

अब श्यामसुन्दर कहते हैं कि हे अर्जुन ! "पर्जन्यादन्नसंभवः" सो अन्न पर्जन्यसे अर्थात् वृष्टिसे उत्पन्न होता है। यदि वृष्टि न हो तो पृथ्वीपर वनस्पतिमात्रका अर्थात् सर्व प्रकारके अन्न और औषधियोंका एकबारगी अभाव होजावे और चौरासी लक्ष योनियोंका थोडेही कालमें नाश होजावे। सृष्टिकी वृद्धि एकबारगी रुकजावे। अब भगवान् कहते हैं, कि [यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः] सो वृष्टि यज्ञ करनेसे होती है। अर्थात् यज्ञोंके हवन द्वारा स्नेहयुक्त धूममें जो जलका अंश रहता है उसे वायु टुकडे टुकडे कर बूंदोंके स्वरूपमें बना देता है। जबतक बूंदें छोटी-छोटी सीकरोंके स्वरूपमें रहती हैं, तबतक वायुपर तैरती रहतीहैं। वे ही काली, उजली, धौली, लाल, बादरोंके स्वरूपमें देखी जाती हैं। जब वे दो चार छोटी-छोटी सीकरें एक ठौर मिलकर इतनी बडी होजाती हैं, कि वायु उनको रोक नहीं सकता तब वे वृष्टि होकर पृथ्वीपर गिरने लगती हैं और अन्नोंको पुष्ट करती हैं।

शंका—धूम तो सूर्य्य द्वारा सब पदार्थोंसे उत्पन्न हो आकाशमें चढता रहता है। देखो ! जब सूर्य्य अधिक तपता है तब पर्वतोंसे, वृक्षोंसे, जलसे तथा अन्य पदार्थोंसे धूम निकलकर आकाशकी ओर जाता है। शीतकालमें जो गृहस्थ वा धूनी तापनेवाले साधुवृन्द अग्नि जलाते हैं तिनसे भी धूम उत्पन्न होकर आकाशकी ही ओर जाता है। क्या इन धूमोंसे पर्जन्य तयार नहीं होसकता ? यदि होसकता है तो अलग यज्ञ करनेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं है, कि यज्ञोंके अतिरिक्त अनेक प्रकारके धूमोंसे पर्जन्य तयार होसकता है, पर तिस पर्जन्यसे वर्षा नहीं होसकती। प्रायः देखनेमें आता है, कि बहुतेरे गम्भीर बादल जब तब लगकर उडजाते हैं वर्षा नहीं होती है। इसका विशेष कारण यह है, कि जो धूम अथवा बाष्प पर्वतोंसे निकलकर आकाशको जाता है, उसका विद्युत बनकर पर्जन्यके अन्तर्गत प्रवेश करजाता है। उस धूमसे ओले बनते हैं। इसी कारण बिजली और ओले पत्थर ही हैं। क्योंकि पत्थरसे पत्थर बनेगा। फिर जो धूम वृक्षोंसे निकलकर जाता है उससे जलका रंगमात्र तयार होता है। जो धूम कोयले और लकडीके जलनेसे ऊपर जाता है उससे पर्जन्योंमें जलकी चादर तयार होती हैं, जो वायुमें इधर उधर उडती हुई देखी जाती हैं, पर वे इस प्रकार उडती हुई विनश जाती हैं, बरसती नहीं। क्योंकि जबतक इनको स्नेह-युक्त अर्थात् चिकनाईसे मिलेहुए धूमका संयोग नहीं होता है, तब तक कदापि नहीं बरस सकती। सो चिकनाईभरेहुए धूम केवल घृत, दधि, दूध तथा अन्नोंके जलनेसे उत्पन्न होता है। इसी कारण जो धूम यज्ञोंके हवनसे तथा पवित्र पाकशालाओंसे निकलता है वही चिकनाई-युक्त होता है उसीसे उत्तम वर्षा करने योग्य बादल तयार होता है। तहां स्मृतिका प्रमाण है, कि—"अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुप-तिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।" (मनु० अ० ३ श्लोक ७६) अर्थ—जो आहुति विधिपूर्वक स्नेहयुक्त सामग्रियोंसे मिली हुई अग्निमें दीजाती है वह सूर्य्यमें जा रहती है। फिर सूर्य्यसे वृष्टि तिस वृष्टिसे अन्न और तिस अन्नसे प्रजा (चौरासी लक्ष-

योनियों) की उत्पत्ति तथा रक्षा होती है। श्रु०—"इमा आपः सर्वेषां भूतानां मधुः" (बृहदा० अध्याय २ ब्राह्मण ५ श्रुति २ में देखो) अर्थात् यह जो जल है सो सब प्राणियोंके लिये मधुरूप है। जैसे मधुमक्षिकाके लिये मधु जीवनका आधार है। इसी प्रकार जल सब प्राणियोंके लिये परम अमृतरूप है। उनके जीवनका आधार है। इसी कारण जलको मधु कहते हैं। यहां शंका मत करो!

अब श्यामसुन्दर श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन! " यज्ञः कर्मसमुद्भवः " सो जो ऐसा प्रसिद्ध यज्ञ, जिससे वृष्टि होती है, कर्मसे उत्पन्न होता है। ऋत्विज और यजमान ये दोनों यज्ञके समय यज्ञ सम्पादननिमित्त जो नाना प्रकारके व्यापार करते हैं, उसे कर्म कहते हैं। वेदमन्त्रोंके द्वारा गऊसे बछडोंको हटाकर दुग्ध ग्रहण करना। यव, तिल, घृत इत्यादि यज्ञ की सामग्रियोंका शोधन करना। वेद मंत्रोंसे वेदी, मांडव, यज्ञकुण्ड, श्रुवा, प्रोक्षणीपात्र तथा भिन्न चक्रोंकी रचना करनी इत्यादि व्यापारोंके सम्पादन करनेका नाम कर्म है। तिस कर्मसे यज्ञकी उत्पत्ति होती है। क्योंकि ये कर्म ऋत्विज वा यजमानोंके द्वारा न कियेजावें तो यज्ञोंका स्वरूप ही न तयार होसके। अथवा यों भी अर्थ करलीजिये, कि गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण, मुण्डन, यज्ञोपवीत इत्यादि कर्मोंके पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर वेदोंके अध्ययन द्वारा नाना प्रकारके यज्ञोंके सम्पादन करनेकी रीति और शुद्ध विधिकी शिक्षा इत्यादि जो शोभन कर्म हैं, इनके द्वारा यज्ञोंका सम्पादन होता है। इसलिये यज्ञोंका कर्मोंसे उत्पन्न होना सिद्ध है। अब कहते हैं, कि [कर्म-

ब्रह्मोद्भवम्विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्] हे अर्जुन ! सो कर्म वेदरूप ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ जान ! क्योंकि वेदाध्ययन करनेसे उन कर्मोंके करनेका बोध होता है । फिर तिस वेदको * अक्षर जो अविनाशी परमात्मा तिससे उत्पन्न हुआ जान !

शंका— यहां ब्रह्म शब्दका अर्थ वेद क्यों करते हो ?

समाधान— विराट-रूप और वेदमें अवयव और अवयवी मात्रका भेद है । अर्थात् वेद उस विराट ब्रह्मका श्वास है । श्वास कहते हैं प्राणको " प्राणोवाव जेष्ठश्च श्रेष्ठश्च " इस श्रुतिके वचनानुसार प्राण ही शरीरमें जेष्ठ और श्रेष्ठ मानाजाता है । इसलिये ब्रह्मके सब अंगोंमें उत्तम अंग वेद है । जैसे प्राणके अधीन सब अंग रहते हैं इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र इत्यादि जो उस विराट-स्वरूप-ब्रह्मके नेत्र वा मन हैं सब वेदकी ही आज्ञानुसार चलरहे हैं । इसलिये ब्रह्म-शब्दका अर्थ वेद होनेमें किसी प्रकारकी भी शंका मतकरो !

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि " ब्रह्माक्षर समुद्भवम् " सो वेद अक्षर ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है । वह कैसे हुआ है सो सुनो ! वेद उस ब्रह्मका श्वास है । प्रमाण— श्रुतिः " स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः... " (बृह० अ० ४ ब्रा० ५ श्रुति ११) जैसे भीगीहुई लकड़ियोंके साथ अग्निका संयोग होनेसे धूम पृथक् होकर निकलते हैं, इसी प्रकार उस महाभूत परब्रह्मके

* किसी किसी टीकाकारने यहां अक्षर का अर्थ अ, आ, इ, उ, क, ख इत्यादि वर्णमाला किया है — क्योंकि इन अक्षरोंके ही संयोगसे वेदके मन्त्र तयार होते हैं ।

ग्राससे ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद सब निकसे हुए हैं। इसी कारण ये वेद +भ्रम, प्रमाद, करणाऽपाटव और विप्रलिप्सा इत्यादि दोषोंसे रहित हैं और स्वतः प्रमाण हैं।

"निश्वसित होना" और "उच्चारण होना" इन दोनोंका समान तात्पर्य्य है। क्योंकि जब प्राणी कुछ उच्चारण करने चाहता है तो पहले श्वास ही आगे बढता है। इसकारण निश्वसित होनेका अर्थ उच्चारण होना भी है और वेद अक्षर ब्रह्मसे निःश्वसित अर्थात् उच्चारण हुआ कहा जाता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**] इसीलिये जो सर्वव्यापक और नित्य-ब्रह्म है वह सब यज्ञोंमें प्रतिष्ठित है। अर्थात् सब यज्ञोंमें उसी सच्चिदानन्द आनन्दकन्दकी प्रतिष्ठा कीजाती है। इसी कारण यज्ञकरनेवालोंका मुख्य फल भगवत् की प्राप्ति है और आनुषंगिक फल संसारचक्रका स्थिर रखना है।

इसका दूसरा अर्थ शंकर, मधुसूदन इत्यादि टीकाकारोंने यों भी किया है, कि सर्वगत अर्थात् सब ठौर सब कर्मोंमें मंत्रोंके द्वारा पहुंच जाने वाला जो यह वेद है सो नित्य यज्ञोंमें प्रतिष्ठित है।

+किसी वस्तुको कुछ औरका और समझना **भ्रम** कहलाता है। करने योग्य कर्मका न करना अथवा कहने योग्यको न कहना **प्रमाद** कहलाता है। नेत्र, श्रोत्र इत्यादि बाह्यकरण अथवा अन्तःकरणमें वस्तुओंके यथार्थ स्वरूप ग्रहण करनेकी शक्तिका न होना **करणापाटव**दोष है। दूसरेके ठग लेनेकेलिये कुछ कहदेना **विप्रलिप्सा** है। मनुष्यकृत ग्रन्थोंमें ये दोष होसकते हैं पर वेदमें नहीं ॥
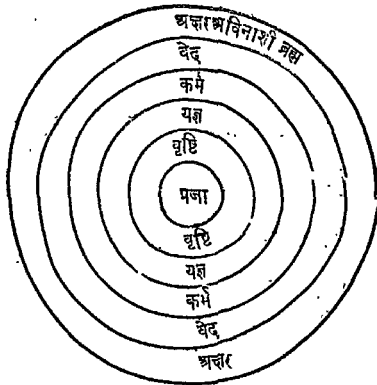
सृष्टिचक्र

पाठकोंके कल्याण निमित्त अब यह सृष्टिचक्र चित्र द्वारा स्पष्टकर दिखलायाजाता है। परब्रह्म जगदीश्वरसे "वेद" वेदसे कर्म, कर्मसे यज्ञ, यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, अन्नसे प्रजा।

जबसे इस चक्रका अभाव हुआ है; अर्थात् द्विजातियोंके ब्रह्मचर्यादि व्रत नहीं पालन करनेके कारण वेदाध्ययन छूट जानेसे यज्ञादि कर्मोंका ह्रास होगया है, तबसे स्नेह-युक्त धूमका उत्पन्न होना रुकगया जिससे वृष्टिमें न्यूनता होनेलगी। वृष्टिकी न्यूनतासे अन्न तथा तृणादि का अभाव हुआ। इसी कारण सब जीव-मात्र दुखी होरहे हैं। यदि अब भी हवनादिकी प्रणाली विधिवत् प्रचार कीजावे, तो सुयोग्य वृष्टिद्वारा पुष्कल अन्नकी प्राप्ति अवश्य हो और सब जीव सुखीहोजावें॥

॥ १४ ॥ १५ ॥

अब श्री भगवान् इस अगले श्लोकमें चक्रके नहीं वर्त्तमान रखने वालेका दोष कथन करते हैं—

मू०— एवं पूवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

पदच्छेदः— पार्थ ! (हे पृथानन्दन !) इह (अस्मिल्लोके) यः (अधिकारी पुरुषः) एवम् (इत्थं) प्रवर्त्तितम् (आवर्त्तमानम) चक्रम् (भूतानामादौ वेदाधिगमस्ततः कर्मानुष्ठानं ततो देवानां तृप्तिस्ततो वृष्टिस्ततोऽन्नं ततो भूतानि पुनस्तथैव भूतानां वेदाधिगमः इत्येवं रूपं जगन्निर्वाह जालम्) न (नहि) अनुवर्त्तयति (अनुतिष्ठति) सः (पुरुषः) अघायुः (पापजीवनः । पापरूपमायुर्यस्य सः) इन्द्रियारामः (इन्द्रियैर्विषयेष्वारमति यः । इन्द्रियपरायणः) मोघम् (व्यर्थम्) जीवति (शरीरभारम्वहति) ॥ १६ ॥

पदार्थः--(पार्थ !) हे अर्जुन! (इह) इस संसारमें (यः) जो अधिकारी पुरुष (एवम्) इसप्रकार (प्रवर्त्तितम्) वर्त्तमान(चक्रम्) सृष्टि निर्वाहके चक्रका (न) नहीं (अनुवर्त्तयति) नहीं अनुष्ठान करता है (सः) सो पुरुष (अघायुः) अपनी आयुपर्यन्त पापसे लिप्त हुआ पापजीवी तथा (इन्द्रियारामः) इन्द्रियपरायण अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयसुखके साथ रमण करनेमें प्रवीण (मोघम्) व्यर्थ (जीवति) जीता है । अर्थात् इस प्रकार कीट, पतंग, कूकर, शृगाल इत्यादिके समान जीनेसे उसका मरजाना उत्तम है ॥ १६ ॥

भावार्थः— आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्रने जो **"न कर्मणामना-रम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोश्नुते"** कहकर कर्म करनेका प्रकरण आरम्भ किया था उसे इस श्लोकमें समाप्त करते हुए कहते हैं, कि [**एवम्प्रव-र्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः**] जिसका अधिकार कर्ममें है वह, यदि उक्तप्रकार कथन कियेहुए चक्रानुसार न चलकर अर्थात् वेदाध्य-यन करके इस सृष्टिचक्रको पूर्णरूपसे वर्त्तमान रखनेके लिये अपने प्राप्त किये द्रव्य और अन्नादिसे दर्श, पौर्णमास, पंच महायज्ञ, इष्टापूर्त्त इत्यादि कर्म न करके मिथ्याचरणमें अपनी सम्पत्तिको व्ययकरता है, तो [**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति**] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! तू निश्चय जान ! कि ऐसा पुरुष अघायु है अर्थात् अपनी आयुभर पाप ही कमानेवाला वृथा कीट पतंगके समान जीता है। जो सम्पत्ति उसे पूर्वजन्मार्जित पुण्यसे प्राप्त होगयी है, उसके द्वारा यज्ञादि सम्पादन न करके, वेश्यादिके नृत्यमें तथा सुरापान ऐसे कपूय आचरणमें व्यय करता है। इसलिये उसे **अघायु** और **इन्द्रियाराम** कहना चाहिये। जब बिकराल काल गाल फैला उसे ग्रासने आता है तब पापोंकी गठरी उसके मस्तकपर रख घोर मुद्गरोंसे पीटता हुआ नरकके कारागारमें जा डालता है। इसीके प्रतिकूल जो प्राणी अपना द्रव्य विषय भोगमें न लगाकर केवल पूर्व कथन किये हुए धर्मार्थोंमें लगाता है वह इन्द्रियाराम न कहलाकर धर्माराम कह-

इन्द्रियारामः—इन्द्रियैरारामम् आरमणमाक्रीडा विषयेषु यस्य स इन्द्रियारामः।
(शंकराचार्यः)

लाता हुआ अपना जीवन परोपकार द्वारा सफल करता है। क्योंकि प्रजापतिने मानुषी योनि केवल धर्म सम्पादन निमित्त उत्पन्न की है। इसी कारण सब योनियोंमें इसे श्रेष्ठ बनाया है। क्योंकि अन्य सब जीव इसके धर्म द्वारा रक्षा पाते हैं। प्रमाण श्रु०— **अथोऽयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत् पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः ० ०"।** (बृहदा० अ० १ ब्रा० ४ श्रु० १४)

अर्थ— यह जो मानुषी-आत्मा है, वह सर्व भूतोंका लोक है अर्थात् प्राणिमात्रकी रक्षाका कारण है। क्योंकि इस मनुष्य ही द्वारा सबका लालन पालन होता है। कैसे? सो कहते हैं— "मनुष्य जो कुछ हवन करता है और यजन करता है उससे देवताओंका लोक स्थिर रहता है अर्थात् देवगण तृप्त रहते हैं। जो वेदादि अध्ययन करता है उससे ऋषियोंका लोक स्थिर रहता है, अर्थात् ऋषिगण प्रसन्न रहते हैं। जो पित्रोंके लिये तर्पणादि करता है तथा पुत्र पौत्रकी इच्छा करता है उससे पितरोंका लोक स्थिर रहता है अर्थात् पितृगण तृप्त होते हैं: जो अपने घरमें आयेहुए मनुष्योंका अर्थात् अतिथिगण का सत्कार करता है और उनको अन्नादि भोजन करा उनकी क्षुधा तृषाकी शांति करता है, तिससे मनुष्यलोककी स्थिरता बनी रहती है। अर्थात् मनुष्यगण तृप्त रहते हैं। जो पशुओंके लिये तृण और जल देता

है तिससे पशुओंके लोककी स्थिरता होती है अर्थात् पशुगण तृप्त रहते हैं। इसी प्रकार "**यदस्य गृहेषु०**" जो इस मनुष्यके घरमें कुत्ते, काग, चींटी इत्यादि इसके अन्नसे अपना-अपना भाग पाकर जीवित रहते हैं, उससे *तिर्यक्-योनियोंके लोकोंकी स्थिरता बनी रहती है अर्थात् सब कीट पतंग प्रसन्न रहते हैं।

इस श्रुतिके वचनसें निश्चय होता है, कि जो मनुष्य होकर इन कर्मोका सम्पादन नहीं करता है वह देव, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु और पक्षी सबोंकी हिंसा करनेका अपराधी है। अर्थात् जो हवन, अध्ययन, तर्पण, वलिवैश्वदेव इत्यादि नहीं करता वह "अघायु" है। "**इंद्रियाराम**" है। व्यर्थ जीता है। इस जीनेसे उसका मरजाना ही उत्तम है ॥ १६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! सन्न्यासी तथा परमहंस इत्यादि महानुभाव भी तो इन कर्मोंको नहीं करते हैं तो क्या वे भी प्रत्यवायके भागी होंगे? उनका जीवन भी व्यर्थ समझा जावेगा?

---

* इस सृष्टिमें दो प्रकारकी योनियां हैं—"सम्यक्" और "तिर्यक्" सम्यक्— सीधी और खडी योनिको कहते हैं। तिर्यक्— टेढी और पडी योनिको कहते हैं। चौरासी लक्ष योनियोंमें केवल मनुष्य सम्यक् योनि वाला है। इसलिये जिसका शरीर सीधा और खडा है अर्थात् जिसका मस्तक ऊपरकी ओर है। इस मनुष्यसे इतर जितनी योनियां हैं सब टेढी और पडीहुई हैं। इसलिये उनका मस्तक ऊपरकी ओर नहीं है। वे सीधी और खडी नहीं चल सकतीं। यही एक विशेष कारण है जिससे आचार्यों, महर्षि, योगी और तपस्वियोंने वेदशास्त्र द्वारा यह विचार किया है, कि केवल

इस प्रश्नका उत्तर श्यामसुन्दर अगले दो श्लोकोंमें देते हैं—

मू०—यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥
॥१७॥

पदच्छेदः— तु (निश्चयेन) यः (प्रसिद्धः) मानवः (मनुष्यः) आत्मरतिः (आत्मन्येव प्रीतियुक्तः) च (तथा) आत्मतृप्तः (आत्मानन्दानुभवेन सन्तृप्तः) च (तथा) आत्मनि (नित्यशुद्धबुद्धयुक्तशुद्धसत्यस्वभावे । प्रत्येक चैतन्य स्वरूपे) सन्तुष्टः (सन्तोषयुक्तः) *एव, स्यात् (अस्ति) तस्य (पुरुषस्य) कार्य्यम् (वैदिकं लौकिकं कर्म कर्तव्यम्) न (नैव) विद्यते (अस्ति) ॥ १७ ॥

पदार्थः— (तु) निश्चय करके (यः मानवः) जो मनुष्य सदा (आत्मरतिः) आत्मामें रत है (आत्मतृप्तः) आत्मामें ही तृप्त है (च) और (आत्मनि) आत्मानन्दमें (एव) निश्चयकर (सन्तुष्टः) सन्तोष प्राप्त किये हुआ है (तस्य) ऐसे ज्ञानी पुरुषके (कार्य्यम्) करने योग्य कोई कर्म ही (न) नहीं (विद्यते)

मनुष्यमें ही ज्ञान तत्वका प्रवेश है इतर योनियोंमें नहीं । इसी कारण मनुष्यको छोड़ अन्य सब योनियां " तिर्यक् योनि " कहीजाती हैं ।

*एव— सादृश्ये, ईषदर्थे, विनिग्रहे, क्रियायोगे, अनन्ययोगव्यवच्छेदे । विशेष्यसंगतः, विशेषणसंगतः इत्यादि " वाचस्पतिः "

विद्यमान है । अर्थात् ऐसे आत्मज्ञानीको किसी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती । इसीलिये यदि वह न करे तो प्रत्यवाय भी नहीं होसकता ॥ १७ ॥

भावार्थ:— अर्जुनने जो पूर्व श्लोक सुनकर शंका कीथी, कि संसारचक्रानुसार कर्म नहीं करनेसे क्या महानुभाव योगियोंको भी प्रत्यवाय लगेगा ? उसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः] जो महात्मा आत्मरति वाला सदा आत्मानन्दहीमें मग्न रहता है अर्थात लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणाको परित्यागकर स्त्री, धनादिकी प्रीति छोड केवल आत्माहीमें गाढी प्रीति रखता है । आत्माको छोड किसी अनात्म-पदार्थकी ओर दृष्टि नहीं करता है । चाहे कितने भी मोद प्रमोदादिके, सुखके पदार्थ उसके सम्मुख क्योंन उपस्थित होजावें, पर उनकी ओर आंख उठाकर नहीं देखता । अपने आत्म-सुखके सामने सर्वप्रकारके सुखोंको तुच्छ समझता है तथा जो "आत्मतृप्त" कहाजाता है । जिसकी तृप्ति षट्रस भोजनादि अथवा सुन्दर रमणीसे न होकर केवल आत्मानन्दहीमें तृप्त रहता है [आत्मन्येव च सन्तुष्टः] तथा केवल अपने आत्माहीमें जो सन्तुष्ट रहता है अर्थात् जिस पुरुषकी रति, तृप्ति और तुष्टि तीनों अपने आत्माहीमें हैं, अन्य किसी पदार्थमें नहीं हैं और जो दशों दिशाओंमें केवल आत्माही आत्मा देखता है । यथा— श्रु०

टिप्प०-- रतितृप्तिसन्तोषाणां मोदप्रमोदानन्दवदान्तर भेदः अथवा रतिर्विषयासक्तिः तृप्तिर्विषयविशेषसम्पर्कजं सुखम्। सन्तोषोऽभीष्टविषयमात्रलाभाधीनं सुखसामान्यमिति भेदः।
(आनन्दगिरि

ॐ आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवथं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्मा मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छां० प्रपा० ७ खण्ड २५ श्रु० २) अर्थात् आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायें है, आत्मा ही बायें है, ये जो वस्तु-तस्तु इस सृष्टिमें हैं सब आत्माही है, सो जो विद्वान् एवम्प्रकार देखता हुआ, मनन करताहुआ, जानताहुआ, आत्माहीमें रति रखनेवाला है, आत्माहीसे क्रीडा करनेवाला है, आत्माहीसे मिलकर सुखी होनेवाला है तथा आत्माहीमें आनन्द रहनेवाला है, सोही यथार्थ चक्रवर्त्ती नरेश होजाता है। वही प्राणी ब्रह्मलोकसे पाताललोक पर्य्यन्त जितने लोकलोकान्तर हैं तिनमें जहांकी इच्छाकरे तहां चला जासकता है और सर्वत्र विहार करसकता है। ऐसे प्राणीकेलिये भगवान् कहते हैं, कि [**तस्य कार्य्यं न विद्यते**] विधि निषेध किसी प्रकारके धर्मोंका बन्धन नहीं है। लौकिक वा वैदिक किसी प्रकारका कर्म उसकेलिये शेष नहीं रहता। यों तो उसकी इच्छा है जो चाहे करे, पर किसी प्रकारके कर्म उसे बाधा नहीं करसकते। क्योंकि वह किसी प्रकारके विषयरससे मोहित होकर उसमें फंस नहीं सकता नित्य मुक्त रहता है। क्योंकि कर्मका फल ज्ञान तिसका फल भगवत्स्वरूप, सो उस प्राणीको प्राप्त ही है। देखो! जिसे पारसमणि हाथ लगाहुआ है उसे कांचमें क्यों रति होगी ?

श्रुतिः— "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयो-

निम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति । (मुण्ड० ३ खण्ड १ श्रुति ३) अर्थ--जब विद्वान् रुक्मवर्ण जो स्वयं ज्योतिःस्वरूप सम्पूर्ण जगतके कर्त्ता ईश्वरको अपने दिव्य चक्षुसे देखता है, तब सो देखनेवाला महान्-पुरुष शुभा-शुभ-कर्मोंको जड सहित नाश करके परम समताको प्राप्त होता है; अर्थात् फिर उसको किसी कर्मके करनेका प्रयोजन ही नहीं रहता । इसलिये समभावको पाकर शान्त पदवी लाभकर जीवन्मुक्त होजाता है ॥ १७ ॥

हे अर्जुन ऐसे पुरुषके विषे और सुन !

मू०— नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
॥ १८ ॥

पदच्छेदः— तस्य (आत्मनि सन्तुष्टस्य । परमार्थरतेः) कृतेन (कर्मणा) अर्थः (प्रयोजनम् । पुण्यम् । स्वर्गादौ लिप्सा । अभ्युदयलक्षणो निःश्रेयसलक्षणो वा प्रयोजनम्) एव (निश्चयेन) न [अस्ति] अकृतेन (अकरणेन । विरुद्धकर्मणा ।) इह (अस्मिन् लोके ।) कश्चन (प्रत्यवायाख्योऽनर्थः ।) न [अस्ति] च (तथा) अस्य (आत्मतृप्तस्य) सर्वभूतेषु (चेतनाचेतनेषूत्तममध्यमाधमेषु । ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु) कश्चित् (कश्चन) अर्थव्यपाश्रयः (अर्थार्थआश्रयणीयः । सेवनीयः । सुखभोगात्मकप्रयोजनाभिसंबन्धः । पुण्यपापफल सम्बन्धः । मोक्षआश्रयणीयः) न (नैव) ॥ १८ ॥

पदार्थः— (तस्य) तिस आत्मरत आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट प्राणीके (कृतेन) कुछ कियेहुए कर्मसे (अर्थः न) किसी अर्थका प्रयोजन नहीं है अर्थात् ब्रह्मविद्को किसी कर्म करनेसे कोई तात्पर्य्य सिद्ध करना नहीं है और (अकृतेन) तिसके कुछ नहीं कियेहुए कर्मसे (इह) इस संसारमें (कश्चन) कोई प्रत्यवाय भी नहीं है। ऐसे प्राणीका (सर्वभूतेषु) ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्य्यन्तके सर्व भूतोंमें (कश्चित्) कुछ (अर्थव्यपाश्रयः) अर्थका आश्रय करना अर्थात् किसी अर्थके सम्बन्धमें किसी क्रियाका साधन करना (च न) भी नहीं है । देव, गन्धर्व इत्यादिसे भी किसी प्रकारका अर्थ निकालनेके लिये वा उनके विघ्नोंसे बचनेके लिये किसी क्रियाके साधनका प्रयोजन नहीं है ॥ १८ ॥

भावार्थः— अब योगेश्वर भगवान् पूर्व श्लोकमें कथन किये हुए आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट अर्थात् आत्मानन्दमें मग्न रहनेवालेकी प्रशंसा करतेहुए कहते हैं, कि [**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**] जो प्राणी सदा आत्मानन्दमें ही मग्न रहता है और जिसके मनकी तीनों वृत्तियां **रति, तृप्ति,** और **तुष्टि,** नित्य आत्मा ही में रहती हैं, उसे कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है । अर्थात् जो ब्रह्मविद् भगवत्स्वरूपमें लीन तथा भगवत्स्वरूप में अत्यन्त गाढी प्रीति रखता है । भगवत् नामके श्रवण करने से जिसके कर्णोंकी, भगवत्स्वरूपके दर्शनोंसे जिसके नेत्रोंकी, भगवत् यश गान करनेसे जिसकी जिह्वाकी तृप्ति होती है तथा जो भगवच्चरणारविन्दको छोड दूसरे रमणीय पदार्थोंकी इच्छा

नहीं करता है, ऐसे पुरुषको किसी प्रकारके सकाम वा निष्काम कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि जिन पुरुषोंको संसृतसुख तथा स्वर्गादिके सुखोंकी इच्छा बनी रहती है उनहीको सकाम कर्मकी आवश्यककता है और जिन पुरुषोंको अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करनेका प्रयोजन रहता है, उनहीको निष्काम-कर्मोंके साधनकी आवश्यकता रहती है, पर जो प्राणी अन्तःकरणकी शुद्धि भी प्राप्त किये हुए सर्व सुखोंका तिरस्कार कर चुका है उसे फिर लौटकर निष्कामकर्म करनेकी कुछभी आवश्यकता नहीं है ।

शंका--ऐसे ज्ञानियोंको कर्म करनेका प्रयोजन तो नहीं है, पर ज्ञानकी वृद्धिके निमित्त सम, सन्तोष, सत्संग, विचार, श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि साधनोंकी तो आवश्यकता है । फिर उसे भगवानने सब कर्मोंसे रहित और निष्प्रयोजन क्यों कहा ?

समाधान— जो प्राणी इन सब साधनोंका सम्पादन कर ज्ञान की सातों भूमिकाओंको पार करचुका है, उसीको कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि ऐसा ही प्राणी सदा आत्मामें रत, तृप्त और सन्तुष्ट रहता है । वही भगवत्स्वरूपमें रमाहुआ है । ऐसा प्राणी करोडोंमें कोई एक ही है । सो भगवान् आगे कहेंगे— (मनुष्याणां सहस्रेषु ००० देखो अध्या० ७ श्लो० ३) शंका मत करो !

अब उक्त वार्त्ताको अत्यन्त दृढ करते हुए भगवान कहते हैं, कि [**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः**] ऐसे प्राणीको जड़, चैतन्य, उत्तम, मध्यम, नीच तथा ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल

पर्य्यन्त जितने भूतमात्र हैं किसीसे किसी प्रकारके अर्थका आश्रय अर्थात् सम्बन्ध नहीं रहता। देवगणसे भी कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। क्योंकि इनसे न वह कुछ मांगता है, न इनके उपद्रवसे वह भयभीत होता है। देवगणका यह स्वभाव है, कि जब वह किसी प्राणीको ज्ञानकी सातों भूमिकायें पारकर, सर्व-कर्त्तव्य रहित होताहुआ देखते हैं, तो उपद्रव आरम्भ करते हैं। क्योंकि ज्ञानी इनको हवनादिसे तृप्त करना छोडदेता है। प्रमाण श्रु०— **तस्मात्तदेषां न प्रियं यदेतन्मनुष्याः विदुः।**

क्योंकि वह आत्मज्ञान इन देवताओंको प्रिय नहीं है, जिसे मनुष्य प्राप्त करते हैं। इसकारण ये विघ्न अवश्य करते हैं। श्रीधरस्वामी अपनी टीकामें लिखते हैं, कि "**मोक्षे देवकृतविघ्नसंभवात्तत्परिहारार्थं कर्मभिर्देवाः सेव्याः**" अर्थात् मोक्षमें देवताओंके विघ्नका संभव है इसलिये उसकी शान्तिनिमित्त देवकर्मसे देवताओंको सेवना चाहिये, पर यह देवताओंका विघ्न ज्ञानप्राप्तिसे पूर्व ही काम करता है। ज्ञानकी भूमिकाओंके पार होनेपर इनकी कुछ भी नहीं चल सकती। क्योंकि सप्त-भूमिका पार होने पर तो ये देवगण किसी प्रकारके विघ्न करनेमें असमर्थ होजाते हैं। प्रमाण श्रु०—**तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्माह्येषां स भवति**" अर्थ— ये इन्द्रादि देवगण तिस सप्तभूमिकाके पार गयेहुए भगवत्स्वरूपमें लीन पुरुषके पराभव करनेमें समर्थ नहीं होसकते। क्योंकि यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष इन देवताओं का भी आत्मा-रूप होजाता है। इसलिये किसी अपने प्रयोजनकी सिद्धि निमित्त इनके आश्रयी होनेकी आवश्यता नहीं रखता।

मेरे पाठकोंके चित्तमें यह लालसा अवश्य उत्पन्न होआवेगी,

कि वे ज्ञानकी सात भूमिकायें कौनसी हैं ? जिनके पारंगत होनेसे प्राणीको कृत और अकृत की कुछभी परवा नहीं रहती । देवताओंसे भी कुछ भय नहीं रहता । इसलिये यहां ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंका संक्षिप्त वर्णन करदिया जाता है ।

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्त्तिता । विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥ सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । पदार्थभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ [योगवासिष्ठः. उत्पत्ति प्रक० सर्ग ११६ श्लो० ५, ६] ॥ अर्थ— १. शुभेच्छा २. विचारणा, ३. तनुमानसा; ४. सत्त्वापत्तिः; ५. असंसक्तिः; ६. पदार्थभाविनी और ७. तुरीया । ये ही सातों ज्ञानकी सात भूमि-कायें हैं । अब इनका स्वरूप सुनो !

१. शुभेच्छा—"तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्य्य-वसायिनी मोक्षेच्छा प्रथमा ॥" अर्थ—नित्या-नित्य वस्तु-विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति इत्यादि साधनोंके सहित जो इनके फलकी प्राप्ति पर्य्यन्त मोक्षकी इच्छा है, उसे शुभेच्छा कहते हैं । यह पहली भूमिका है ।

२. विचारणा— "ततो गुरुमुपसृत्यवेदान्तवाक्य-विचारः श्रवणमननात्मको द्वितीया" अर्थात् मोक्षकी इच्छा हृदयमें उपजने के पश्चात् समित्पाणि होकर गुरुकी शरण जा उनके मुखसे सिद्धान्त वाक्योंको श्रवणकर अपने घर आ उन श्रवण किये हुए वाक्योंका मनन करते हुए पूर्णरूपसे विचार करनेका नाम "विचारणा" है । यह दूसरी भूमिका है ।

३. तनुमानसा—"ततो निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया

सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया" अर्थ— विचार करते-करते अर्थात् निदिध्यासनका अभ्यास करते—करते, जब मनकी अत्यन्त एकाग्रता प्राप्त होकर सूक्ष्मवस्तुओंके ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त होती है, तब उसे **तनुमानसा** कहते हैं। यह ज्ञानकी तीसरी भूमिका है। विना इस भूमिकाके प्राप्त हुए आत्मज्ञानकी शक्ति प्राप्त नहीं होती। इसी भूमिकाके लाभ होनेसे प्राणीको आत्मतत्त्व तथा ब्रह्मतत्त्वका अनुभव होने लग-जाता है। इन तीनों भूमिकाओंको कथनकर वसिष्ठजी श्री रामचंद्रजीसे कहते हैं, कि—

भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम! जाग्रदितिस्थितम्।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते॥

हे रामचन्द्र! सात भूमिकाओंके अन्तर्गत—शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा ये तीनों भूमिकायें जो मैंने तुमसे कही ये जागरित अवस्थामें होती हैं। जैसे जागरित अवस्थामें सारा जगत भेदबुद्धि-द्वारा देख पडता है तैसे ही इन तीनों अवस्थातक भी जगत भेदबुद्धि-द्वारा अनुभव होता है।

४. सत्त्वापत्तिः—ततो वेदान्त वाक्यान्निर्विकल्पको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा। अर्थ— अहम्ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्माब्रह्म, सर्वंखल्विदम्ब्रह्म, इत्यादि वाक्योंका पूर्ण विचार होनेसे जब निर्विकल्प, ब्रह्मात्मैकता अर्थात ब्रह्म औ जीव कहिये भक्त और भगवत्स्वरूपकी एकता होने लगती है तब उसे 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं। इस अवस्थाको स्वप्नावस्थावत् भी कहसकते हैं। क्योंकि जैसे सोनेवाला जब जागने लगता है तब स्वप्नकी सब वस्तु—तस्तु

जागते–जागते उसके अन्तःकरणमें लय होती चली जाती हैं। इसी प्रकार जब प्राणी इस चौथी भूमिका सत्त्वापत्तिको प्राप्त होता है तब जगत्के सब पदार्थ स्वप्नवत् उसके हृदयमें लय होने लगजाते हैं। अर्थात् प्राणीके ध्यानसे जगत्का अभाव होने लगजाता है। प्रमाण—

अद्वैते स्थैर्य्यमायाते द्वैते प्रशममागते।
पश्यन्ति स्वप्नलोकं च चतुर्थी भूमिकामिता॥

अर्थ—जब प्राणीको अद्वैतमें स्थिरता प्राप्त होती है और द्वैत बुद्धिका उपशम होजाता है, तब प्राणी इस संसारको स्वप्नवत् देखता है इसी अवस्थाको चौथी भूमिका अर्थात् सत्त्वापत्ति कहते हैं।

५ असंसक्तिः—"**तत्र सविकल्पसमाध्यभ्यासेन निरुद्धेमनसि या निर्विकल्पसमाध्यवस्था सा असंसक्तिरिति, सुषुप्तिरिति चोच्यते।**" अर्थ— सविकल्पसमाधिके अभ्यास द्वारा जब मनकी अत्यन्त एकाग्रता होजाती है, प्रपंचका अभाव होकर सर्वत्र आत्मा ही आत्मा दीखने लगजाता है, मनका निरोध होकर निर्विकल्पसमाधिकी अवस्था प्रगट होती है, तब उसे '**असंसक्ति**' कहते हैं। इसीको सुषुप्ति भी कहते हैं। क्योंकि इस अवस्थामें सुषुप्तिके समान आनन्दमय होजाता है। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि सविकल्पसमाधिसे बढते-बढते जब योगी निर्विकल्पसमाधिको प्राप्त होता है तब ही '**असंसक्ति**' नाम ज्ञानकी पांचवीं भूमिका कही जाती है।

समाधि अवस्थामें जबतक समाधिवालेको **ज्ञान, ज्ञात', ज्ञेय। ध्यान, ध्याता, ध्येय, । क्रिया, कर्त्ता, कर्म।** इस त्रिपुटीका स्वरूप बना रहता है, तबतक '**सविकल्प-समाधि**' कही जाती है। जब इस

त्रिपुटीका भेद मिटकर सुषुप्तिके समान सर्व प्रकारकी वृत्तियोंका अभाव होजाता है तब उसे 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। इस अवस्थामें योगी विना किसीके जगाये आप जग जाता है। ऐसे योगी को 'ब्रह्मविद्वर' कहते हैं। इन दोनों प्रकारकी समाधियोंका भेद विधिपूर्वक आगे प्रसंगानुसार कहा जावेगा।

६. पदार्थभाविनी— "एतत्तदभ्यासपरिपाकेन या चिरकालावस्थायिनी सा पदार्थभाविनीति गाढसुषुप्तिरितिचोच्यते "

अर्थ— पूर्वमें जो कथन किया पांचवीं असंसक्ति भूमिका तिसके अत्यन्त परिपक्व होजानेसे, जब बहुत कालतक निर्विकल्प-समाधिकी स्थिरता होजाती है, तब उस अवस्थाको 'पदार्थभाविनी' छठवीं भूमिका कहते हैं। इसी अवस्थाको गाढ—सुषुप्ति भी कहते हैं। गाढसुषुप्ति और पदार्थभाविनी भूमिकामें केवल इतना ही अन्तर है, कि सुषुप्तिमें अविद्या व्यापती है और पदार्थभाविनी में अविद्या नष्ट होकर विद्यारूप होजाती है। तहां प्राणीको परमानन्दका लाभ होता है। ऐसी अवस्थाको जब योगी प्राप्त होजाता है तब आपसेआप समाधिको त्याग उठ नहीं सकता, दूसरेके जगानेसे जग सकता है।

जैसे वाल्मीकजी जब इस भूमिकाको प्राप्त होगये, तो उनके शरीर पर वल्मीक जम गया। सर्पोंने उस वल्मीकमें अपना घर बना लिया। पर वाल्मीकजीकी समाधि नहीं टूटी। यही इस छठवीं भूमिकाकी पहचान है। वसिष्ठजी श्री रामचन्द्रजीसे कहते हैं, कि इस भूमिकावालेको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' करके पुकारते हैं।

* षष्ठीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम्।

षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥

अर्थ—ब्रह्मविद्—योगी पहले असंसक्तिनाम पांचवीं भूमिकाको प्राप्त करता हुआ सुषुप्तिके समान परमानन्दकी प्राप्तिमें मग्न हो क्रमशः धीरे-धीरे छठवीं भूमिकाको जो गाढ-सुषुप्तिके समान है प्राप्त करता है।

७. तुरीया—"यस्यास्तु समाध्यवस्थायाः न स्वतो न वा परतो व्युत्थितो भवति, सर्वथा भेददर्शनाभावात् किन्तु सर्वदा तन्मय एव स्वप्रयत्नमन्तरेणैव परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुवशादन्यै-र्निर्वाह्यमानदैहिकव्यवहारः परिपूर्णः परमानन्दघनएव सर्वत-स्तिष्ठति सा सप्तमी "तुरीयावस्था" ॥ तां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते ॥

अर्थ— जिस अवस्थामें न तो आप जगे, न अपने किसी दूसरे शिष्यादिके जगानेसे जगे, वरु प्रपंचके भेद दर्शनके अभाव होजानेसे ब्रह्माकार-वृत्तिमें तद्रूप होजावे और अपने सर्व प्रकारके प्रयत्नोंको परित्यागकर परमेश्वरकी प्रेरणा द्वारा प्राणवायुके वशसे अथवा और किसी अन्य प्रकारसे आपसे आप उसके बाह्य शरीरकी रक्षा अर्थात् दैहिक व्यवहारकी सिद्धि होती रहे और आप स्वरूपतः परमानन्दघनमें स्थिर रहे तिस अवस्थाको (तुरीया-वस्था) कहते हैं। इस सातवीं भूमिका अर्थात् तुरीयावस्थाके विषय माण्डूक्योपनिषत्की श्रुति सुनो !

नान्तःप्रज्ञं न वहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् ॥ अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ (माण्डू० श्रु० १६)

अर्थ— जिस समय योगी तथा आत्मज्ञानीकी प्रज्ञा (बुद्धि) न भीतरकी ओर, न बाहरकी ओर हो, अर्थात् न स्वप्न हो न जागरित हो। न "उभयतःप्रज्ञः" हो अर्थात् कुछ स्वप्न और कुछ जागरित दोनों मिलीहुई अवस्था भी न हो। और "प्रज्ञानघन" सुषुप्ति (घोर निद्रा) भी न हो। प्रज्ञ भी न हो, अर्थात् जागरित भी न हो, और अप्रज्ञः एकबारगी जडके समान बोध रहित भी न हो, अदृश्य अर्थात् नेत्रोंका विषय न हो, अग्राह्य हो अर्थात् हाथ, पांव इत्यादि किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य भी न हो, फिर अलक्षणं अर्थात् अनुमानके भीतर भी नहीं आसकता हो। अचिन्त्यम् चिन्ता करने योग्य भी न हो। अर्थात् अन्तःकरण भी जिसको नहीं स्पर्श करसकता हो। अव्यपदेश्यम् उपदेश करने अर्थात् कहने योग्य भी न हो, पर एकात्मप्रत्ययसारम् हो अर्थात् जागरितादि तीनों अवस्थाओंकी एकता होजाने पर जो आत्मज्ञानका सारभाग परमानन्द-स्वरूप है सो ही हो। फिर प्रपंचोपशम हो अर्थात् जिस अवस्थामें प्रपंचका नाश होजावे। फिर कैसा हो? कि शिवम् परम कल्याणमय हो। 'अद्वैतम्' जिसके समान कोई दूसरा न हो। ऐसी अवस्थाको चतुर्थमन्यन्ते चौथी अवस्था अर्थात् 'तुरीय' मानते हैं। वही शुद्ध निर्मल आत्मा है और 'विज्ञेयः' जानने योग्य है। यही ज्ञानकी सातवीं भूमिका है।

प्रियपाठको! जो प्राणी एवम्प्रकार सातों ज्ञानकी भूमिकाओंके पार होगया उसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं। उसीको कुछ कर्तव्य नहीं। इसीकारण भगवान् कहते हैं, कि "न तस्य कृतेनार्थः००" ऐसे ज्ञानभूमिकासे पारंगत प्राणीको न किसी कर्म करनेका कुछ पुण्य है, न नहीं करनेका प्रत्यवाय है।

ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्य्यन्त जितने देव, गन्धर्ब, किन्नर, नाग, मनुष्य इत्यादि हैं किसीसे कुछभी कोई अर्थ सिद्ध करनेकेलिये ऐसे प्राणीको किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसा प्राणी जीवन्मुक्त है। ऐसी अवस्थावाला करोडोंमें कोई एक होता है ॥ १८ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा—"भगवन्! मैं भी इसी अवस्थाको प्राप्त करनेकी इच्छासे युद्ध छोड अलग होना चाहता हूं।" इतना सुन भगवान् अरुन्धतीदर्शनन्यायसे इस अवस्थाकी प्राप्तिका प्रथम यत्न अगले श्लोकमें बताते हैं—

मू०— तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म समाचर !
असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
॥ १९ ॥

पदच्छेदः—तस्मात् (ततः। तद्धेतोः) असक्तः (संगरहितः। फलासक्तिशून्यः) सततम् (सर्वदा। निरन्तरम्। अनवरतम्) कार्य्यम् (अवश्यकर्त्तव्यम्) कर्म (नित्यनैमित्तिकलक्षणमाचरणम्) समाचर (यथाशास्त्र निर्वर्तय) हि (यतः) पुरुषः (सत्पुरुषः) असक्तः (संगरहितः [सन्] कर्म (ईश्वरार्थ कर्म) आचरन् (कुर्वन्) परम (मोक्षम्) आप्नोति (प्राप्नोति) ॥ १९ ॥

पदार्थः—(तस्मात्) इसी कारण तू (असक्तः) फलोंकी कामनासे रहित होकर (सततम्) सदा (कार्य्यम) अवश्य करने योग्य (कर्म) नित्य नैमित्तिक कर्मोंको (समाचर !) शास्त्रोंकी आज्ञानुसार

सम्पादन कियाकर ! (हि) क्योंकि (पुरुषः) ईश्वरचरणानुरागी पुरुष (असक्तः) सर्व प्रकारके फलोंकी इच्छा छोडकर (कर्म आचरन्) केवल भगवत्प्राप्ति निमित्त कर्मोंका आचरण करता हुआ (परम्) मोक्ष परमपदको (आप्नोति) प्राप्त करलेता है अर्थात् सातवीं भूमिका तुरीयको प्राप्त कर कृताकृतसे रहित होजाता है ॥ १९ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पूर्व श्लोकमें ब्रह्मविद्को कृताकृतसे रहित सुनकर आप भी कर्म-रहित होनेकी लालसा भगवान्के प्रति दिखलायी, उसी पदकी प्राप्ति निमित्त प्रथम किस साधनकी आवश्यकता है ? उसे भगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश करते हुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू सन्न्यासी नहीं है ! परमहंस नहीं है ! त्यागी नहीं है ! हां ! इतना तो मैं अवश्य कहूंगा, कि तू बुद्धिमान् है, विद्वान् है, तेजस्वी है, क्षत्रिय है, साहसी है और भगवत्प्राप्तिकी भी इच्छा तेरे चित्तमें बनी है । पर मैं पहले कहचुका हूं, कि इस समय जो तू रणमें वीरोंके सन्मुख उपस्थित होकर रणसे मुख मोर त्यागकी इच्छा करेगा, तो सारा जगत् यही कहेगा, कि अर्जुन सच्चा त्यागी वा सन्न्यासी तो नहीं हुआ, वह तो अज्ञानियोंके समान युद्ध-कला नहीं जाननेसे वीरोंसे भय खाकर अपना प्राण बचानेके लिये रण-भूमिसे भागगया । इसलिये इस समय तेरा अधिकार कर्मकरनेहीमें है । [**तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म समाचर !**] इसी कारण तू कर्मके फलका संग छोड सदा कर्त्तव्य कार्य्योंका सम्पादन कियाकर ! फलकी तो तनक भी इच्छा मत कर ! क्योंकि फलकी इच्छा करनेवालेको जबतक उस फलकी प्राप्ति नहीं होती तबतक चिन्ता बनी रहती है ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि फलका कोई ठिकाना भी नहीं है, कि कौन कर्म किस समय परिपक्व होकर कब फल देवेगा ? बहुतेरे सकाम-कर्म ऐसे हैं, कि इस जन्ममें उनका फल होता ही नहीं। करनेवालेकी सारी आयु फलकी प्रतीक्षा और चिन्तामें ही बीतजाती है। जो कदाचित् फल उदय होकर सामने आया भी, तो उसके भोगनेमें समय नष्ट होकर अन्तमें प्राणी रीता हाथ जाता है। यदि यों कहो, कि कर्मोंका फल परलोकमें इन्द्रलोकका सुख प्रदान करेगा, तो भी कुछ लाभ न हुआ। क्योंकि स्वर्गमें भोगकी समाप्तिके पश्चात् फिर नीचे गिरादिया जाता है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू फलकी कामना छोड अपना कर्त्तव्य कर्म अवश्य कियाकर !

क्षत्रियोंके लिये कौनसे कर्त्तव्य-कर्म हैं सो यहां वर्णन करदियेजाते हैं। प्रमाण— "प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः" (मनु० अध्या० १ श्लो० ८९) अर्थ— १. प्रजाकी रक्षा करनी तथा युद्ध द्वारा शत्रुओंके आक्रमणसे उनको बचाना। २. देश, काल, पात्र इत्यादिका विचारकर दान देना। ३. वेद-विहित यज्ञोंका सम्पादन करना। ४. वेदादिका अध्ययन करना। ५. विषयोंसे बचे रहना। ये ही पांचों कर्म क्षत्रियजातिके मुख्य कर्त्तव्य हैं।

अब भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोतिपूरुषः] जो सत्पुरुष है वह केवल भगवत्प्राप्तिनिमित्त निष्काम-कर्मोंका सम्पादन करता हुआ अन्तःकरणकी शुद्धि

प्राप्त कर मोक्षपदको प्राप्त हो भगवत्स्वरूपमें प्रवेशकर परमानन्द लाभ करता है॥१९॥

इतना सुन अर्जुनने कहा, कि हे भगवन्! क्या मैं एकबारगी ऐसा मन्दभागी हूं, कि मुझको कर्मोंके बन्धनमें रहना ही होगा? क्या ज्ञानका थोडा अंश भी मुझमें नहीं है? क्या मैं कर्मोंका त्याग कर ज्ञानकी उन्नतिका कुछ उपाय नहीं करसकता? क्या ज्ञानकी सप्तभूमिकाओंके साधन करनेका मैं अधिकारी नहीं हूं? यदि हूं तो मुझे ज्ञान साधन निमित्त शमदमादि क्रिया क्यों नहीं बताते? इस घोर युद्धमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा क्यों देते हो?

यह सुन श्यामसुन्दर बोले— हे अर्जुन! तू अपने इस प्रश्नका उत्तर सुन!

मू०—कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥२०॥

पदच्छेदः— हि (यस्मात्) जनकाद्यः (जनकजयवल्यश्वपतिप्रभृतयः श्रुतिस्मृतिपुराणप्रसिद्धाः क्षत्रिया विद्वांसः) कर्म्मणा (सत्वशुद्धिसाधनभूतेन नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन) एव। संसिद्धिम (सम्यग्ज्ञानम्। मोक्षं गन्तुम) आस्थिताः (प्रवृत्ताः) [तस्मात् त्वमपि] लोकसंग्रहम् (उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणाय लोकस्य स्वधर्म्मे प्रवर्त्तनम्) सम्पश्यन् (अवलोकयन्) अपि, कर्तुम् (निष्कामकर्म संपादयितुम्) अर्हसि (योग्योसि) ॥ २० ॥

पदार्थः— (हि) जिस कारण (जनकादयः) जनक, जयवलि, अश्वपति इत्यादि क्षत्रियनरेश (कर्मणा एव) कर्महीसे (संसिद्धिम्) सिद्धिको (आस्थिताः) प्राप्त हुए अर्थात् कर्म ही करते-करते ज्ञानको प्राप्त हुए। इसीलिये तू भी कर्म ही करनेके योग्य है तथा (लोकसंग्रहम्) संसारीलोगोंको धर्मका ग्रहण करवानेके तात्पर्य्यको (संपश्यन् एव) देखते हुए अर्थात् आवश्यक जानते हुए (अपि) भी तू (कर्तुम्) कर्महीं करनेके (अर्हसि) योग्य है ॥ २० ॥

भावार्थः— कृताकृतसे रहित होना और अपनेको कर्म करने ही का अधिकारी रहना सुन अर्जुनको जो बडी ग्लानि हुई, उस ग्लानिकी शान्तिनिमित्त अर्जुनको सन्तोष देतेहुए भगवान् कहते हैं; कि हे अर्जुन! तू जो ऐसा कहता है, कि तू बडा मन्दभागी है, कि अबहीतक कर्मही करनेका अधिकारी है । ज्ञान साधन योग्य हुआ ही नहीं । सो हे अर्जुन ! तू ऐसी ग्लानिको मत प्राप्त हो ! तू वीर है, राजा है, साहसी है, पुरुषार्थी है, मैं तुझको " अनघ " अर्थात् सर्वपापरहित कहचुका हूं (देखो श्लो० ३) क्योंकि तू सर्वप्रकार निर्दोष और ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें तुझे प्रथम तीन भूमिकायें अवश्य प्राप्त हैं। इसलिये तू किसी प्रकार ग्लानि करने योग्य नहीं है मैंने जो तुझे यह कहा, कि तेरा अधिकार कर्ममें है, इसका कारण यह है, कि प्रारब्धानुसार तू राजाधिकारमें है, करोडों प्रजाकी हानि तथा लाभ तेरे हस्तगत है. तेरे द्वारा इन प्रजाओंका कल्याण होगा। यदि तू

एकबारगी सब कर्मोंको छोड त्यागीके समान वनमें जा बैठेगा तो यह जो तेरे सिरपर प्रारब्धानुसार एक प्रकारका ऋण है उससे तू उत्तीर्ण नहीं होगा । सुन ! [कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः] तुझसे पूर्वज जो जनक, जयबलि, अश्वपति, अजातशत्रु इत्यादि नरेश हुए हैं वे यद्यपि पूर्ण योगी और ज्ञानी थे तथापि प्रारब्धानुसार राजा होनेके कारण कर्महीमें प्रवृत्त रहते थे । क्योंकि कर्ममें प्रवृत्त रहनेसे प्रजागणका कल्याण होता था । प्रारब्धकी प्रेरणासे राजा होनेके कारण इनको प्रवृत्तिमार्गमें रहना पडता था । देख ! वे साधारण नरेश नहीं थे इन लोगोंसे ज्ञान सीखनेके लिये बडे—बडे त्यागी, ब्रह्मवेत्ता, महर्षिगण इनके समीप उपस्थित हो नाना प्रकारकी शिक्षा लाभ करते थे । जनकके पास व्यासदेवने अपने पुत्र शुकदेवको ज्ञान सीखनेके तात्पर्य्यसे भेजा था । जयबलिके पास गौतम पंचाग्निविद्या सीखने गये थे । केकय देशके नरेश केकयके पुत्र अश्वपतिके पास उद्दालकादि ऋषिगण वैश्वानर विद्या सीखने गये थे । (छांदोग्योपनिषद्में इनका विस्तारपूर्वक वर्णन है देखलेना) । ऐसे सम्यग्दर्शी होनेपर भी ये नरेश कर्महीमें प्रवृत्त रहते थे तो तू क्यों नहीं कर्ममें प्रवृत्त होगा ।

देख ! वशिष्ठजी बहुत बडे सम्यग्दर्शी होनेपर भी रघुवंशके पुरोहित बने रहे और श्री रामचन्द्रजीके विवाहके समय शाखोच्चार कर

टिप्पनी—जनक—मिथिला देशके नरेश जानकीके पिता जीवन्मुक्ति पदको प्राप्त कियेहुए नरेशोंमें योगी कहेगये हैं । व्यासदेवने अपने पुत्र शुकदेवको इनके पास ज्ञान सीखनेके निमित भेजा था—यह कथा सर्वत्र पुराणादिमें प्रसिद्ध है ।

अपना कार्य कर्म कर दिखलाया। हे अर्जुन! जब ऐसे महात्मा अपने सम्मुख उपस्थित हुए आवश्यकीय कर्मका सम्पादन करतेरहे, तो तू जिसको ज्ञानकी भूमिकाओंमें केवल तीनही भूमिकायें प्राप्त हैं, कार्य कर्म क्यों नहीं करेगा? तू ज्ञानी है, पर जनकादि नरेशों के समान प्रारब्ध वश तेरे सम्मुख जो तेरा धर्म उपस्थित होगया है उसे करना आवश्यक है।

जयवलिः—"श्वेतकेतुर्हारुणेयः पांचालानाꣳ समितिमेयाय तꣳ ह प्रवाहणो जयवलिरुवाच कुमारानु त्वा शिशात्पिता इत्यनु हि भगव इति" (छांदो० उत्तरार्द्ध अध्या० ५ खण्ड० ३ श्रु० १)

गौतमका पुत्र श्वेतकेतु जो आरुणेय नामसे भी प्रसिद्ध है, पांचाल देशके राजाकी सभामें गया, तब वहांके राजा प्रवाहणनाम जयवलि ने उस श्वेतकेतुसे पूछा कि तुमको पिताने विद्या पढ़ायी है? उसने कहा हां भगवन्! पढ़ाया है—तब जयवलिने अनेक प्रश्नों के पश्चात् यह पूछा, कि "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति" (श्रु० ३ में देखो) तू जानता है जैसे पांचवीं आहुतिमें आकरके जल पुरुषरूप होता है अर्थात् इस जीवका पुनर्जन्म (Metempsychosis) कैसे होता है सो तू जानता है? उस श्वेतकेतुने उत्तर दिया नहीं भगवन् सो मैंने नहीं पढ़ा।

इतना कह उसे ग्लानि हुई, कि भरी सभामें मूर्ख बना। क्रोधमें आकर अपने पिता गौतमके पास जा बोला, कि पिताजी तुमने मुझे पुनर्जन्म की विद्या नहीं पढ़ायी- गौतमने कहा बेटा मैं स्वयम् यह विद्या नहीं जानता। लो अब मैं जयवलिके पाससे यह विद्या सीखकर आताहूं तब तुझे बताऊंगा इतना कह गौतम जयवलि राजाके पास पहुंचा—

श्रु० "स गौतमो राज्ञोऽर्द्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः

दूसरी बात यह है, कि [लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि] इस जगत्‌को धर्मका संग्रह कराना धर्मात्माओंका उचित धर्म है इसलिये तुझे भी लोकसंग्रहके निमित्त कर्म करना उचित है, अर्थात् लोक-संग्रहको भी देखतेहुए बडे लोगोंको ऐसा बर्तावे करना उचित है, कि जिससे संसारी साधारण मनुष्य गण भी

सभाग उदेयाय तस्होवाच मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स हो वाच तवैव राजन्मानुषं वित्तम् यामेव कुमारस्यान्ते वाचम-भाषथास्तामेव मे ब्रहीति ”

अर्थ-सो प्रसिद्ध गौतम राजाके स्थानपर पहुंचा। राजाने उसे आया हुआ देख सम्यक् प्रकार आतिथ्यादि सत्कार किया। फिर दूसरे दिन गौतम प्रातःकाल राजाकी सभामें गया, तब राजानें कहा हे पूज्य महर्षि गौतम! मानुषीवित्त अर्थात् धन सम्पत्तिकी जितनी इच्छा हो मुझसे मांगिये। तब गौतम बोला राजन्! मानुषीवित्त तुम्हारा तुम्हीकी रहे, पर तुमने जो मेरे पुत्रसे पंचाग्निविद्या (पुनर्जन्म) पूछी थी उस विद्याको मुझसे कहो! मै तुमसे सीखने आया हूं। तब राजानें गौतमको पंचाग्नि-विद्या सिखादी (इसका पूर्ण वृत्तान्त छान्दोग्योपनिषद् अ० ५ खं० ३ श्रु० १ में देखो)

अश्वपति—छान्दोग्योपनिषद् उत्तरार्द्ध पंचम प्रपाठक खण्ड ११ श्रु० ४ में यों लिखा है कि एक समय प्रचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल ये पांचों ऋषि उद्दालक मुनिके पास वैश्वानर विद्या अर्थात् भगवान्के विराटरूपकी उपासनाकी शिक्षा निमित्त गये तब उद्दालकने कहा श्रु०-“तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तस्हन्ताभ्यागच्छामेति तस्हाभ्याजग्मुः। अर्थ— हे महात्माओ! मैं इस विद्याको नहीं जानता केकयदेशके नरेश केकयराजका पुत्र अश्वपति इस विद्यामें परम प्रवीण है चलो हमलोग उससे यह सीखने चलें- ऐसा विचार सबोंको संगलिये उद्दालक राजा अश्वपतिके पास गये और उससे यह विद्या सीखी।

अपना-अपना विहित कर्म करतेहुए कल्याणको प्राप्त हों । मुख्य अभिप्राय भगवान्के कहनेका यह है, कि साधारण प्राणी जो बुद्धि-हीन और विद्याहीन होनेके कारण संसार-चक्रका भेद तथा आत्मा, पर-मात्मा, जीव, ब्रह्म, कर्म, अकर्म, विकर्म इत्यादि कुछ भी नहीं जानते । जिनको मलमूत्र परित्याग करनेके पश्चात् शौचका भी पूर्ण विधि ज्ञान नहीं है । वे जो केवल शिष्णोदरपरायण रहकर अपना समय पशु-ओंके समान नष्ट करते हैं और प्रायः अधर्ममें प्रवृत्त रहते हैं तिन की यह दशा (सम्पश्यन्) देखते हुए तिनसे धर्म करानेके तात्पर्य से भी श्रेष्ठ पुरुषोंको कर्म करना चाहिये, अर्थात् प्रजाओंसे धर्म कर-वानेके लिये राजाको भी कर्मोंका साधन स्वयम् करना उचित है । क्योंकि " सर्वे राजाश्रिता धर्मा राजा धर्मस्य धारकः " अर्थ— सब धर्म राजाके आश्रित रहते हैं इसी कारण राजा ही सब धर्मोंका धारण करनेहारा है । इसलिये यदि राजा ज्ञानी भी होजावे तौ भी उसे प्रारब्धवश राजा होनेके कारण प्रजाके धर्म-संग्रहके निमित्त तथा श्रेष्ठ पुरुष होनेके कारण साधारण लोगोंके उपदेश निमित्त कर्म करना योग्य है । जो लोग कृतकृत्य हैं वे भी लोक-संग्रहके निमित्त जब समाधिसे व्युत्थानको प्राप्त होते हैं तो कुछ न कुछ करते ही हैं । क्योंकि " गूंगेको समझाइये गूंगेकी गति आन " गूंगेके प्रति सम-झानेके लिये गूंगेके समान उच्चारण करना पड़ता है । अन्धेको मार्ग बतानेके लिये अन्धेके समान धीरे-धीरे नीचे ऊपर पांव करते चलना पड़ता है ॥ २० ॥

क्योंकि—

मू०—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ २१ ॥

पदच्छेदः— श्रेष्ठः (प्रधानभूतशिष्टपुरुषः) यत् यत् (विहितं प्रतिषिद्धं वा । शुभाशुभम् वा) आचरति (अनुतिष्ठति । करोति) तत् तत् (शुभाशुभम् वा) एव (निश्चयेन) इतरः (अन्यः) जनः (प्राकृतनरः) [आचरति] सः (श्रेष्ठपुरुषः) यत् (लौकिकं वैदिकम् वा) प्रमाणम् (मर्य्यादाम्) कुरुते (मन्यते) तत् (प्रमाणम्) लोकः (जनसमूहः) अनुवर्त्तते (अनुसरति । प्रमाणत्वेन मन्यते) ॥ २१ ॥

पदार्थः— (श्रेष्ठः) प्रधानपुरुष (यत् यत्) जो जो (आचरति) लौकिक वैदिक आचरण करता है (इतरः) दूसरा (जनः) साधारण पुरुष भी (तत् तत्) तिसी-तिसी प्रकारसे (एव) अवश्य आचरण करता है क्योंकि (सः) सो श्रेष्ठ पुरुष (यत्) जिस बातको (प्रमाणम्) प्रमाण (कुरुते) मानता है अर्थात् जिस मर्यादाका निरूपण करदेता है (लोकः) संसारी पुरुष भी (तत्) तिसको (अनुवर्त्तते) प्रमाणभूत समझ तिसके अनुसार चलता है ॥ २१ ॥

भावार्थः— प्रधान पुरुषोंको लोक-संग्रह निमित्त क्यों कर्म करना चाहिये ? इसका मुख्य कारण दिखलाते हुए भगवान् कहते हैं,

कि [यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः] श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है उसीकी देखा—देखी साधारण पुरुष आचरण करता है, अर्थात् महात्मा, ज्ञानी, योगी, विद्वान, माता, पिता, गुरु, राजा इत्यादि संसारमें प्रधान कहलाते हैं क्योंकि ये सर्व कामना रहित हो स्वार्थ परित्याग कर संसारको धर्म-मार्गमें चलाना अपना कर्त्तव्य कर्म समझते हैं। जहांतक संभव होता है अपने ऊपर क्लेश सहन कर लोगोंको धर्म पर दृढ रखनेके लिये धर्मकी मर्य्यादाके पालनमें दृढ रहते हैं और भगवत्स्वरूपको जो सर्वोपर श्रेष्ठ है, भली भांति जानते हैं, इसी कारण आप भी श्रेष्ठ कहलाते हैं। श्रु०— "ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद सो ह वै श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च भवति " (छांदो० पंच०प्रपा० श्रु० १] अर्थ— जो प्राणी श्रेष्ठ ज्येष्ठको जानता है वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। इस वचनके अनुसार संसारमें मुख्य दो प्रकारके श्रेष्ठ पुरुष कहेजाते हैं। ब्रह्मर्षि और राजर्षि । सनातनसे यही दोनों पद प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मण

टिप्पणी—(ऋष्यति प्राप्नोति सर्वान् मंत्रान् । ज्ञानेन पश्यति संसार-पारं वा इति) अर्थात् जो सब वैदिक मंत्रोंको प्राप्त करे अथवा ज्ञान-चक्षुसे जो संसारपारको देखे वही ऋषि कहलाता है। (विद्या विदग्धमतयः ऋषयः प्रसिद्धाः) विद्यासे विदग्ध होगयी है अर्थात् विद्याकी ज्वालासे प्रज्वलित होरही है बुद्धि जिनकी वे ऋषि कहेजाते हैं। रत्नकोषमें लिखा है, कि सात प्रकारके ऋषि होते हैं— सप्त १. ब्रह्मर्षि, २. देवर्षि, ३. महर्षिः, ४. परमर्षयः, ५. काण्डर्षिश्च, ६. श्रुतर्षिश्च, ७. राजर्षिश्च क्रमावराः ॥ वशिष्ठाद्याब्रह्मर्षयः। कण्वाद्या देवर्षयः। व्यासाद्या महर्षयः। भेलाद्याः परमर्षयः । जैमिन्याद्याः काण्डर्षयः । श्रुताद्याः श्रुतर्षयः। ऋतुपर्णाद्या राजर्षयः।

अथवा क्षत्रिय इन दोनोंको निष्काम-कर्मका अभ्यास करते-करते ऋषि-पदवी का लाभ होता है। चाहे वे वनस्थ होकर वनमें निवास करें चाहे अपने आश्रममें रहें। पर वे कहलावेंगे ऋषि। इस कारण ये दोनों श्रेष्ठ हैं। ये संसारके लिये शुभ आचरणोंका सम्पादन करते-रहते हैं। इसलिये इनहीकी देखा-देखी सर्व साधारण अपना-अपना कर्म करते हैं। भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे अर्जुन! तू राजा है, इस कारण तू श्रेष्ठ है! तू जैसा करेगा, तेरी देखा-देखी तेरी प्रजा भी तदनुसार ही करेगी। इसलिये तू निष्कामकर्मोंका सम्पादन कियाकर! कोई क्यों न हो सब वेद-मंत्रोंके अनुसार निष्काम-कर्मको सम्पादन करते-करते मोक्ष पदवीको प्राप्त हुए हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते**] सो श्रेष्ठ पुरुष श्रुतिस्मृतियोंके अनुसार जिस प्रमाणको सिद्धकर जिस मर्य्यादाको प्रमाणभूत मान, चलता है, संसार-निवासी भी तिसी आचरणको प्रमाण मानकर तिसका अनुकरण करते हैं। संसारका स्वभाव है, कि बडोंके पीछे छोटा चलता है। देखो समय—समयपर महात्माओंने गंगास्नान इत्यादिकी मर्य्यादा बांधदी है। तबसे छोटे-छोटे ग्रामके लाखों विचारहित अज्ञानी स्त्री-पुरुष गंगातटमें एकत्र हो स्नान करते और दान देते देखेजाते हैं। भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू भी राजा है, श्रेष्ठ है। इसलिये तू भी लोकसंग्रह-निमित्त जनकादिके समान कर्मोंका सम्पादन कियाकर! ॥ २१ ॥

हे अर्जुन! मेरी ओर देख! मैं भी तो लोकसंग्रह-निमित्त ही

कर्म करता हूं। सो सुन!

मू०—न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

पदच्छेदः— पार्थ! (हे पृथा हृदयानन्दवर्द्धन!) मे (मम परमेश्वरस्य) त्रिषु लोकेषु (स्वर्गमर्त्यपातालेषु) किञ्चन (किंचिदपि) कर्त्तव्यम् (कर्तुंयोग्यं कर्म) न (नैव) अस्ति (विद्यते) [तथा] अनवाप्तम् (अप्राप्तम्।) न (नैव) [अस्ति] [तथाप्यहम्] कर्मणि (वेदप्रतिपादितकर्मणि) एव (निश्चयेन) वर्त्ते (वर्त्तमानोऽस्मि) ॥२२॥

पदार्थः— (पार्थ!) हे पृथाका पुत्र अर्जुन! (मे) मेरे लिये (त्रिषु लोकेषु) तीनों लोकोंमें (किंचन) कुछ भी (कर्त्तव्यम्) करने योग्य कर्म (न अस्ति) नहीं है। और किसी (अनवाप्तम्) नहीं प्राप्त हुई वस्तुको (अवाप्तम्) प्राप्त करना भी (न) नहीं है। तथापि मैं (च) भी (कर्मणि) कर्ममें (वर्त्ते एव) निश्चयकरके वर्त्तमान रहता हूं, अर्थात् मैं भी वेद विहित कर्मोंका सम्पादन कियाकरता हूं॥ २२ ॥

भावार्थ— अब श्री कृष्णचन्द आनन्दकन्द इस वार्त्ताको सिद्ध करनेके लिये, कि जो लोग कृतार्थ हैं वे भी कर्म करते हैं अपना उदाहरण देते हुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे पार्थ! देख!! मेरी ओर देख!!! मैं कौन हूं? सो तू यथार्थ रूपसे नहीं जानता। तू

मुझको इस समय अपना सम्बन्धी, सखा वा अपना सारथी रूप तथा वसुदेव देवकीका पुत्र जानरहा है, पर ऐसा नहीं। ऐसा तू अपने चर्म-चक्षुसे देखरहा है, यदि तुझको दिव्य-चक्षु प्राप्त होजावें तो तू जानलेगा, कि मैं कौन हूं ? तू मुझको सर्वाधार शुद्धस्वरूप परब्रह्म जान! जिस समय देवगणने स्वर्गस्थानमें जाकर मुझसे प्रश्न किया था उस समय मैं ही ने रुद्र-रूप होकर जो कुछ उन लोगोंको कहा था सो श्रुति स्पष्ट रूपसे कहती है— सुन! "अहमेकः प्रथममासं वर्त्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति (अथर्वशिरउपनि० श्रु० १) अर्थ—मैं एकही हूं, पहले मैं ही था वर्त्तमान कालमें भी मैं ही हूं, फिर जो कुछ आगे होनेवाला है सो भी मैं ही हूँ, मेरे विना अन्य कुछ भी नहीं है। हे अर्जुन! जब मैं ऐसा हूं तो फिर तू अपने मनमें विचार तो कर कि मुझको संसारमें किस बातकी इच्छा होसकती है ? मुझको किसीसे क्या अर्थ सिद्ध करना है ? क्या प्राप्ति करनी है ? कुछभी नहीं ! इसी कारण मैं तुझसे कहता हूं, कि [न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन] हे पार्थ ! स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों लोकोंमें मेरे लिये कुछ भी करना नहीं है। क्योंकि किसी देव देवीको प्रसन्न करनेके लिये अथवा किसी क्लेशको दूर करनेके लिये जप, तपके अनुष्ठान करनेका मुझे प्रयोजन नहीं है। क्योंकि मैं तो सर्व-काम-पूर्ण हूं। जब जहां चाहूं चला जाऊं। जब जो चाहूं बनालूं। जब जो चाहूं प्राप्त करलूं। फिर मुझे क्या चाहिये कुछ भी नहीं। [नानवाप्तमवाप्तव्यम्] मुझे किसी अप्राप्त-वस्तुके प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् कोई ऐसी वस्तु नहीं

है जो मुझे प्राप्त न हो। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मुझे किसी लौकिक वा पारलौकिक-शक्तिके प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रिय पाठको! भगवानका यह बचन श्रुतिके अनुकूल ही है—श्रुतिः—न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। [श्वेताश्वतरोपनिषत् अ० ६ श्रु० ८] अर्थ—न उसे किसी इन्द्रिय द्वारा कुछ कार्य्य साधन करना है। उसके समान उससे बढकर कोई दूसरा न देखा जाता है। इस महेश्वरकी विविध प्रकारकी पराशक्ति सुनी जाती है। ज्ञानक्रिया और बलक्रिया दोनों उसकी स्वाभाविकी शक्ति हैं। अर्थात् ज्ञान-क्रियासे ब्रह्मासे कीट पर्य्यन्तके क्षण-क्षणका वृत्तान्त जानता है और बल-क्रियासे देव, देवी, सृष्टि, मुनि आदिको अपने वशमें रखता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! ऐसा स्वतन्त्र होने पर भी केवल लोकसंग्रहार्थ [वर्त्त एव च कर्मणि] मैं भी कर्महीं करनेमें तत्पर रहता हूं। देखो! मुझे इस युद्धसे कोई प्रयोजन नहीं है, तथापि मैं सारथीका अत्यन्त छोटा कार्य्य केवल तेरे कल्याण निमित्त कररहा हूं। क्योंकि जब-जब किसी मेरे भक्तपर किसी प्रकारका क्लेश आपडता है तब-तब मैं शीघ्र प्रकट होकर उस क्लेशसे उसे मुक्त करता हूं। भिन्न-भिन्न अवतारोंको लेकर सदा संसारके भिन्न-भिन्न कार्य्योंका सम्पादन करता रहता हूं। (च) फिर देखो! मैं पंचमहायज्ञ अर्थात् सन्ध्या, हवन, तर्पण इत्यादि नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको भी करता रहता हूं। सो हे अर्जुन! तुझको भी अवश्य मेरा अनुकरण करना

चाहिये। क्योंकि जब मैं अवतार होकर लोक–संग्रहार्थ कर्ममें प्रवृत्त हूं, तो तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, मेरा अनुकरण क्यों नहीं करेगा ?

टिप्पणी–प्रिय पाठको! बहुतेरे नवीन प्रकाशवाले जिनको कलिरूप प्रेतने ग्रस लिया है, जिनकी आंखोंमें विदेशीय विद्याके प्रकाशसे चकाचौंध लगगयी है, वे अवश्य इस श्लोकको पढकर यही कहेंगे, कि कृष्णचन्द्रने अहंकारवश अपनेको ईश्वर कहदिया। वे ईश्वर नहीं थे। यदि थे तो वेदने क्यों नहीं उनको भगवान् कहा ? वेदोंमें उनका नाम कहां है ? और किस वेदने उनको ईश्वर जान कब उनकी स्तुति की है।

मेरे प्यारे नवीन प्रकाशवालो! मैं तुमको वेदसे × कृष्णावतार सिद्धकर दिखलाता हूं सुनो!

" कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकम् । यदप्रवीता दधतेह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसी दुदूतः (ऋग्वेद मण्डल ४ अध्याय १ सूक्त ७ मंत्र ६)

अर्थ– हे ब्रह्मदेव! ते कृष्णं एम तेरे कृष्णस्वरूप अर्थात् तेरे कृष्णावतार की शरण हम लोग प्राप्त हों। वह तेरा कृष्णरूप कैसा है " *रुशतः पुरोभाः " सर्वोके आगे प्रकाश करनेवाला है तथा " चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकम् " जिस का सर्वत्र चलनेवाला तेज शरीरधारियोंके शरीरमें सुन्दरताईका कारण होता है+यदप्रवीता अर्थात् यथार्थ गर्भ नहीं धारण करनेवाली देवकीने जिसको (दधतेहगर्भ) प्रगट करनेके लिये मिथ्या गर्भ धारण किया है।

× हंसनाद द्वितीय भाग मंगाकर अवतारका व्याख्यान बुद्धिमत्ताके साथ पक्षपात छोडकर पढो।

* रुशतः रोचिष्णवर्णः पुरोभाः भाः तव सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरस्तात् भवति (सायणाचार्यः)

+ अप्रवीता–अगर्भा। (वाचस्पतिः)

तुझको भी मेरे समान आचरण करना चाहिये। यदि हमलोग श्रेष्ठ होकर कर्म छोडदेंगे, तो संसारचक्रका नियम भ्रष्ट होजावेगा। क्योंकि हमलोगोंकी देखा-देखी सबलोग कर्म छोड आलसी बनजावेंगे। इसलिये कर्मका स्वरूपतः त्यागना उचित नहीं। हाथ पांवसे प्रकृति आचरणके अनुसार वर्त्ताजाना और अन्तःकरणसे उनके फलोंका त्याग रखना उचित है। इस कारण मनमें कर्मकी सिद्धि असिद्धिकी परवा मतकर। कर्म नहीं करनेवालोंकी गणना आलसियोंमें कीजाती है ॥ २२ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें आप कर्म न करनेसे संसारकी हानि दिखलाते हैं—

मू०— यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

. ऐसा कहनेसे ऋग्वेदका अभिप्राय यह है, कि सचमुच देवकीके गर्भमें कृष्णचन्द्र नहीं थे। केवल गुप्तरूपसे प्रगट होनेके लिये देवकी गर्भवतीके समान देखपडती थी उसके गर्भमें केवल वायुमात्र था जिसको मिथ्या गर्भ कहते हैं। डाक्टरोंसे पूछलीजिये वे भी ऐसे गर्भको (False Pregnancy) झूठा गर्भ कहते हैं। फिर (सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः) अर्थात् आप शीघ्र उत्पन्न होकर दूत होजाते हो। यहां +दूत कहनेके दो तात्पर्य हैं। एक तो यह, कि जन्म लेते ही देवकीको छोड चलेजाते हो। दूसरा जन्म लेकर कंसादि अन्यायियोंके नाना प्रकारके उपद्रव निवारण करते हो। (निरुक्त वैदिक कोषमें दूत शब्दका अर्थ जाननेवाला और निवारण करनेवाला दोनों है।

÷ दूतः—जवतेर्वा, द्रवतेर्वा वारयतेर्वा, "जवतेर्वा गत्यर्थस्य" स हि गच्छति 'द्रवतेर्वा' गत्यर्थस्यैव। " वारयतेर्वा " वारयत्यनर्थान् (देखो निरुक्त खण्ड १ नैगम काण्ड)

पदच्छेद:— पार्थ ! हे (पृथानन्दन !) यदि (चेत्) हि, अहम् (शिष्टपुरुषः) जातु (कदाचित) ÷ अतन्द्रितः (अनलसः) [सन्] कर्मणि (वेदविहिताचारे) न (नहिं) वर्त्तेयम (तिष्ठेयम्) [तर्हि] मनुष्याः (कर्माधिकारिणः पुरुषाः) मम (श्रेष्ठस्य) वर्त्म (मार्गम्) सर्वशः (सर्वप्रकारैः) अनुवर्त्तन्ते (अनुवर्त्तेरन्) ॥ २३ ॥

पदार्थः—(पार्थ!) हे अर्जुन ! (यदि) यदि (अहम्) मैं ही (जातु) कदाचित् (अतन्द्रितः) आलस्य रहित होकर (कर्मणि) वेदविहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंमें (न वर्त्तेयं) नहीं वर्त्तमान होऊं । तो (हि) यह निश्चय है, कि (मनुष्याः) संसारके सब मनुष्य (सर्वशः) सर्वप्रकारसे (मम वर्त्म) मेरे ही पथको (अनुवर्त्तन्ते) अंगीकारकर तदनुसार ही चलेंगे अर्थात् कर्मोंको छोड सब आलसी होजावेंगे ॥ २३ ॥

भावार्थः— अब आनन्दकन्द, ब्रजचन्द अर्जुनके प्रति, आलस्यवश होकर अपने कर्म नहीं करनेका दोष दिखलाते हुए कहते हैं, कि **(यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः)** हे पृथाके हृदयका आनन्द देनेवाला अर्जुन ! यदि आलसियोंके समान मैंभी सब छोड छाड चुप बैठ जाऊं, किसी प्रकारका वेद-विहित आचरण न करूं तो महा अनर्थ हो पडेगा । भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि आलस्य स्वयं एक महा विकार है जिसकी गणना व्यभिचारियोंके लक्षणोंके अन्तर्गत है । गुण, दोष, शुभ, अशुभ, सुख, दुःख इत्यादि

÷ तन्द्रा निद्रा संजाता यस्य स तन्द्रितः । तन्द्रितो न भवतीत्यतन्द्रितः । अनलसः ।

दो विरुद्ध धर्मवाले वीज मनुष्योंके शरीरमें वपन किये हुए हैं । जब सर्वगुण सहित वीजका अंकुर फूटता है तब मनुष्य सर्व-प्रकार आनन्द भोगता हुआ अन्तमें भगवत्से जा मिलता है । इसके विपरीत जब अशुभ वीजका उदय होता है, तब शरीर आध्यात्मिकादि तीनों तापोंको भोगताहुआ अन्तमें विकराल कालके गालमें पड कुम्भीपाकादि नरकोंका दुखः सहता है । उक्त शुभगुणोंमें साहस और उत्साह अत्यन्त उत्तम गुण हैं । इनके उदय होनेसे पुरुषार्थ प्रबल होकर सर्व प्रकारकी सिद्धियां लाभ होती हैं । इसीके विपरीत इन अशुभगुणोंमें ×आलस्य और निरुत्साह महा घोर अवगुण हैं । इनके उदय होनेसे प्राणी पुरुषार्थहीन हो कर्म-हीन होजाता है । दरिद्रता सताने लगती है । ऐसे आलसी दरिद्रोंके दांत, आंख, नाक, कान इत्यादि मैले रहते हैं । उनके घर आंगनमें कूडे घास पत्ते जिधर तिधर पडे देख पडते हैं । मक्खी, मच्छर, छिप-किली और मकडोंके जालसे घर भरा रहता है । चूहे और सर्पोंके बिलसे सारी घरकी दीवाल चालनीके समान छिद्रोंसे परिपूर्ण रहती है । शरी-रमें फोडे, फुन्सी तथा दुर्गन्ध लेप चढाये हुए दिन भर अंग खुजाते हुए चुपचाप बैठे रहते हैं । यदि घरमें आग लगजावे तो बिना किसीके उठाये आप न उठें । चाहे सारा घर क्यों न भस्म होजावे । यही आलसियोंकी मुख्य पहिचान है । आलसीको किसी साधारण शारीरिक कर्म शौचादिक क्रियामें जब उत्साह नहीं होता तो श्रौत, स्मार्त्त, नित्य, नैमित्तिकादिके करनेमें कब उत्साह होसकता है ? कदापि नहीं !

× आलस्य— सुखस्पर्शप्रसंगित्वं दुःखद्वेषणलोलता । शक्तस्यचाप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते ॥ (सुश्रुतः)

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यदि मैं भी आलसियोंके समान चुपचाप बैठा रहूं और 'अतन्द्रितः' निरालस्य हो श्रद्धासहित कदाचित् उत्साह पूर्वक विहित कर्मोंमें न वर्त्तमान होऊं, नित्य नैमित्य कर्मोंको परित्याग, खाट बिछाये दिन भर शयन किये रहूं, तो महा अनर्थ होपडेगा। क्योंकि हे पार्थ ! [मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः] जैसे-जैसे मैं करूंगा सर्व प्रकार तदनुसार ही सब छोटे बडे ब्राह्मणादि चारों वर्ण, ब्रह्मचारी गृहस्थादि चारों आश्रम वाले करेंगे। सब आलसी बन जावेंगे। संसार-नियम बिगडकर संसार-चक्रका वर्त्तमान रहना कठिन होजावेगा। इसी कारण मैं भी उत्साहपूर्वक अपनी पूर्ण शक्ति लगा वेद-विहित लौकिक और पारलौकिक कर्मोंका सम्पादन करता रहता हूं, जिसे देख संसारी पुरुष मेरे कर्मोंका अनुकरण करें।

शंका— भगवान्के कर्मोंके अनुसार करना तो मनुष्योंके लिये असंभव है। क्योंकि गोकुलमें सहस्रों गोपिकाओंके संग विहार करना, अग्निपान करजाना, कनिष्ठिका अंगुलीपर गोवर्द्धन पर्वत उठालेना, ब्रजवासियोंको गोलोकका दर्शन कराना, यमुना-जलमें काली नाग नाथ डालना, मुष्टि, चाणूर इत्यादि बडे-बडे मल्लोंको मार डालना इत्यादि साधारण मनुष्योंसे कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—भगवान् अपनी अलौकिक विभूति अंगीकार करके जब संसारमें प्रगट होते हैं, तब सर्व प्रकारके जीवोंके कल्याण निमित्त जहां जैसा उचित देखते हैं करते हैं। जिन आचरणोंका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि उनसे मनुष्यगण नाना प्रकारकी शिक्षायें पावें।

इसलिये कुछ तो साधारण मानुषी आचरण द्वारा मानव-धर्मकी शिक्षा मनुष्योंको देते हैं और कुछ अपनी लीलासे गम्भीर विषयोंका उपदेश करते हैं। श्री कृष्णभगवानका अवतार लीला—पुरुषोत्तम अवतार कहाजाता है। इसलिये जिस गंभीर विषय को साधारण मनुष्य साधारण रीतिसे नहीं समझ सकते उसे लीलाकरके उपदेश करते हैं। अब यहां उनकी अलौकिक लीलाओंका कुछ संक्षिप्त भेद वर्णन कियाजाता है। सुनो! गोपिकाओं के संगविहार करने की बात जो तुमने कही, सो इस लीलाके दो गुप्त रहस्य और दो भिन्न अभिप्राय हैं। प्रथम तो यह, कि कलिका आरंभ देखकर भक्तोंके लिये प्रेम-मार्गका पूर्ण तत्त्व दिखा दिया। गोपिकाओंको प्रेमके सब अंग सिखला उनको पूर्ण प्रेमी बना संसारको प्रेमका उपदेश किया। दूसरा यह, कि इसी लीलासे यतियोंको यत—धर्मका उपदेश किया। अर्थात् योगियोंको यह उपदेश दिया, कि हे योगियो! जैसे मैंने इतनी सुन्दर-सुन्दर स्त्रियोंके मध्य अपने वीर्य्यको स्थिर रखा है। अपने स्थानसे नहीं टला। उर्ध्वरेता बना रहा। इसीप्रकार तुम भी ऐसे-ऐसे उपद्रवोंके बीच अपने मनको स्थिर रखो! ऊर्ध्वरेता बने रहो! तब शीघ्र मेरे स्वरूपको प्राप्त होजाओगे।

अब अग्नि पीजाने की जो तुमने कही सो सुनो! विचार कर देखो! भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। उन्होंने जितनी रचनायें की हैं, सब अपनी शक्तिके भीतर रखी हैं। देखो! चकोर एक पक्षी बनाया है, जो अग्नि भक्षण करता है, पर न तो उसकी जिह्वा जलती है न कोई अंग जलता है। फिर जिस भगवान्ने एक पक्षीमें अग्नि निगल जानेकी शक्ति प्रदान की है उसी अद्भुत शक्तिको विस्तारकर अपने

शरीरमें अंगीकारकर अग्निपान करलिया तो आश्चर्य क्या है? अग्नि के भयसे जब व्रजवासियोंने आर्त्त होकर उनकी शरण जा पुकारा, तब उनको दुःखी देख आगको पीलिया। इस लीलासे यही उपदेश किया, कि अपनी शरण आयेहुए आर्त्तजीवोंकी रक्षा यदि अग्नि पीजानेके समान कठिनता स्वीकार करनेसे भी होसके तो अवश्य करो! अर्थात् समुद्रमें डूब जानेसे, खड्गके नीचे गला देदेनेसे भी होसके तो परायेकी जानकी रक्षा करो!

फिर जो गोवर्धन उठानेकी बात तुमने कही, सो सुनो! जब व्रजबासी इन्द्रके कोपसे डूबनेलगे तो उनकी रक्षा निमित्त कनिष्ठिकापर गोबर्धन उठा, तिसके नीचे उनकी जान बचायी। इस गोबर्धनलीलासे संसारको यह उपदेश किया, कि परायेकी रक्षानिमित्त यदि मनुष्य अपनी शक्तिसे बाहर किसी पर्वतकेसमान कार्य्यका बोझ अपने सिरपर लेवे तो वह बोझ मेरी कृपासे इतना हलका होजाता है जितना एक छोटी कनिष्ठिका अंगुलीका बोझा। मनुष्यके हृदयमें साहस, धैर्य्य, शौर्य और उत्साह होना चाहिये। निबाहनेवाला तो मैं ही हूं।

कालीनाग नाथने और मुष्टिक इत्यादि वीरोंके मारनेकी जो तुमने कही सो तो पूर्णरीतिसे ब्रह्मचर्य्य पालन करनेसे इतना बल किसीमें भी प्राप्त होसक्ता है, कि इनसे भी कई गुण अधिक बलवानको जीतसके। इसलिये इस लीलासे यह उपदेश किया, कि तुम मनुष्यगण भी ब्रह्मचर्य्यका पालन करो! बचपनमें ही मेरे समान वीर बनजाओगे। यहां शंका मत करो। भगवान् तो बारंबार अवतार

लेकर कुछ लीला करके और कुछ सामान्य रीतिसे पंच महायज्ञ इत्यादिका आचरण करते हुए संसारको अपने अनुकरण करनेका उपदेश करते हैं ।

अब भगवान् कहतेहैं, कि हे वीर अर्जुन ! तू भी इस युद्धमें अपनी अलौकिक शक्ति दिखलाकर संसारी जीवोंको ब्रह्मचर्य्यके महत्वका उपदेश कर ! ॥ २३ ॥

अब श्यामसुन्दर कहते हैं, कि मेरे कर्म नहीं करनेसे संसार में और भी घोर उपद्रव क्या हो पडेगा । सो सुन !

मू०— उत्सीदेयुरिमेलोकानकुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्त्तास्यामुपहन्यामिमाःप्रजाः॥२४॥

पदच्छेदः— चेत् (यदि) अहम् (ईश्वरः) कर्म्म (वेदविहितकर्म) न कुर्य्याम् (नहिकरिष्यामि) [तर्हि] इमे । लोकाः (भूर्भुवःस्वर्लोकादयः) उत्सीदेयुः (कर्मलोपेन विनश्येयुः) च (तथा) संकरस्य (वर्णसङ्करस्य) कर्त्ता (उत्पादकः) स्याम् (भवेयम् । भविष्यामि) [तथा] इमाः। प्रजाः। उपहन्याम् (उपसंहरिष्यामि । धर्मलोपेन विनाशेयम् । मलिनीकुर्य्याम्) ॥ २४ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! (चेत्) जो कदाचित (अहम्) मैं ही (कर्म्म) वेद विहित आचरण (न कुर्य्याम्) नहीं करूं तो (इमे लोकाः) ये सब लोक (उत्सीदेयुः) नाशको प्राप्त होजावेंगे

(च) और (अहम्) मैंही (संकरस्य) वर्णसंकरोंका (कर्त्ता-स्याम्) उत्पन्न करनेवाला होजाऊंगा और ऐसे वर्णसंकरोंकी वृद्धिका कारण होकर (इमाः प्रजाः) इस सम्पूर्ण सृष्टिकी प्रजाओंको (उपहन्याम्) मानो मैंही हनन करडालूंगा। ॥ २४ ॥

भावार्थः— श्री गोलोकबिहारी जगत्-हितकारी इससे पूर्व श्लोकमें जो कुछ कर्म नहीं करनेकी हानि दिखला आये हैं उससे भी अधिक हानि अब इस श्लोक द्वारा दिखलातेहुए कहते हैं, कि [उत्सीदेयुरिमे लोकानकुर्य्यां कर्म चेदहम्] हे अर्जुन! मैं सब लोक-लोकान्तरोंका अधिष्ठाता कहलाकर कुछ कर्म न करूं तो ये मेरे रचेहुए भूः भुवः स्वः इत्यादि सातों लोक कर्म-रहित होनेसे नाशको प्राप्त होजावेंगे। अर्थात् यदि मैं ही अपना तप छोडदूंगा तो लोकसंग्रह कैसे वर्त्तमान रहेगा? यद्यपि मुझको तपकी आवश्यकता नहीं है, केवल इच्छा मात्रसे सब कुछ कर सकता हूं तथापि लोक-संग्रहार्थ तप इत्यादि धार्मिक-कर्मोंको करता रेहता हूँ। इस कारण मैं तुझको कहता हूं, कि मेरे कर्म छोडदेने तथा आलसी बनजानेसे ब्रह्मा भी आलसी बनकर सृष्टिकी रचना परित्याग करेंगे। विष्णु क्षीर-सागरमें चुपचाप पडे रहेंगे। गदा, चक्र लेकर जो दुःखियोंके दुःख निवारणार्थ दौडते हैं सो नहीं दौडेंगे। अपने तपरूप बलसे सम्पूर्ण ब्रह्मांडका पालन करना छोड देवेंगे। तब सारा ब्रह्मांड निराश्रय होकर नष्ट होजावेगा। जब सृष्टि आपही नष्ट होजावेगी तब शिवको भी इसके नाश करनेमें कुछ परिश्रम करनेकी आवश्यकता न रहेगी वे भी आलसी बनकर कैलाश पर्वत पर शयन करते रहेंगे। लो! और

दूसरी रीतिसे सृष्टिका नाश सुनो ! बृहस्पति भी इन्द्रको उपदेश करना छोड देवेंगे। इन्द्र अपना मनमाना भोग-विलास करने लगजावेगा। भूमि पर वर्षा प्रदान करना त्याग देगा। वर्षा न होनेसे घोर दुःख उत्पन्न होगा। सारी प्रजायें नष्ट होजावेंगी। सूर्य, चन्द्र प्रकाश करना छोड देवेंगे। क्योंकि वे मेरे भयसे अहर्निशि भ्रमण कर रहे हैं। वायु बहनेसे रुक जावेगा जिससे सब प्राणियोंके प्राण रुँध जावेंगे।

सबसे अधिक उपद्रव तो यह होगा, कि विषयका प्रबल प्रचार होजावेगा। विषय बढनेसे वर्णसंकरोंकी बृद्धि होजावेगी। सारा ब्रह्मांड वर्णसंकरोंसे भरजावेगा। इसी कारण मैं तुझसे कहता हूं, कि [**सङ्करस्य च कर्त्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः**] वर्णसंकरोंका कर्त्ता भी मैं ही होजाऊंगा। ×वर्णसंकरोंके द्वारा पृथ्वीमें मनुष्योंको अधिक क्लेश पहुंचेगा। जिस कारण मैं ही प्रजाओंके हनन करनेका कारण होजाऊंगा। क्योंकि पाखण्ड, धूर्तता, निर्दयता, लोलुपता, सब अवगुण बढ जावेंगे। देवता, देवीकी पूजा तथा माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवा सुश्रूषा सब शुभ-कर्म लोप होजावेंगे। पितरोंके पिण्ड लुप्त होनेसे पितर दुःखी होजावेंगे।

इस कारण मैं तुझसे कहता हूं, कि यदि मैं अपना कार्य कर्म अर्थात् इन सबोंको नियममें रखना छोडदूं, तो सर्वत्र अनियम होजानेसे प्रजाको अधिक क्लेश होगा। फिर तो " **उपहन्यामिमाःप्रजाः** "

× वर्णसंकरोंसे क्या हानि होती है ? अ० १ श्लोक ४१ में वर्णन होचुका है देखलो

इन प्रजाओंका नाश करनेवाला भी मैं ही समझा जाऊंगा। क्योंकि मेरा नियम भंग देखकर शेष पृथ्वीका बोझ अपने मस्तकसे अलग हटा-देवेंगे । हटाते ही सारा ब्रह्मांड डोलकर टुकडे-टुकडे हो विनश जावेगा । इसी कारण कहरहा हूं, कि मैं स्वयम् अपनी सारी प्रजाओंका हनन करनेवाला बनजाऊंगा ।

लो और सुनो ! इस समय भी इस अपने शरीरसे श्रेष्ठ कह-लाकर नित्यनैमित्तिकादि सब कर्मोंको छोडदूं तो सबके सब मनुष्य मुझे देख कर्म करना छोड देवेंगे । एवम्प्रकार यह संसार जो कर्म ही पर चलरहा है, छूट जानेसे वर्त्तमान नहीं रहेगा, नष्ट होजावेगा । फिर हे अर्जुन ! तू विचार तो सही, कि मैं जो जगत्पर अनुग्रह करने के लिये अवतार लेकर जगतका उद्धार करनेवाला कहलाता हूं सो जगत्को आपत्तिमें डालने वाला कहलाऊंगा ।

हे अर्जुन ! वे लोग भी कृतार्थ-बुद्धि और आत्मवित् होचुके हैं, यद्यपि उनको व्युत्थान अवस्थामें अपने लिये किसी कर्मके करने की आवश्यकता नहीं है तथापि संसारके कल्याणार्थ उनको भी अवश्य कर्म करना ही योग्य है ॥ २४ ॥

इतना सुन अर्जुनने प्रार्थना की, कि हे भगवन् ! तुम तो सर्वे-श्वर हो, इसलिये तुम कर्म करतेहुए भी निर्लेप रहते हो । पर मैं तो साधारण जीव हूं, मुझको तो कर्म करते-करते अहंकार होजानेका भय है । फिर तो अहंकार करते-करते मैं कर्मोंसे बांधा जाऊंगा इस कारण मुझे तो कर्म करना योग्य नहीं है । यह सुन योगेश्वर भगवान बोले—

"अर्जुन ! तू मेरी पिछली बात भूलजाया करता है । ले फिर मैं तुझसे कहता हूं । सुन !"

मू०—सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत !
कुर्य्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम् ॥ २५॥

पदच्छेदः-- **भारत!** (हे भरतवंशोद्भवार्जुन !) **यथा** (येन प्रकारेण) **अविद्वांसः** (अज्ञाः । आत्मज्ञानरहिताः) **कर्मणि** (कर्मफले) **सक्ताः** (कर्तृत्वाभिमानफलाभिसन्धिभ्यामनुरंजिताः) **कुर्वन्ति** (आचरन्ति । व्यवहरन्ति ।) **तथा** (तेन प्रकारेण) **लोकसंग्रहम्** (लोकस्य स्वधर्मे प्रवर्त्तनम्) **चिकीर्षुः** (कर्तुमिच्छुः) **विद्वान्** (आत्मवित्) **असक्तः** (कर्तृत्वाभिमानवर्जितः तथा फलाभिसन्धिरहितः) **कुर्य्यात्** ॥ २५ ॥

पदार्थः— (**भारत** !) हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! (**अविद्वांसः**) विद्यारहित अज्ञानी लोग (**यथा**) जैसे (**कर्मणि**) कर्तृत्वाभिमानमें (**सक्ताः**) फंसकर तथा फलोंमें आसक्त होकर (**कुर्वन्ति**) कर्म करते हैं (**तथा**) तैसे (**लोकसंग्रहम्**) लोकसंग्रह अर्थात् लोकोंको अपने कर्मों प्रवृत्त करनेकी (**चिकीर्षुः**) इच्छा रखनेवाला (**विद्वान्**) आत्मवेत्ता (**असक्तः**) कर्माभिमान तथा फलोंकी कामना छोड (**कुर्य्यात्**) कर्मोंका सम्पादन करे ! ॥२५॥

भावार्थः— श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर कहते हैं, कि हे भारत ! तूं ने जो यह शंका की, कि तू साधारण जीव है इसलिये

कर्म करनेसे कर्मके अभिमानमें फंसकर नष्ट होजावेगा सो ऐसा नहीं होसकता। एकतो तू पवित्र भरत-वंशमें उत्पन्न हुआ है इसलिये भारत कहाजाता है। दूसरा (भा) कहिये ज्ञानको तिसमें जो (रत) उसे कहिये भारत। सो तेरी बुद्धि अज्ञानियोंकी सी नहीं है वरु सदा ज्ञानमें रत है। इसलिये तू बुद्धिमान है, ज्ञानी है। तुझको तो कर्ममें अभिमान अथवा कर्मके फलोंमें आसक्ति ही नहीं होसकती। इसलिये तू निर्भय होकर आनन्द-पूर्वक कर्म कर! देख ज्ञानी और अज्ञानी अर्थात् विद्वान तथा मूर्खोंमें इतना ही तो अन्तर है, कि [**सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत !**] जैसे विचार रहित अज्ञानी कर्मोंमें अभिमान करते हुए नाना प्रकारके कर्मोंको करते हैं। अर्थात् कर्मोंको तो वे उसी प्रकार करते हैं जैसे ज्ञानी करते हैं। बाहरसे देखनेमें तो एक समान देखपडते हैं, पर अज्ञानी और ज्ञानीके कर्म करनेमें आन्तरिक भेद बहुत हैं। अर्थात् मूर्ख कर्ममें आसक्त होकर केवल अपनी तथा कुटुम्बियोंकी भलाईके लिये स्वार्थ वश जैसे करते हैं ऐसे ज्ञानी नहीं करते। इसलिये हे अर्जुन! मेरी तो यही आज्ञा है, कि इसी प्रकार [**कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्**] लोक संग्रहकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् और सर्वशास्त्र-वेत्ता ज्ञानी अभिमान और कर्म-फलोंकी आसक्ति छोड कर कर्मोंका सम्पादन करते रहें।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि आत्मानन्दमें मग्न, भगवत्स्वरूपके रसमें डूबे हुए, जिनको किसी कामनाका प्रयोजन नहीं है, केवल लोकोंको धर्मसंग्रह करानेकी इच्छासे परोपकार निमित्त

कर्मोंका सम्पादन करते रहें। क्योंकि जो प्राणी दयासे परिपूर्ण होनेके कारण जीवोंका दुःख नहीं देख सकते, जिनके हृदयमें सदा कल्याण की इच्छा बनी हुई है, वे कर्मोंमें सदा आसक्ति रहित होकर ही कर्म करते हैं।

शंका— लोकसंग्रहार्थ भी तो एक प्रकारकी इच्छा ही है।

समाधान— लोकसंग्रहकी गणना कामना वा इच्छामें नहीं होसकती। क्योंकि कामना वा इच्छा उसे कहते हैं जिसका फल अर्थात् जिसकी हानि वा लाभ अपने निमित्त हो। विद्वान जो आत्मवित् और भगवत्स्वरूपानुरागी है, किसी प्रकारकी हानि वा लाभ से ही प्रयोजन नहीं रखता। यदि प्रारब्धानुसार किसी घोर दुःखका आगमन उसके सम्मुख होजाता है, तो भगवत्कृपासे ऐसे बिला जाता है जैसे सूर्यके ताप लगनेसे हिम। भगवान् उसके सब पापोंको नाश कर शूलीके समान होनेवाले दुःखोंको कंटकके सदृश सूक्ष्म करडालते हैं। वह भी चित्तके प्रसाद वालेको दुःखदाई नहीं होता। सो भगवान पहले कहचुके हैं, कि "**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते**" अध्या० २ श्लो० ६५। अर्थात् प्रसादके प्राप्त होनेसे सर्वप्रकारके दुःखोंका नाश आपसे आप होजाता है। इसी कारण लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेवालेमें किसी प्रकारकी इच्छा नहीं पायी जाती। शंका मत करो!

अब यहां पाठकोंके कल्याणार्थ यह वर्णन करदिया जाता है, कि लोकसंग्रह निमित्त धर्मके कौन-कौनसे मुख्य अंग हैं।

श्रु०— ॐ त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्म सꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥ (छान्दो० प्रपा० २ ख० २३ श्रु० १)

अर्थ— धर्मके तीन मुख्य स्कन्ध हैं। तिनमें यज्ञ करना, वेदोंका अध्ययन करना और दान देना पहला स्कन्ध कहाजाता है। फिर तप; जिसके अन्तर्गत कृच्छ्र, चान्द्रायण, मौन इत्यादि व्रतोंका विधान कियागया है दूसरा स्कन्ध कहाजाता है। ब्रह्मचारी होकर गुरुकुलमें निवास करना तीसरा स्कन्ध है। इन ब्रह्मचारियोंमें भी "अत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन्" जो आचार्य्यकुलमें मरण पर्यंत निवास करे। अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो वह श्रेष्ठ है। ऐसे धर्म करनेवाले "पुण्यलोका भवन्ति" ब्रह्मादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। तथा ब्रह्मचर्यमें स्थित होकर (अमृतत्व) मोक्षको प्राप्त होते हैं। इसलिये लोकसंग्रहार्थ इतने कर्मोंका करना आवश्यक है ॥ २५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा— भगवन्! यदि इन अज्ञानियोंको यह पता लगजावेगा, कि विद्वान् अपने लिये कुछ नहीं करते केवल हमलोगोंसे कर्म करानेके तात्पर्यसे करते हैं, तो ये सबके सब करना छोडदेवेंगे और ज्ञानी बन बैठेंगे। इसलिये कर्मके स्थानमें उनको ज्ञान ही क्यों न उपदेश किया जावे ?

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि—

मू०— न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
*जोषयेत्सर्व्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
॥ २६ ॥

पदच्छेदः-- कर्मसंगिनाम् (कर्मण्यासक्तानाम) अज्ञानाम् (अविवेकिनाम) बुद्धिभेदम (पराबुद्धेः रहस्यम) न [नहि] जनयेत् (प्रकाशयेत् उत्पादयेत् वा) अपितु (कर्मणः सकाशाद् बुद्धिचालनम) विद्वान् (आत्मवित) युक्तः (समाहितः सन) सर्वकर्माणि (नित्यनैमित्तिकादीनि) समाचरन (सम्यक् प्रकारेण आचरन् सन्) जोषयेत् (सेवयेत) ॥ २६ ॥

पदार्थः---(कर्मसंगिनाम्) कर्ममें आसक्तरहनेवाले (अज्ञानाम्) अज्ञानियोंके प्रति (बुद्धिभेदम) बुद्धिके भेदका रहस्य (न जनयेत्) कभी नहीं प्रकट करे, वरु (विद्वान) आत्मविद् ज्ञानी (सर्वकर्माणि) सर्व प्रकारके कर्मोंको (युक्तः) समाहित चित्त अर्थात् एकाग्रताके साथ करता हुआ (जोषयेत्) प्रीतिपूर्वक उन कर्मोंका सेवन करावे ॥ २६ ॥

* किसी-किसी ग्रन्थमें योजयेत् भी पाठ है। पर भाष्यकार शंकरने योजयेत् पाठ किया है। यदि (योजयेत) पाठ होवे, तो ऐसा अर्थ करना चाहिये, कि विद्वान् आप कर्म करता हुआ अज्ञानियोंको भी कर्मोंमें युक्त करे।

भावार्थः—अर्जुनने जब यह शंका की है, कि अज्ञानी जब जान जावेंगे, कि ज्ञानी आपतो कर्ममें कुछ प्रीति नहीं रखते केवल हम लोगोंसे कर्म करवानेके लिये ऊपरले मनसे कर्म करते हैं। इसलिये हम लोग भी इनके धोखेमें न आकर कर्म छोड ज्ञानी क्यों न बनजावें? इसलिये हे भगवन्! इनको भी ज्ञानका ही उपदेश करना उचित है। कर्मके बखेडेमें डालकर इनका अमूल्य समय तथा अमूल्य आयु क्यों नष्ट की जावे? इसके उत्तर में योगेश्वर भगवान् कहते हैं— [**न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्**] ज्ञानियोंको चाहिये, कि कर्ममें ही डूबे रहनेवाले अज्ञानियोंको बुद्धिका भेद कभी नहीं जनावें। क्योंकि जो अज्ञानी हैं वे संसार ही को मुख्य समझते हैं और परलोक को गौण मानते हैं। जिनके हृदयमें ऐसा जमा हुआ है, कि यह संसार सुख भोगनेके लिये ही बना हुआ है। जो कुछ है यहां ही तक है। आगे कुछ नहीं है। परलोक, स्वर्ग तथा इन्द्रलोक इत्यादि सब विद्वानोंके ढकोसलामात्र हैं। इसलिये अपने बालबच्चोंके आनन्दके लिये जहांतक होसके झूठ सांच बोलकर केवल द्रव्य बटोरना चाहिये। अपनी सुन्दर सुन्दर रमणियोंके संग विहार करना चाहिये। अपने शरीरके पालन पोषण तथा सुख-पूर्वक रखनेके लिये उद्योग करते रहना चाहिये। ऐसे कहनेवाले प्राणी मूढ, अज्ञानी तथा कर्मसंगी कहेजाते हैं। इसलिये भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! जो ज्ञानी हैं वे ऐसे अज्ञानी कर्मसंगियोंके प्रति बुद्धिका भेद न जनावें। यदि ऐसे मूर्खलोगों को कर्मतत्त्व जना दिया जावेगा अथवा उनकी बुद्धिका चालन कर दिया जावेगा तो बडा अनर्थ हो पडेगा। क्योंकि "**अनधिकारिण**-

मुपदेशेन बुद्धिविचालने कृते कर्मसु श्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चानुत्पत्ते रुभयभ्रष्टत्वं स्यात् " अर्थ--अनधिकारियोंकी बुद्धिके विचालन द्वारा इधर कर्मकी श्रद्धा एकदम मिटजानेसे और उधर ज्ञान भी नहीं प्राप्त होनेसे, वे बेचारे दोनों ओरसे भ्रष्ट होजावेंगे। इसलिये ऐसोंको बुद्धिका भेद अर्थात् परमरहस्य नहीं जनाना चाहिये न उनकी बुद्धिका चालन करना चाहिये।

अब यहां उन साधारण कर्मोंका उदाहरण देकर दिखलाया जाता है, कि महात्माओंने साधारण कर्मसंगियोंको बुद्धिभेद नहीं बताकर, केवल गौणफल दिखाकर किस प्रकार कर्मोंमें प्रवृत्त किया है?

यम, नियमके अंगोंमें शौच अर्थात् मिट्टी पानीसे शरीरको पवित्र रखना जो एक साधारण कर्म है, उसके विषे दक्षका वचन है- " शौचे यत्नः सदा कार्य्यः शौचमूलो यतो द्विजः। शौचाचार-विहीनस्य सर्वा निष्फलाः क्रियाः। (दक्षः) अर्थः— शौच ही द्विजोंका मूल है इसलिये शौचमें सदा यत्न करना चाहिये। क्योंकि शौचसे रहित प्राणीकी सब क्रियायें निष्फल होती हैं। फिर वृद्ध पराशरस्मृतेका वचन है, कि " कृत्वार्थशौचं प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च मृज्जलैः। निबद्धशिखाकच्छस्तु द्विज आचमनं चरेत्। (वृद्धपराशरः) अर्थ— वृद्धपराशरका वचन है, कि द्विजको चाहिये, कि शौचकर मिट्टी, पानीसे हाथ पांव धो, शिखा और कच्छाको दृढ बांध आचमन करे। तिस शौचमें किस प्रकारकी मृत्तिका लेनी चाहिये सो कहते हैं— " आहरेन्मृत्तिकां विप्रः कुलालात्सिकतां तथा। विप्रेतु शुक्ला प्राह्योक्ता रक्ता क्षात्रे विधीयते॥ हरिद्रवर्णा वैश्ये तु

शूद्रे कृष्णा प्रकीर्तिता"। (यमः) अर्थ—यमका वचन है, कि कुलालसे मृत्तिका वा रेती ग्रहण करे। ब्राह्मणकेलिये शुक्लवर्ण, क्षत्रियके लिये रक्तवर्ण, वैश्यकेलिये हल्दीका वर्ण और शूद्रके लिये कालेवर्णकी मृत्तिका लेकर शौचादि क्रिया करनेकी आज्ञा कीगयी है। पर सब देशोंमें सब वर्णकी मिट्टी नहीं मिलेगी। इसलिये भृगुजीका बचन है, कि "यस्मिन्देशे तु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका। सर्वा तत्र प्रशस्ता स्यात् तया शौचं विधीयते॥" अर्थ—जिस देशमें जैसा जल होवे और जहां जैसी मिट्टी होवे तहां सोई जल और मृत्तिका प्रशस्त है तिसीसे शौच करे।

अब स्नानकर्मके विषे भी कुछ सुनलो! याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि गुणा दश स्नानपरस्य साधो रूपं च तेजश्च बलंच शौचम्। आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं दुःस्वप्ननाशश्च यशश्च मेधा॥ स्नानमूलाः क्रियाः सर्वाः स्मृतिश्रुत्युदितानृणाम्। तस्मात् स्नानं निषेवेत श्री पुष्ट्यारोग्यवर्धनम्॥ (यांज्ञवल्क्यः) अर्थ—योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि स्नानसे रूप, तेज, बल, शौच, आयुः, आरोग्यता, अलोलुपत्व, दुःस्वप्ननाश, यश और मेधा (बुद्धि) इन दशों प्रकारके गुणोंकी प्राप्ति होती है। मनुष्योंकेलिये सर्वप्रकार श्रौतस्मार्त्त कर्मोंका मूल स्नान है। इसलिये लक्ष्मी, पुष्टि और आरोग्यताकी बढानेवाली स्नानक्रियाको अवश्य सेवन करे।

इन बचनोंसे प्रगट होताहै, कि माहात्माओंने शौच, स्नान इत्यादि कर्मोंको सर्वसाधारणसे सम्पादन करानेकेलिये इन कर्मोंका

महत्त्व वर्णन किया और आप भी करते रहे। यदि इस शौचके यथार्थ तत्त्वको पाकर अज्ञानियोंकी बुद्धि चंचल करदी जावे तो ये सबके सब दन्तधावन तथा स्नानादि शौच क्रियाओंमें श्रद्धा नहीं रक्खेंगे। सबके सब इन क्रियाओंको छोड देवेंगे। फिर इधर तो यह दशा होगी, कि सब-मैले कुचैले देख पडेंगे और रोगोंकी वृद्धि होपडेगी। उधर शौचका यथार्थ तात्पर्य भी नहीं समझेंगे फिर दोनों ओरसे भ्रष्टता प्राप्त होजा-वेगी। इस शौच क्रियाका यथार्थ तात्पर्य अर्थात् परम रहस्य क्या है ? सो कहते हैं सुनो ! " शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः " (पतंजलि साधन पा० सू० ४०) शौच करनेसे मनुष्योंको अंगोंसे जुगुप्सा (घृणा) प्राप्त होती है तिस घृणाके प्राप्त हुए परायेके शरीरसे भी असंसर्ग होजाता है अर्थात् किसीके अंगको स्पर्श करनेका जी नहीं चाहता। घृणा प्राप्त

टिप्पणी- शंका— जब बुद्धि-भेद नहीं बताना वा नहीं करना चाहिये तो यहां शौचका बुद्धि-भेद क्यों बतादिया वा क्यों करदिया ?

समाधान—साधारण कर्म-संगी अज्ञानीके लिये बुद्धि-भेद रोका गया है। तिस का तात्पर्य यह है- बुद्धिसे परे जो पराबुद्धि है वह कर्मकी परावस्था अर्थात् परिपक्वता है तिसे अज्ञानी नहीं समझ सकते सो अज्ञानी गीता पुस्तकका नाम भी नहीं जानते । यदि कहीं नाम भी सुनलिया तो हाथमें नहीं लेते। उनका इस श्लोक तक पहुंचना ही दुर्लभ है। इस तीसरे अध्यायके २६ वें श्लोक तक मुमुक्षु जो मोक्षकी इच्छा वाला है नहीं पहुंचेगा। फिर मुमुक्षुको बुद्धि-भेद जनादेनेमें कोई हानि नहीं है। तिसमें भी एक साधारण कर्मका बुद्धि भेद बतायागया है इससे किसी प्रकारकी हानि नहीं। यह गीताशास्त्र ही बुद्धि-भेद अर्थात् परा बुद्धि तक, जो अव्यक्त है, पहुंचानेके लिये संसारमें प्रकट हुआ है तहां छोटेसे कर्मका बुद्धिभेद बतायागया इससे कुछ हानि नहीं होसकती।

होनेका कारण यह है, कि जब मनुष्य शौचका कोई साधन करने लग-जाता है तब साधते-साधते व्याकुल होजाता है पर मलका निकलना रुकता नहीं । जैसे दन्तधावनके समय जिह्वालेखनिका (जिभिया) से जिह्वाका मल छीलने लगजाइये और हृदय, मस्तक और नासिका की ओरसे कफ निकालते चलेजाइये तो दिनभर निकलता ही चला जावेगा कभी नहीं रुकेगा । ऐसा करते-करते बुद्धिमान् व्याकुल होजावेगा थक जावेगा । जब देखेगा, कि बार-बार इतने परिश्रम करने पर भी शरीर भीतरसे स्वच्छ नहीं होता, तो समझ जावेगा, कि यह शरीर महा घोर नरक है यह कभी शुद्ध नहीं होसकता । इसके अंग-अंगमें अपवित्रता भरी हुई है । फिर तो कैसी भी सुन्दरसे सुन्दर स्त्री क्यों न हो उसके अप-वित्र अंगसे स्पर्श-मात्र भी नहीं करेगा । ऐसा होनेसे ब्रह्मचर्यकी दृढता और तिससे अन्तःकरणकी शुद्धि तिससे मोक्षकी प्राप्ति होगी । इससे सिद्ध होता है, कि शौचसे शरीरकी शुद्धि नहीं वरु मोक्षकी प्राप्तिका ..(५०) है ।

यदि पहले ही से यह भेद अज्ञानियोंको बतादिया जावे, कि शौच से यह शरीर तीन कालमें भी शुद्ध नहीं होता तो जितने अज्ञानी हैं सब इधर शौच भी छोड देवेंगे और उधर यथार्थ देहाभिमान भी नहीं छूटेगा न अन्तःकरणकी शुद्धि होगी, न मोक्ष होगा फिर तो वे दोनों ओरसे भ्रष्ट होजावेंगे । क्योंकि अज्ञानियोंका अन्तःकरण अशुद्ध रहता है इस-लिये आत्मज्ञानका प्रवेश उनकी बुद्धिमें नहीं होसकता । ऐसे अज्ञानियोंको यदि परम रहस्यका उपदेश किया जावे और यों कहदिया जावे, कि तू ही आत्मा है, तू व्यापक है, सर्वत्र है, अजर अमर अविनाशी है, सब

कुछ तेरे अधिकारमें हैं, तो यह आत्मज्ञान अज्ञानीकी समझमें नहीं आवेगा, उलटे सब शुभ कर्मोंको छोड बैठेगा । यज्ञादिको तिलांजलि देदेवेगा । ऐसा कहनेसे इधर स्वर्ग-सुखसे भी हाथ धो बैठेगा उधर मोक्ष से भी बंचित रहेगा । फिर वह भोग और मोक्ष दोनोंसे भ्रष्ट होजावेगा ।

"अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत ।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः" ॥

अर्थ— जो अज्ञानी अर्द्ध-बुद्ध है अर्थात् आधी बुद्धि वाला है उसे सर्व ब्रह्म कहकर ब्रह्मज्ञान उपदेश करना मानो उसे महा रौरव नर्क में डालना है इसलिये भगवान कहते हैं, कि [**जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्**] शास्त्रोंका मर्म जाननेवाला विद्वान् बुद्धियुक्त होकर सब कर्मोंका आचरण करते हुए "जोषयेत्" सर्व कर्मोंका प्रीति-पूर्वक सेवन करावे अथवा "योजयेत्" पाठ करके यों अर्थ करलो, कि अज्ञानियों को सब कर्मोंमें लगावे ॥ २६ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा— भगवन् ! इतना तो मैं समझ गया हूं, कि ज्ञानी कर्मोंके फलसे निःसंग होकर केवल लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हैं और कामनावाले अज्ञानियों को बुद्धिका भेद इसलिये नहीं जनाते हैं, कि कामनाओंकी नहीं पूर्त्ति होना समझ कर वे अज्ञानी कर्म करना छोड देवेंगे पर मेरी समझमें यह बात नहीं आयी, कि यथार्थमें ये कर्म क्यों होरहे हैं ? और अज्ञानी क्यों इसमें फंसजाते हैं ? और ज्ञानी क्यों नहीं फँसते ? इतना सुन श्री गोलोकविहारी अगले दो श्लोकोंमें अर्जुनकी दोनों शंकाओंकी निवृत्ति करते हैं—

मू०—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— प्रकृतेः (माहेश्वरी शक्तेः । गुणत्रय साम्याव-स्थायाः) गुणैः (सत्वरजस्तमोगुणात्मविकारैः कार्यकरणसंघातात्मकैः) सर्वशः (सर्वप्रकारैः) कर्म्माणि (लौकिकानि शास्त्रीयाणि च) क्रिय-माणानि (निष्पाद्यमानानि प्रेरितानि) [किन्तु] अहंकार-विमूढात्मा (कर्तृत्वाभिमानेन विमूढबुद्धिः । अहंकारेण स्वात्म विवेकासमर्थः । कार्यकरणसंघात आत्मप्रायोऽहंकारस्तेनलुप्तबुद्धिर्यस्य सः । अविद्यया कर्माण्यात्मनि मन्यमान) अहम् कर्त्ता (कर्माणांसम्पाद यिता) इति (अनेन रूपेण) मन्यते (जानाति । स्वीक्रियते) ॥ २७ ॥

पदार्थः--(प्रकृतेर्गुणैः) प्रकृतिके तीनों गुणोंसे अर्थात् माया के विकारोंसे (सर्वशः) सर्व प्रकारके (कर्म्माणि) लौकिकवैदिककर्म (क्रियमाणानि) आपसे आप सदा सम्पादित होते रहते हैं पर (अहंकारविमूढात्मा) अहंकारसे मलीन अन्तःकरण वाला (अहम्) मैं ही सब कर्मोंका (कर्त्ता) करने वाला हूं (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है ॥ २७ ॥

भावार्थः—अब श्री सच्चिदानन्द कृष्णचन्द अर्जुनके प्रति यों दिखला-तेहुए, कि इन शुभाशुभकर्मोंका मुख्य कारण क्या है और अज्ञानी कर्मसं-गियोंको इनमें फंसकर क्यों दुःख उठाना पडता है ? कहते हैं, कि [प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः] प्रकृतिके जो सात्त्विक

राजस और तामस तीनों कर्म हैं, वे सब आपसे-आप होते रहते हैं। भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्राणीमात्रका अन्तःकरण इन तीनों गुणोंसे भराहुआ है। ये तीनों गुण ऐसे विमूढ हैं, और ऐसे प्रबल हैं, कि जब इनकी प्रेरणा होती है, तब जिस गुणकी प्रेरणा जिस समय होती है अन्तःकरण तदाकार ही चेष्टा करने लगजाता है। आयुष्पर्य्यन्त क्षण-क्षण ये ही तीनों गुण जो माहेश्वरी मायाकी प्रबलता रखते हैं, बारंबार लौट-लौटकर कर्मोंको करवाते रहते हैं—

प्रमाण— वैराग्यं क्षांतिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या राजसोत्थिताः॥
आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः।
सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः॥
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुः क्षपणंभवेत।
अत्राहं प्रत्ययी कर्त्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः॥
(वेदान्तपंचदशी प्रकरण २ श्लो० १४, १५, १६,)

अर्थ— जब अन्तःकरणमें सत्त्वगुणका उदय होता है, तब वैराग्य, क्षमा, जप, तप, ईश्वर-भजन इत्यादि शोभन कर्मोंके करनेकी इच्छा आपसे-आप होती है। जब रजोगुणका उदय होता है तब काम, क्रोध, लोभ, यत्न (कुछ रचना करनेकी इच्छा) दंभ इत्यादि प्रगट होते हैं। जब तमोगुण उदय होता है, तब आलस्य, भ्रम,

टिप्पणी— इस विषयको भगवान्ने १७ वें अध्यायमें विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। किस गुणकी प्रेरणासे कौन-कौनसे कर्म होते हैं सो सब दिखला दिये हैं।

निद्रा आदि विकार उत्पन्न होते हैं। सत्वगुणसे पुण्य और रजोगुणसे पापकी उत्पत्ति होती है । पर तमोगुणसे न पाप होता है न पुण्य, किन्तु आयु व्यर्थ (मिथ्या) बीत जाती है। एवम्प्रकार सर्व कर्म तो इन गुणोंके प्रेरणासे होते ही रहते हैं, पर संसारकी व्यवस्था ऐसी है, कि प्राणी अपनेको कर्त्ता मानता हुआ अहंकार करता है, कि मैं इन कर्मोंका करनेवाला हूं ॥

जैसे मनुष्यके शरीरमें जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थायें पलटा खाती रहती हैं, इसी प्रकार अन्तःकरण भी सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके चक्करमें पडारहता है । एकके पश्चात् दूसरेकी प्रेरणा होती रहती है । वे गुण ऐसें प्रवल हैं, कि अपनी प्रेरणासे हठात् भला बुरा करवा ही लेते हैं । इसीको मायाशक्ति भी कहते हैं, जो अत्यन्त प्रवल है । अज्ञानियोंको तो ये मायाके गुण दिन रात अपने वशमें रखते ही हैं, पर ये ऐसे प्रवल हैं, कि ज्ञानियों-को भी कभी-कभी अपने चपेटमें ले ही आते हैं और औंधे मुंह गिरा देने चाहते हैं। पर जैसे कोई महा बलवान युद्ध करते समय अपने शत्रुकी मुष्टिका प्रहारसे मूर्च्छित हो गिरते-गिरते संभलजाता है, ऐसे ज्ञानी तो इनकी चपेटकी मूर्च्छासे कभी-कभी अपनेको संभाल लेता है, पर अज्ञानी इनकी चपेटोंको न संभाल मूर्च्छित हो गिरपडता है । जैसे स्वप्नमें सुन्दर रमणीके साथ कामक्रीडामें मग्न होता है, पर यथार्थमें न कहीं रमणी है न काम विलास है । इसी प्रकार मायाकी निद्रामें मूर्च्छित हो अज्ञानी विषयके रमणीय पदार्थको देख अपना समझ यह

अहंकार करता है, कि यह मैं और यह मेरा है और यह मेरे यत्नसे मुझको प्राप्त होता है। यदि मैं न होऊँ तो यह कार्य्य न होगा। इसी अभिप्रायसे भगवान् कहते हैं, कि [**अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते**] अहंकारके कारण जो विमूढात्मा होरहा है अर्थात् जिसकी बुद्धि आत्मतत्त्वको न जानकर अनात्मामें भूलरही है, वही ऐसा मानता है, कि मैं ही इन कर्म्मोंका करनेवाला हूं। आज मैंने यह युद्ध जीता। आज मैंने सुन्दर रत्नोंसे जडे हुए खम्भ सहित राजमहल बनवाया। आज मैंने वापी, कूप, तडागादि बनवाये एवम्प्रकार प्रकृति के गुणोंको भूल आपको कर्त्ता मानता है। ऐसे प्राणीको कितना भी समझायाजावे, कि तू कर्त्ता नहीं है, पर वह तनक भी कुछ नहीं समझसकता। जैसे अन्धेके आगे कोटि दामिनीके प्रकाशसे कुछ भी लाभ नहीं होता, इसी प्रकार अज्ञानीको यथार्थ कर्मोंका भेद बताना वा समझाना निरर्थक है। यदि उससे कहाजावे, कि कर्मोंसे पुत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिका तात्पर्य्य नहीं है, केवल मोक्ष तात्पर्य्य है, अथवा ज्ञान तात्पर्य्य है, तो वह विमूढात्मा सब लौकिक वैदिक कर्मोंको त्याग बैठेगा। क्योंकि उसे तो बिषयसुख छोड और किसी परोक्ष सुखका अनुभव ही नहीं है। वह क्या जाने, कि आत्मा किसे कहते हैं? जैसे एक वर्षके दूधपीनेवाले बालकको पक्वान्न खिलाना दुखदाई है, इसीप्रकार अज्ञानीको आत्मज्ञान बताना दुःखदाई है। क्योंकि वह तो स्वभावतः सुखकी कामनासे कर्तृत्वाभिमानके कारण बारम्बार जनमता मरता रहता है। भवसागरके प्रवाहमें पडाहुवा ऊब-डूब करता रहता है—

प्रमाण— **कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते ।**

नद्यां कीटा इवावर्त्तादावर्त्तान्तरमाशु ते ॥

(पञ्चदशी प्रथम प्रकरण श्लोक ३०)

अर्थ– ये विमूढात्मा भोगोंके निमित्त कर्म करते हैं । फिर आगे कर्म ही करनेकेलिये सुखोंको भोगते हैं । जैसे नदीके लहरोंके प्रवाहमें प्राप्त हुए कीडे एक लहरसे निकल दूसरे लहरमें और दूसरेसे निकल कर तीसरे लहरमें ऊब-डूब करते रहते हैं । इसी प्रकार जीव एक जन्मसे निकल दूसरे जन्ममें गोते खाते हुए फिरते हैं । इनके दुःखोंका अन्त नहीं होता । इसलिये मनुष्योंको चाहिये, कि वे अहंकारसे रहित होकर सर्व प्रकारके कर्मोंका सम्पादन करते रहें । क्योंकि कर्मोंमें बंधजानेका कारण केवल अहंकार ही है ।

प्रश्न= फिर ये अहंकारी अज्ञानी जीव कब इस घोर कर्म-सागरके लहरोंसे छूट निवृत्तिको प्राप्त हो सुखी होंगे ?

उत्तर= सत्कर्म परिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः ।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथा सुखम् ॥
पंचकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृत्तिं पराम् ।

(पंचदशी प्र० १० श्लो० ३१, ३२)

अर्थ= नदीमें डूबतेहुएको कोई दयावान जब प्रवाहसे निकाल लेता है, तब वह नदीके तटके वृक्षकी छायामें खडा हो सुखी होता है । इसी प्रकार संसार लहरोंमें ऊब-डूब करता हुआ प्राणीके सत्कर्मोंकी

जब परिपक्वता होती है तब तत्वदर्शी गुरुदेवसे उपदेश पाकर ×पञ्चकोशोंका विवेक लाभ करताहुआ परम निवृत्तिको प्राप्त होता है।

टिप्पणी—पंचकोशाः= १. अन्नमयकोश। २. प्राणमयकोश। ३. मनोमयकोश। ४. विज्ञानमयकोश। ५. आनन्दमयकोश। इनका वर्णन विस्तारपूर्वक तैतिरीयोपनिषद्में है। देखलो।

पाठकोंके बोध निमित्त यहां भी संक्षिप्तरूपसे इन कोशोंका वर्णन करदियाजाता है। जैसे कोई प्राणी पांच तहके डिब्बेमें अपना हीरा रखछोड़ता है ऐसे ही इन पांच कोशोंके भीतर गुप्तरूपसे आत्मारूप रत्न प्रकाशित होरहा है। सो सुनो।

१. **अन्नमयकोश**—(Bodily vesture) पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्द्धते। देहः सोन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥ (पंचद० प्र० ३ श्लो० ४)

अर्थ— सबसे ऊपरवाला डिब्बा **अन्नमयकोश** है। पहले पिता अन्नको भक्षण करता है तिससे वीर्य उत्पन्न होता है, सो वीर्य माताके रजके साथ मिलकर स्थूल शरीर बनाता है; सो शरीर माताके दूध तथा अन्नादि खाकर बढ़ता है। यही शरीर **अन्नमयकोश** कहलाता है सो यह अन्नमयकोश आत्मा नहीं है। क्योंकि "प्राक्" जन्मलेनेसे पहले "ऊर्ध्वम्" मरनेसे पीछे यह शरीर रहता नहीं है। नश्वर है पर आत्मा नित्य है इसलिये यह शरीर आत्मा नहीं।

२. **प्राणमयकोश** (Vital vesture) —— पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्त्तकः। वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥ (पंचद० प्र० ३ श्लो० ५)

अर्थ-- इस शरीरके अन्तर्गत जो प्राणवायु है, जो सब इन्द्रियोंको अपने अपने कार्य्यमें प्रवृत्त होनेका पूर्ण बल देता है, वही **प्राणमयकोश** है। सो आत्मा नहीं है। क्योंकि "चैतन्य वर्जनात्" यह चेतनतासे वर्जित जड है, पर आत्मा चेतन है इसलिये यह आत्मा नहीं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, किरकिल, कूर्म्म, देवदत्त, नाग

जैसे उन्मादी औषधिद्वारा उन्मादसे मुक्त हो शुद्ध होजाता है ऐसे ही गुरुका उपदेशरूप औषधि पाकर अहंकारसे छूट सुखी होजाता है।

और धनंजय ये दश प्रकारके पवन इसी प्राणमयकोशके अन्तर्गत हैं। यही दूसरा डिब्बा वा दूसरी गुफा है।

३. मनोमयकोश (Sensorial vesture) — अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः। कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः॥
(पंच० प्र० ३ श्लो० ६)

अर्थ— जो अपने इस देहमें अहम् भाव करताहै और घर, पुत्र-पौत्र, बाग बगीचेमें ममता करता रहता है, कि ये मेरे हैं और काम क्रोधादि करके जो भ्रमको प्राप्त होता रहता है वही मनोमयकोश है। "नासौ आत्मा" सो आत्मा नहीं है। क्योंकि एक रस नहीं रहता, पर आत्मा सदा एक रस है इसलिये यह मनोमयकोश आत्मा नहीं।

४. विज्ञानमयकोश (Cognitional vesture)— लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा। चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्द-भाक्॥ (पंच० प्र० ३ श्लो० ७,)

अर्थ— चैतन्य आत्माकी छायासे लिपटी हुई जो बुद्धि है और जो सुषुप्तिकालमें अविद्याके साथ लीन होकर बोध-रहित होजाती है तथा जागृत-अवस्थामें बोधको लियेहुए इस शरीरमें "आ नखाग्रगा" मस्तकसे पैरके तलवों और नख तक व्यापती है इसीको विज्ञानमयकोश कहते हैं। यह कोश चैतन्यके बिम्ब पड़नेके कारण, दुःख सुखका बोध कराता रहता है पर यह भी आत्मा नहीं है। क्योंकि लय होना और प्रगट होना इसका स्वभाव है। इसीके द्वारा मनुष्य नानाप्रकारके विचारोंको करता रहता है और वेदादिके अध्ययनमें उन्नति करता है, पर आत्मा इस स्वभावसे रहित है इसलिये विज्ञानमयकोश भी आत्मा नहीं।

५. आनन्दमयकोश (Vesture of Beatitude) — काचिद-न्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्ब भाक्। पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण

अर्थात् गुरुका सत्संग पाकर प्राणीके मस्तिष्कमें जब शुभेच्छा उत्पन्न होती है तब विचारने लगता है, कि केवल संसारी सुख ही जन्मका तात्पर्य्य नहीं है, वरु कोई अन्य लौकिक-सुख भी है। इसलिये संसारके सुखोंसे जिनका परिणाम केवल दुःख ही दुःख है, छूटनेका यत्न करना चाहिये। जब वह अज्ञानी ऐसा विचार गुरुदेवकी शरण जाता है तब उसे गुरुदेव पंचकोशोंका विवेक कराते हैं। जिसे प्राप्त-

---

लीयते ॥ कादाचित्कत्वतोऽनात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् । विम्बभूतोय आनन्द आत्माऽसौ सर्वदा स्थितेः ॥ (पच० प्र० ३ श्लो० ६, १०)

अर्थ— मनकी वह अन्तर्मुख-वृत्ति, जो आनन्दरूप आत्माके बिम्बको ग्रहण करती है और अनेक प्रकारके पुण्यकर्मोंके फलकी प्राप्ति होनेसे जो सुखी होती है, फिर तिस सुखके भोगकी समाप्तिके पश्चात् निद्रारूपसे लीन होजाती है वही **आनन्दमयकोश** है सो आनन्दमयकोश आत्मा नहीं। क्योंकि विद्युत्के समान क्षणिक ठहर कर लय होजाता है पर आत्माका यथार्थ आनन्द सदा एकरस स्थित रहता है इसलिये यह आनन्द-मयकोश भी आत्मा नहीं है। यह केवल आत्मानन्दका बिम्बमात्र है। जैसे सूर्यका बिम्ब जलमें पडनेसे जलके अन्तर सूर्य प्रकाशमय दीखता है पर वहां सूर्य नहीं, अथवा कोई शृंगारमय अत्यन्त सुन्दर पुरुष वा स्त्रीका चित्र सामने देखनेसे मनको किंचित् उसका आनन्द अनुभव होता है। इसलिये प्राणी चित्रवालेको देखनेकी अभिलाषा करता है पर चित्र यथार्थ और सच्चा आनन्दरूप नहीं है। इसी प्रकार आत्मानन्द और आनन्दमयकोश में अन्तर है।

इसी आनन्दमयकोशके कारण प्राणी दिवा-रात्रि विषयानन्दके पीछे पचमरते हैं। पुत्र, दारा, धन, सम्पत्ति आदिमें जो क्षणिक-आनन्दका अनुभव होता है सो सब इसी कोश का कारण है। यदि यह कोश न हो तो स्त्री- पुरुषमें परस्परके संयोगसे जो आनन्दका अनुभव होता है सो न होवे और तिसके न होनेसे सृष्टिकी वृद्धि भी न हो।

श्री गुरुदेवके उपदेश द्वारा जब प्राणी इन कोशोंसे अरुचि प्राप्त करने लगजाता है तब यथार्थ आत्मज्ञानकी झलक उसके हृदयमें झिलमिलाने लगती है।

कर इन पांच फन्दोंसे छूट परमानन्द प्राप्त करता हुआ भगवत्स्वरूपमें जा मिलता है। प्रमा० श्रु०— स य एवं वित् अस्माँल्लोकात्प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य इमाँल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् एतत्सामगायन्नास्ते हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥ (तैत्ति० भृगुवल्ली दशमोऽनुवाकः श्रु० ५)

अर्थ— सो जो प्राणी एवम्प्रकार पांचों कोशोंका भेद जाननेवाला है वह इस लोकसे निकल पहले अन्नमयकोशसे अपनेको निकाल फिर प्राणमयसे निकाल फिर मनोमयसे निकाल फिर आनन्दमयसे निकाल इन लोकोंकी कामनारूप झंझटसे बाहर हो निष्काम होता हुआ परमानन्दमय हो सामवेदका मंत्र " हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु " उच्चारण करता हुआ परम पदको प्राप्त होता है ।

उक्त परमानन्दकी प्राप्तिकेलिये भगवान यहां ही आज्ञा देरहे हैं, कि सबसे पहले मनुष्योंको चाहिये, कि राजस-तामस-कर्मोंको छोड केवल सात्त्विक-कर्मोंका सम्पादन करना आरंभ करे । जब एवम्प्रकार कुछदिन सात्विककर्म पालन करते-करते उसके अन्तःकरणकी स्थिरता होजावेगी तब उसकी समझमें यह बात आवेगी, कि मैं कर्मोंका कर्त्ता नहीं हूं । केवल प्रकृतिके गुण अर्थात् मायाके त्रिगुणात्मक विकारोंसे सब कार्य्य होरहे हैं । सच तो यह है, कि अज्ञानी केवल अहंकारवश कर्मोंमें फँसकर दुःख पाता है । यथार्थ कर्मोंका भेद नहीं जानता ॥२७॥

अब भगवान् अर्जुनकी दूसरी शंका (ज्ञानी कर्मोंमें क्यों नहीं फँसते ?) का समाधान करते हुए कहते हैं—

मू०— तत्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८

पदच्छेदः— महाबाहो (शत्रुहनने महान्तौ बाहू यस्य तस्य सम्बोधने) गुणकर्मविभागयोः (देहेन्द्रियान्तःकरणान्यहंकारास्पदानि, कर्माणि च तेषां व्यापारभूतानि ममकारास्पदानि तयोः (भास्य-भासकयोर्जडचैतन्ययोर्विकारनिर्विकारयोः । नाहं गुणात्मक इति गुणेभ्य आत्मनो विभागः, न मे कर्माणीति कर्मभ्योऽप्यात्मनो विभागस्तयोः) तत्ववित् (याथात्म्यं वेत्ता) ×तु (निश्चयेन) गुणाः (इन्द्रियाणि) गुणेषु (विषयेषु) वर्तन्ते (वर्त्तमानाः सन्ति) इति (अनेन रूपेण) मत्वा (अंगीकृत्वा । गृहीत्वा) न (नहि) सज्जते (कर्तृत्वाभिनिवेशम् करोति) ॥ २८ ॥

पदार्थः— (महाबाहो !) हे विशाल भुजावाला वीर अर्जुन! तू यह निश्चय जानले! कि (गुणकर्मविभागयोः) गुण और कर्मके विभागोंके (तत्ववित) यथार्थ स्वरूपका जाननेवाला पुरुष (तु) तो (इति) ऐसा (मत्वा) जानकर, कि (गुणाः) तीनों गुणोंके कार्य जो इन्द्रियादि हैं वे (गुणेषु) अपने-अपने विषयमें (वर्त्तन्ते) वर्त्तमान रहती हैं । (न सज्जते) किसी प्रकारके कर्तृत्वाभिमानमें नहीं फंसता ॥ २८ ॥

+ तु शब्देन तस्याज्ञाद्वैशिष्टमाह ।

भावार्थः— अर्जुनने जो श्यामसुन्दरसे यह प्रश्न किया था, कि ज्ञानी इस त्रिगुणात्मक-कर्मके विकारमें क्यों नहीं फँसते और उनको कर्मोंका अहंकार क्यों नहीं होता तिसका उत्तर श्री गोविन्द पूर्व-श्लोकमें देकर फिर इस श्लोकमें भी उसी विषयको अधिक स्वच्छ कर दिखलानेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [तत्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः] हे विशाल भुजावाला अर्जुन ! जो प्राणी गुण और कर्म के विभाग रूप तत्वका जाननेवाला है वह कर्तृत्वाभिमानमें नहीं फंसता सो गुण-कर्मके विभाग क्या हैं ? सो कहते हैं सुनो ! प्रकृतिके सत्व, रज, और तम तीनों गुणोंके जो कार्य ये देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण इत्यादि हैं वे गुण कहलाते हैं । इसी देहमें अन्तःकरणके जो व्यापार हैं वे कर्म कहलाते हैं । इन देहेन्द्रियादिकोंको " गुण " क्यों कहते हैं ? सो सुनो ! पंचभूत जो आकाश, पवन, तेज, जल और पृथ्वी हैं इन पांचोंकी उत्पत्ति तमोगुणसे होती है, पर इनमें तीनों गुणोंके अंश पाये जाते हैं । यद्यपि प्रधान रूपसे ये तमोगुणके कार्य हैं पर शेष दोनों गुण सत्व और रजके अंश भी गौण रूपसे इन पांचों भूतोंमें पायेजाते हैं । यही सर्व सम्मति है । इसलिये इन ही पांचों भूतोंके सत्व-गुण अंशसे पांचों ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं । आकाशके सत्व-गुण अंश से श्रोत्रेन्द्रिय (कान) । पवनके सत्वगुण अंशसे त्वचा (खाल) । अग्निके सत्वगुण अंशसे नेत्र । जलके सत्व गुण अंशसे जिह्वा । पृथ्वीके सत्वगुण अंशसे घ्राण (नाक) । फिर इन पांचोंके एक संग मिले हुए सत्वगुण अंशसे मन, बुद्धि आदि अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार आकाशके रजोगुण अंशसे हाथ । अग्निके रजोगुण अंशसे चरण ।

जलके रजोगुण-अंशसे शिश्नेन्द्रिय (लिंग)। पृथ्वीके रजोगुण अंश से गुदाकी उत्पत्ति होती है। इनही पांचोंके मिलेहुए अंशसे प्राण अपानादि पंच-प्राण उत्पन्न होते हैं। इसी कारण ये सब इन्द्रियां गुण कहलाती हैं स्वयम् ये पांच-भौतिक-देह जो तमोगुणके प्रधान प्रकृति से उत्पन्न है सो भी गुण ही कहलाता है। इसलिये सब गुण ही गुणसे उत्पन्न होनेके कारण गुण कहलाते हैं। इन्हींके जो भिन्न-भिन्न व्यापार— जैसे देखना, बोलना, करना, सुनना, चलना इत्यादि सब कर्म कहलाते हैं।

श्री गोविन्द अर्जुनको कहते हैं, कि इन दोनों के विभागोंको यथार्थरूपसे जाननेवाले "गुणकर्मविभागवित्" कहेजाते हैं।

इस गुणकर्मविभागका दूसरा भेद भी कहते हैं सुनो ! इन्हीं तीनों गुणोंसे सारे ब्रह्माण्ड-निवासियोंके मस्तिष्क तयार हुए हैं। अर्थात् ब्रह्मादि देवगणके मस्तिष्ककी भी बनांवट इन्हींसे है। शुद्ध सत्व-गुणके पूर्ण भागसे विष्णुका मस्तिष्क, शुद्ध रजोगुणके पूर्ण भागसे ब्रह्माका मस्तिष्क तथा शुद्ध तमोगुणके पूर्णभागसे शिवका मस्तिष्क बना है और इन तीनों गुणोंकी जो साम्यावस्था सो एकसंग होजाती है अर्थात् तीनों गुण पूरे-पूरे एकसाथ मिलजाते हैं तो वही प्रकृति कहीजाती है। वह प्रकृति पूर्णपरब्रह्ममें निवास करती है इसलिये ब्रह्मके अधीन है।

अब इनका भेद और सुनो ! पञ्चभूत-पंचीकरण होते समय प्रत्येक भूतने अपना अर्द्धभाग अर्थात् अपनी आधी शक्ति अपने अपने पास रखकर अर्द्ध-भागके चार खण्ड कर शेष चारों तत्त्वोंको देदिया। जैसे अग्निने अपनी उष्णताका आधा भाग अपने पास रखकर

आधी उष्णताके चार भाग कर शेष चार तत्वोंको देदी । इसी प्रकार आकाश, वायु, जल और पृथ्वीने भी अपनी-अपनी आधी-आधी शक्ति अपने पास रख शेष (अर्द्ध) आधी-आधी शक्ति चार टुकडेकर अग्निको देदी । एवम्प्रकार पंच-भूतोंके पंचीकरण होनेसे पच्चीस प्रकृतियां बनगयी हैं । ये भी गुण ही कहलाती हैं । फिर पांचों भूतोंके जो पांच गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हैं वे भी गुण ही कहेजाते हैं ।

जिस प्रकार इन पंचभूतोंके पंचीकरण होकर, पच्चीस विभाग गये हैं इसी प्रकार सत्व, रज और तम त्रिवृत्करण होकर तीन विभा- होगये । अर्थात् सत्वगुणने अपनी आधी शक्ति अपने पास रख शेष आधी शक्ति दो-दो भागकर रजोगुण और तमोगुणके प्रति प्रदान की । इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुणने भी अपनी-अपनी आधी शक्ति अपने पास रख शेष आधी शक्ति दो-दो भागकर रजोगुण और तमो-गुणको प्रदान की है । ऐसा करनेसे इन सब गुणोंके नव प्रकारके भाग होगये हैं। प्रमा० श्रु० "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैका करोत'

इस सृष्टिमें जितने जीव हैं सबोंके मस्तिष्क इन्हीं प्रधान नव विभागोंमें विभक्त हैं । अर्थात् नव प्रकारके मस्तिष्क बनेहुए हैं। इसलिये ये नव विभाग भी गुण ही कहलाते हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि किसी जीवमें सत्वगुण प्रधान है । और रज, तम गौण हैं । किसीमें तमोगुणकी प्रधानता है और सत्व-रज गौण हैं । किसीमें रजोगुणकी प्रधानता है और तम सत्व गौण हैं । जैसे गैया, अजा इत्यादिमें सत्वगुण प्रधान है ।

व्याघ्र, जम्बुक, शूकर इत्यादिमें रजोगुणकी प्रधानता है । फिर सर्प, हस्ती इत्यादिमें तमोगुणकी प्रधानता है । इसी प्रकार मनुष्योंका विभाग करनेसे भी ऐसा बोध होगा, कि किसी मनुष्यमें सत्वगुण, किसीमें रजोगुण और किसीमें तमोगुण प्रधान है । जिसमें जिस गुण की अधिकता है उसका स्वभाव भी उसीके अनुसार बना है । जैसे सात्विक-स्वभाववालेमें दया, क्षमा और मैत्री । राजस-स्वभाववालेमें काम और क्रोध । तामस-स्वभाववालेमें आलस्य, निद्रा इत्यादिकी अधिकता होती है । ये तो गुणोंके विभाग बताये गये अब कर्मोंके विभाग सुनो ! वेदने दो प्रकारके कर्म कहे हैं—विधि और निषेध जिसे पुण्य और पापके नामसे पुकारते हैं । ये दोनों इन्द्रियोंके तथा शरीर वा अन्तःकरणके व्यापार हैं । स्वयम् ये न पुण्य हैं न पाप हैं, पर इतना भेद है, कि उसी देह वा इन्द्रियादिके व्यापारोंको वेदने जहां उचित रीतिसे सम्पादन करनेकी आज्ञा देदी है तहां वे विहित (पुण्य) कहे जाते हैं और उन्हीं व्यापारोंको जहां जिस समय और जिस ठौर सम्पादन करनेकी आज्ञा नहीं दी है तहां वे ही कर्म निषेध (पाप) कहेजाते हैं— जैसे पुरुष और स्त्रीके परस्पर मिलनेका धर्म सर्व जीव-मात्रमें व्यापक है । पर मानव-धर्मकेलिये अर्थात मनुष्यों केलिये इसी इन्द्रियके व्यापारको अपनी धर्मपत्नीमें विधि (पुण्य) और परायी स्त्रीमें निषेध (पाप) कहा है । स्वयम् स्त्री-प्रसंग न पाप है, न पुण्य है । प्रकृतिके गुणोंसे इन्द्रियोंका व्यापार-मात्र है । मुख्य अभिप्राय यह है, कि किसी स्त्रीके साथ भोग कियाजावे, बच्चा उत्पन्न होहीगा । अर्थात् कर्मका फल होहीगा, पर वेदकी आज्ञानुसार

ज्ञानियोंकी दृष्टिमें पराई पत्नीमें पाप होनेसे वर्णसंकरकी वृद्धि होगी और जिससे पितरोंके पिण्डका लोप तथा अन्यान्य-प्रकारके अवगुण संसारमें फैलेंगे। (देखो अ० १ श्लो० ४०) इसी प्रकार सर्व प्रकारके कर्मोंका गुप्त रहस्य कर्मवेत्ता जानते हैं।

अब अन्य प्रकारसे कर्मोंका विभाग बताया जाता है— सुनो! काम-क्रोधादि जो पांचों भूतोंके विकार हैं एक चारगी त्याज्य नहीं हैं। इनका शुद्ध-भाग (Fair portion) ग्रहण करने योग्य और अशुद्ध भाग (Unfair portion) त्यागने योग्य है। अर्थात् इनके भी दो विभाग हैं शुद्ध और अशुद्ध जैसा, कि पहले कहआये हैं, कि अपनी पत्नीके साथ तो कामका शुद्ध भाग है और पराई स्त्रीके साथ अशुद्ध-भाग है। इसी प्रकार क्रोधका शुद्ध भाग वहां तक है जो अपने पुत्र, शिष्य, भृत्य इत्यादिपर उनसे उचित व्यवहार करानेके लिये किया जाता है। और अशुद्ध-भाग वह है, जिसके द्वारा करनेवाले को शूली, कारागार इत्यादिका दुःख भोगना पडता है। इसी प्रकार लोभका शुद्ध-भाग उतना ही है जितनेसे मनुष्य अपनी उन्नति कर सके। जैसे विद्यार्थी धन उपार्जनके लोभसे अथवा मान या उत्तम पदवी पानेके लोभसे दिवा-रात्री अपने ग्रन्थोंके कण्ठाग्र करनेमें चित्त लगाता है और अशुद्ध-भाग वह है, जिससे चौरगण चोरी करते हैं। मोहका शुद्ध-भाग दया और करुणा है, जिससे दुखियाके दुःखकी निवृत्ति कीजाती है और अशुद्ध भाग अज्ञानता है जिसके द्वारा प्राणी आत्म-हत्या कर बैठता है। अहंकारका शुद्ध-भाग वह है— जिससे अपना उचित व्यवहार साधन कियाजावे- जैसे मैं ब्राह्मण हूं, ऐसा अहंकार होनेसे

बुद्धि बनी रहती है, कि मुझे सन्ध्या इत्यादि करनी चाहिये। अहं-कारका अशुद्ध-भाग वह है जिससे अपनी सम्पत्ति वा अपनी जाति के घमंडसे अन्य प्राणियोंको तुच्छ समझते हैं। इसीको कर्मोंका विभाग कहते हैं।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जो प्राणी गुण कर्मके विभागको एवम्प्रकार यथार्थरूपसे जानता है, वह सदा ऐसा समझता है, कि [गुणागुणेषु वर्त्तन्त इति मत्त्वा न सज्जते] गुण जो देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण इत्यादि हैं वे (गुणेषु) अपने-अपने विषयोंमें आपसे-आप वर्त्तमान रहते हैं। ऐसा समझकर किसी कर्मके कर्तृत्वाभिमानमें नहीं फंसता। क्योंकि आत्माको इनसे कोई तात्पर्य्य नहीं है। आत्मा तो केवल साक्षीरूप है। जैसे मार्गपर दो पागल परस्पर पागलपनेकी बातें करते हंसते-हंसते मारपीट करने लगजाते हैं, पर मार्गचलनेवालोंको उनके हंसने वा लडनेका कुछ भी हर्ष-विषाद नहीं होता वे केवल साक्षीरूप हैं। इसी प्रकार जो ज्ञानी है वह ऐसा जानता है, कि मैं जो शुद्ध निर्म्मल आत्मा हूं, इन गुण और कर्मोंसे कोई तात्पर्य्य नहीं रखता। मैं इनसे विलग हूं। इसीलिये यहां ऐसा भी अर्थ करना चाहिये, कि गुणकर्मसे अपने आत्माका विभाग करनेवाला जो (तत्त्ववित्) है वह अपने आत्माका इन गुणकर्मोंसे विभाग करलेता है।

श्रीधरस्वामीने इस श्लोककी टीकामें यों कहा है, कि—

नाहं गुणात्मक इति गुणेभ्य आत्मनो विभागः।
नाहं कर्मात्मक इति कर्मभ्य आत्मनो विभागः।

तयोर्गुणकर्मविभागयोस्तत्त्वस्वेत्तीति तत्त्ववित् । (श्रीधरः)

अर्थ— मैं जो आत्मा सो गुणात्मक नहीं हूं अर्थात् मायाके गुणोंसे विलग हूं । मैं कर्मात्मक भी नहीं हूं इसलिये कर्मोंसे भी विलग हूं । ऐसा अपनेको गुण और कर्मसे विभाग कर अलग रहने-वाला जो प्राणी है वही " गुणकर्मविभागवित् " कहाजाता है । भगवान कहते हैं, कि वही प्राणी किसी कर्मके कर्तृत्वाभिमानमें नहीं फंसता है अर्थात् अपनेको किसी कर्मका कर्त्ता नहीं मानता है ॥ २८ ॥

अब भगवान् अर्जुनके प्रति गुणकर्मके विभाग नहीं जानने वालोंके विषय कहते हैं—

मू०—प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
॥ २९ ॥

पदच्छेदः— प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः (मायागुणैः सत्वादिभिः तथा देहादिभिर्विकारैः संमोहिताः) गुणकर्म्मसु (देहेन्द्रियान्तःकरणानां व्यापारेषु) सज्जन्ते (दृढतरामात्मीयबुद्धिं कुर्वन्ति) [तस्मात् कारणात्] कृत्स्नवित् (परिपूर्णात्मवित्) तान् (उक्तान् । संमूढान्) अकृत्स्नविदः (कर्मफलमात्रदर्शिनः) मन्दान् (मन्द-प्रज्ञान् । शास्त्रार्थग्रहणासमर्थान् मन्दमतीन् वा अशुद्धचित्तत्वेन ज्ञानाधिकारमप्राप्तान्) न (नहि) विचालयेत् (बुद्धिभेदं नापादयेत्। कर्मनिष्ठातो न प्रच्यावयेत् वा) ॥ २९ ॥

पदार्थः— (प्रकृतेर्गुणसंमूढाः) प्रकृतिके गुणोंसे अर्थात् सात्विक, राजस और तामस गुणोंसे उत्पन्न देह-इन्द्रियादिके विकारोंसे जिनका चित्त मोहित होरहा है ऐसे जो मूढ हैं वे (गुणकर्मसु) देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणके व्यापारमें (सज्जन्ते) दृढकरके आत्मीय-बुद्धि करते हैं, और ऐसा समझते हैं, कि मैं सब कुछ कर-रहाहूं इसलिये (कृत्स्नवित्) पूर्ण तत्त्वज्ञानी (तान्) तिन (अकृत्स्नविदः) केवल कर्मफल मात्रमें आसक्त रहनेवाले अज्ञानी (मन्दान्) मन्दमति पुरुषोंको (न विचालयेत्) कर्मनिष्ठासे चलायमान न करे ॥ २९ ॥

भावार्थः— श्यामसुन्दरने जो पहले अर्जुनसे कहा था, कि अज्ञानियोंको बुद्धिका भेद नहीं बताना उसी तात्पर्य्यका उपसंहार इस श्लोकमें करते हैं। बुद्धिमान् इसे पुनुरुक्ति न समझेंगे। इस संसारमें दो प्रकारके मनुष्य हैं। एक जो "कृत्स्नविद्" अर्थात् पूर्णतत्त्ववेत्ता अथवा सर्वज्ञ कहेजाते हैं। यद्यपि सर्वज्ञ उपाधि केवल उस परब्रह्म जगदीश्वरकी ही है, तथापि जो उसका भक्त है, जो दिवा-रात्रि अपना सर्वस्व-रूप उसीको समझकर उसीके स्मरणमें मग्न रहता है, वह भी उसीका स्वरूप होजाता है, तो उसके सर्वज्ञ होनेमें क्या सन्देह रहा। ऐसा आत्मज्ञानी हरिभक्त सृष्टिकी उत्पत्तिसे प्रलय पर्य्यन्त सृष्टिक्रमको जानता है— प्रमाण श्रुतिः— "**आत्मनेन वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्वा विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्**" ॥

अर्थ— आत्माके दर्शनसे, श्रवणसे, माननेसे और जाननेसे यह

सारी सृष्टि जानी जाती है । इसलिये ऐसे प्राणीको " कृत्स्नवित् " कहसकते हैं ।

दूसरा वह जो आत्माके विषे तो कुछ भी नहीं जानता न सृष्टिक्रम जानता है, न भला बुरा जानता है । जो कुछ जप, तप, पूजा, पाठ इत्यादि करता है फलोंकी आशासे करता है । उसे " अकृत्स्नवित् " कहते हैं ।

अब इन दोनोंके विषे भगवान् कहते हैं, कि [**प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु**] प्रकृतिके तीनों गुणोंमें फँसे रहने के कारण जो मूढ होरहे हैं अर्थात् प्रकृति जो माहेश्वरी माया तिस करके इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंके विषयोंमें मोहित होकर कर्मोंके सम्पादन में लगे रहते हैं, वे "अकृत्स्नविद्" ऐसे हैं, जैसे मद्यपी मद्यपान कर शरीरकी सुधि भूल मत्त होजाता है। इसलिये विषयोंके भोगमें दृढ आत्मीय-बुद्धि कियेहुए ऐसा समझता है, कि ये सब मेरे हैं मुझसे कभी नहीं छूटेंगे । ऐसा विचार दिन-रात कर्तृत्वाभिमानमें रत रहता है । तहां भगवान कहते हैं, कि [**तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्**] " कृत्स्नविद् " जो आत्मज्ञानी है, वह ऐसे अकृत्स्नविद् मूर्खकी बुद्धिको कर्मसे चलायमान न करे । अर्थात् उसकी कर्मनिष्ठामें रोक टोक न करे । ऐसा न कहे, कि कर्मों का फल नश्वर है । और ऐसा भी न कहे, कि " तू जो अपनेको कर्त्ता कहता है सो मिथ्या है । तू ब्रह्म-रूप है " तुझे कुछ कर्त्तव्य नहीं । ऐसा कहदेनेसे न वह इधरका रहेगा न उधरका । क्योंकि इधर कर्मों

को भी छोडदेगा और उधर उसको आत्मज्ञानकी भी प्राप्ति न होगी। दोनों ओरसे भ्रष्ट होजावेगा इसलिये उसकी बुद्धिको चलायमान न करे ॥ २६ ॥

इसी कारण हे अर्जुन ! अब तुझे क्या करना चाहिये सो सुन—

मू०— मयि सर्वाणि कर्म्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्म्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः॥
॥ ३० ॥

पदच्छेदः— मयि (वासुदेवे) अध्यात्मचेतसा (विवेकबुद्ध्या) सर्वाणि (सकलानि) कर्म्माणि (लौकिकानि शास्त्रीयाणि च) सन्न्यस्य (समर्प्य) निराशीः (त्यक्ताशीः। फलमनिच्छुर्वा) निर्ममः (ममताशून्यः) [तथा] विगतज्वरः (विगतशोकः सन्) युद्ध्यस्व ! (संग्रामम् सम्पादय !) ॥ ३० ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! तू (मयि) मुझ वासुदेवमें (अध्यात्मचेतसा) विवेककी बुद्धिसे (सर्वाणि कर्म्माणि) सब लौकिक और वैदिक कर्मोंको (सन्न्यस्य) समर्पण करके (निराशीः) फलकी आशा त्याग (निर्ममो भूत्वा) पुत्र, पौत्र, पितामह इत्यादिकी ममता छोड तथा (विगतज्वरः) इन अपने सम्बन्धियोंके मारेजानेके शोकसे रहित हो (युद्ध्यस्व) युद्ध कर !
॥ ३० ॥

भावार्थः— जिस प्रकार कोई चतुर गायक गान करते-करते अपने तालपर पहुंच जाता है। इसी प्रकार योगेश्वर भगवान् उपदेश

करते-करते अर्जुनके कार्य-क्रम युद्धपर आपहुंचते हैं । ठौर-ठौरमें पुनः पुनः अर्जुनको युद्ध करनेका संकेत दिखलाकर अर्जुनसे निष्काम-कर्मका सम्पादन करवा कर संसारको आदर्श दिखाया चाहते हैं। इस-लिये यहां ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंके कर्मोंके विषय कहते-कहते अर्जुनको मुमुक्षु अर्थात् मोक्षका अभिलाषी जान कहते हैं, कि हे अर्जुन! सुन तू भी ऐसा कर, कि [मयि सर्व्वाणि कर्म्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा] अध्यात्म-बुद्धिसे मेरेमें सब लौकिक-वैदिक-कर्मोंको समर्पण करदे, । जैसे सेवक अपना सब काम-धाम अपने स्वामीके निमित्त सम्पादन करता है,अपना ममत्व कुछ भी नहीं रखता । इसी प्रकार तू ऐसा समझ, कि मैं जो कुछ करता हूं भगवत्की प्रेरणासे करता हूं। मैं उसके अधीन हूं । ऐसी बुद्धिसे सब लौकिक और वैदिक कर्मोंको मुझ वासुदेव जगत्पति, जगदाधार, परमेश्वर, सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्व-कार्य-नियन्तामें (सन्न्यस्य) समर्पण करके फलकी आशा त्याग जय वा पराजयमें मुझ वासुदेव अन्तर्यामीकी ही इच्छा और प्रेरणा जान ! ममता शून्य होकर अर्थात् पुत्र, पौत्र, धन, सम्पत्ति और राज पाटमें किसी प्रकार का स्नेह न करके (विगतज्वरः) भीष्म, द्रोण तथा अपने बान्धवों और सुहृदोंके मारेजानेका शोक तृणके समान त्याग करके मेरे कहनेके अनुसार (युद्धयस्व) युद्ध कर ! जो कुछ होनेवाला होगा होरहेगा। इसमें तनिक भी किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर ! श्रुतिका वचन है-

" आरभ्य कर्म्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वा*न्विनियोजयेद्यः

* विनियोजयेत् - ईश्वरे समर्पयेत् । (शंकराचार्यः)

तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स +तत्त्वतोन्यः ”

अर्थ— जो प्राणी सात्विकादि गुणोंसे युक्त कर्मोंका सम्पादन करके तथा सर्व प्रकारके भावोंको भी पूर्ण करके ईश्वरमें समर्पण करता है, वह प्राणी ईश्वरमें कर्मोंका समर्पण होजानेसे तथा उनका अभाव होजानेसे अर्थात् सब कर्मोंके क्षय होजानेसे अन्यतत्व जो परमपद तिसे प्राप्त होजाता है। भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि वेदने जिस कर्मको विहित किया है उसे निष्काम होकर सम्पादन करना चाहिये। हां! जो कर्म निन्दनीय है वह नहीं करना चाहिये। युद्ध क्षत्रियोंके लिये अनिन्दितकर्म है इसलिये भगवान् अर्जुनको युद्धकी आज्ञा देरहे हैं। श्रुतिकाभी बचन है- श्रु० “ॐ यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि । नो वा इतराणि । ” [तैत्ति० वल्ली १ अनु० ११ श्रु० २]

अर्थ—जो कर्म “अनवद्य” अर्थात् अनिन्दित हैं वे सेवन करने योग्य हैं। इनसे इतर कर्म सेवन करने योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार जो हमारे श्रेष्ठ आचरण हैं वे ही तुझसे उपासना करने योग्य हैं। इतर नहीं ॥ ३० ॥

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! जो प्राणी इस मेरी आज्ञानुसार आचरण करता है उसकी कैसी गति होती है? सो सुन!

+ तत्त्वतोन्यः—विशुद्धसत्वो याति । (शंकराचार्यः)

मू०— ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्तिमानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

पदच्छेदः— ये मानवाः (मनुष्याः) श्रद्धावन्तः (श्रद्धानाः । शास्त्राचार्योपदिष्टेऽर्थेऽननुभूतेऽप्येवमेवैतदिति विश्वासः श्रद्धा तद्वन्तः) ×अनसूयन्तः (दोषमपश्यन्तः) मे (मदीयम) इदम् मतम् (सम्मतिम् । अभिप्रायम् । आशयम) नित्यम् (नित्यवेदबोधितत्वेनानादिपरंपरागतम्) अनुतिष्ठन्ति (अनुवर्त्तन्ते) ते (मानवाः) अपि, कर्मभिः (शुभाशुभकर्मजालैः) मुच्यन्ते (विमुक्ता भवन्ति) ॥ ३१ ॥

पदार्थः— (ये मानवाः) जो मनुष्य (श्रद्धावन्तः) इन वचनोंमें श्रद्धा करते हुए (अनसूयन्तः) तथा इनमें किसी प्रकारका दोष न निकालते हुए (मे मतमिदम्) मेरे इस मतको (नित्यम्) सदा (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं (तेऽपि) वे भी (कर्मभिः) कर्मोंके जालसे (मुच्यन्ते) छूटजाते हैं ॥ ३१. ॥

भावार्थः— अब भगवान् इस अपने पूर्वोक्त उपदेशके अनुसार आचरण करनेवालोंकी गति वर्णन करते हुए कहतेहैं , कि [ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः] जो मनुष्य-वृन्द ऊपर कथन कियेहुए मेरे मतको मानकर इसके अनुसार आचरण करनेमें तत्पर रहते हैं वे सदा मुक्त हैं । किस प्रकार तत्पर रहते हैं सो कहते

× गुणेषु दोषाविष्करणम्=असूया= न असूया=अनसूया ।

हैं, कि [श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः] पूर्ण श्रद्धा रखेहुए अर्थात् पूर्ण विश्वास रखेहुए तथा इन वचनोंमें दोष आरोपण नहीं करतेहुए वा निन्दा नहीं करते हुए मेरे जो इस मतको मानते हैं [मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः] वे भी कर्मोंके फांससे मुक्त होजाते हैं । इस श्लोकमें जो " नित्यम् " शब्दका प्रयोग कियागया है तिसका यों भी अर्थ होसकता है, कि यह मेरा वचन जो नित्य है अर्थात् सर्वदा संसारमें प्रचलित है, अनादि है और परम्परासे चला आरहा है उसे जो मानते हैं वे मुक्त हैं ॥ ३१ ॥

अब भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी मेरी इस आज्ञानुसार मेरे इस मतको नहीं मानता, उसकी क्या दुर्दशा होती है ? सो हे अर्जुन ! सुन !

मू०– ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः— तु (पुनः) ये (मानवाः) अभ्यसूयन्तः (दोषसमुद्भावयन्तः । गुणेऽपिदोषमारोप्य निन्दन्तः) मे (मम) एतत् मतम् (ईश्वरार्थकर्मकर्तव्यमित्यनुशाशनम्) न (नैव) अनुतिष्ठन्ति (अनुवर्त्तन्ते) तान्, अचेतसः (विवेकशून्यान् । दुष्टचित्तान्वा) सर्वज्ञानविमूढान् (कर्मज्ञाने सगुणज्ञाने निर्गुणज्ञाने चेति सर्वेषु ज्ञानेषु विविधप्रमाणप्रमेयप्रयोजनविभागे मूढान् सर्वप्रकारेणायोग्यान) नष्टान् (सर्व पुरुषार्थेभ्यो भ्रष्टान् । स्वर्गापवर्गविभ्रष्टान् वा) विद्धि (जानीहि) ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(तु) फिर (ये) जो मनुष्य (अभ्यसूयन्तः) नाना प्रकारके दोषोंको आरोपण करतेहुए (एतत्) इस (मे) मेरे (मतम्) मतको (नानुतिष्ठन्ति) नहीं पालन करते हैं तिनको (अचेतसः) ज्ञानहीन दुष्टचित्त (सर्वज्ञानविमूढान) सर्व प्रकारके ज्ञानसे मूढ और (नष्टान्) सर्व प्रकारके पुरुषार्थसे नष्ट (विद्धि) जान ! ॥ ३२ ॥

भावार्थः— यह पृथ्वी बहुतही बडी है और इसमें नाना प्रकारके मनुष्य हैं। इस कारण ऐसी कौनसी घटना है जिसका होना असम्भव हो। इस संसारमें बहुतेरे प्राणी चोर, बहुतेरे चाण्डल, बहुतेरे मूर्ख, बहुतेरे विद्वान्, बहुतेरे साधु, बहुतेरे कसाई तथा बहुतेरे नास्तिक वेदोंकी निन्दा करनेवाले भी जहां तहां वर्त्तमान हैं, जो परमेश्वरको ही नहीं मानते। फिर जिन्होंने परमेश्वरहीको न माना वे इस गीताशास्त्रको जो स्वयं भगवान्के मुखारविन्दसे प्रकट होकर पांचवां वेद समझाजाता है, कैसे मान सकते हैं अर्थात् नहीं मानेंगे। इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्**] जो लोग इस मेरे मतको अर्थात् मेरी आज्ञाको नहीं मानते हैं, तथा इसके अनुसार कर्मोंका सम्पादन स्वीकार नहीं करते हैं, वरु इसके प्रतिकूल इन मेरे वचनोंकी निन्दा करते हैं और एवम्प्रकार निन्दाकरते हुए औरोंको भी बहकाते हैं। वैदिक-कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करने देते। दिवारात्रि मद्यपान, हिंसा, व्यभिचारादि कपूय आचरणोंको करते हैं और करवाते हैं- [**सर्वज्ञानविमूढां-**

स्तान् विद्धि नष्टानचेतसः] तिनको हे अर्जुन ! तू सर्वप्रकारके ज्ञानोंसे मूढ, नष्ट तथा उन्मादी जान । अर्थात् ऐसे प्राणी लोक परलोक दोनों ओरसे भ्रष्ट होते हैं । न उनको इस संसारमें कुछ सुख मिलता है न परलोकमें । नीची योनियोंमें प्राप्तहोकर कुलालचक्रके समान इसी लोकमें जन्मते मरते रहते हैं । इसी कारण वे अचेत, बुद्धिहीन होकर सर्वप्रकारके ज्ञानसे मूढ रहते हैं । आत्मा, परमात्मा, जीव, ब्रह्म, स्वर्ग, नरक, बन्धन, मोक्ष इत्यादिका कुछ भी बोध उनको नहीं होता है ।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इस गीताशास्त्रमें जो भगवान्ने दो प्रकारकी निष्ठाका वर्णन किया अर्थात् सांख्योंके लिये " ज्ञानयोग " और योगियोंकेलिये " कर्मयोग " तहां यह दिखलाया, कि विना कर्म कोई निष्कर्म्म नहीं होसकता । निष्काम होकर यज्ञार्थ कर्मोंका सम्पादन करना वेदविहित बताया । तिसके द्वारा मनुष्य और देवताओंमें परस्पर भाव बने रहनेसे सृष्टिचक्रका वर्त्तमान रहना बतलाया । तहां लोकसंग्रह-निमित्त तत्त्ववेत्ताओंको भी कर्म करनेका अधिकारी बताया, जिससे अज्ञानियोंकी बुद्धिको कर्मसे अरुचि न होनेपावे । फिर उसीके साथ-साथ यह बतलाया, कि जैसे अज्ञानी कर्त्तृत्वाभिमान तथा कर्म-फलमें आसक्त होकर कर्मोंका सम्पादन करते हैं ऐसे ज्ञानी न करे । फलोंको भगवानमें अर्पण करताजावे तो अवश्य कर्मोंसे मुक्त होकर भगवतमें जा मिलेगा । यही भगवानका मत है । इसको जो मानता है मोक्ष लाभ करता है । इसी मतके विषे भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि जो नहीं मानता वह अज्ञानी

और नष्ट है । क्योंकि यह मेरा मत निन्दाकरने योग्य नहीं है । इसी कारण हे अर्जुन ! मैं तुझसे कहता हूं, कि जो प्राणी मेरे इस मतको नहीं मानता है उसको तू प्रमादी जान !

" सर्वज्ञानविमूढान् " का विकल्प करके नीलकण्ठादि टीकाकारोंने ऐसाभी अर्थ किया है, कि " सर्व " शब्द ईश्वरवाची है श्रु०— " सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः" अर्थ— सबमें तू व्याप्त है इसलिये तू " सर्व " कहाजाता है । इस श्रुतिके वचनानुसार "सर्व" कहिये ईश्वरको तिस ईश्वरके ज्ञानके विषय जो एकवारगी मूढ हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष न होनेके कारण ईश्वरको नहीं जानतेहुए केवल देहमात्रमें निष्ठा रखते हैं, अपने देहसे ही स्नेह करते हैं उनको हे अर्जुन ! तू " नष्टान् विद्धि " नष्ट जान ! जैसे अन्धा उजाडको नहीं मानता ! इसी प्रकार मूर्ख अपने नष्ट होनेको नहीं देखता । जैसे कागोंकेलिये चन्द्रमाकी किरणें अच्छी नहीं लगतीं, ऐसे मूर्खोंको भगवानका यह मत नहीं सुहाता ॥ ३२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा हे भगवन् ! गुण-कर्मके विभाग जाननेवाले ज्ञानी तो ऐसा समझकर, कि "गुणागुणेषु वर्त्तन्ते" इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंमें वर्त्तमान रहती हैं " कर्तृत्वाभिमानमें न फंसकर लोकसंग्रह निमित्त निष्काम—कर्मोंका सम्पादन करतेहुए, कर्तृत्वाभिमान तथा फलोंमें फँसे हुए पुरुषोंकी बुद्धिको कर्मसे चलायमान नहीं करते, तो न करें पर उन अज्ञानियोंपर दया करके कर्तृत्वाभिमान वा फलकी आकांक्षासे उनकी बुद्धिका निग्रह क्यों नहीं करवाते ? अधिक नहीं तो कुछ भी तो इनकी

बुद्धिका निग्रह करवादेना चाहिये अर्थात् विषयोंसे इनकी बुद्धि तो अपने ज्ञानबलसे वा राजशासन द्वारा रुकवा देनी चाहिये।

अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर भगवान् उत्तर देते हैं—

मू०— सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
॥ ३३ ॥

पदच्छेदः— ज्ञानवान् (तत्त्वविद्) अपि, स्वस्याः (स्वकीयायाः) प्रकृतेः (स्वभावस्य। पूर्वकृतधर्माधर्मादि संस्कारो वर्त्तमानजन्मादावभिव्यक्तः सा प्रकृतिः तस्याः) सदृशम् (अनुरूपम्) चेष्टते (चेष्टां करोति) [तथा] भूतानि (सर्वे प्राणिनः) प्रकृतिम् (स्वभावम्) यान्ति (अनुसरन्ति। अनुवर्तन्ते) [अतः] ÷ निग्रहः (भर्त्सनम्। निरोधः) किम् (किमपि न) करिष्यति॥ ३३॥

पदार्थः— (ज्ञानवान्) तत्त्वोंका जाननेवाला ज्ञानी जन (अपि) भी (स्वस्याः) अपनी (प्रकृतेः) प्रकृतिके (सदृशम्) अनुसार (चेष्टते) चेष्टा करता है, अर्थात् अपने स्वभावानुसार ही कर्मोंमें वर्त्तता है। इसी प्रकार (भूतानि) संसारके प्राणीमात्र ज्ञानी हों वा मूर्ख, मनुष्य हों वा पशु सबके सब (प्रकृतिम्) बिना

÷ निग्रहः किं करिष्यति = रागौत्कण्ठेन दुरितान्निवर्त्तयितुं न शक्नोतीत्यर्थः। महानरकसाधनत्वं ज्ञात्वापि दुर्वासनाप्राबल्यात् पापेषु प्रवर्त्तमानामशास्त्रशासनातिक्रमदोषान्नु बिभ्यनीति भावः।

इच्छाके भी बलात्कार अपनी-अपनी प्रकृतिमें (यान्ति) प्रवेश करते हैं। अर्थात् अपने-अपने स्वभावानुसार ही आचरण करते हैं। तहां किसी प्रकारका (निग्रहः) रोक (किम्) क्या (करिष्यति) करसकेगा ॥ ३३ ॥

भावार्थः— यह सृष्टि अनादि है। इसके अनादि होनेका कारण यह है, कि सृष्टिकर्त्ता स्वयं अनादि है। यह सृष्टि, जो माहेश्वरी-शक्ति कहलाती है, उस महेश्वरमें सदा वर्त्तमान है। जैसे तिलमें तेल, अग्निमें दाह और पुष्पोंमें गन्ध, ऐसे उस महाप्रभुमें यह प्रकृति सदा वर्त्तमान है। यही महाशक्ति सृष्टिकी रचना, पालन तथा संहार करती रहती है। श्रु०- अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। वही अजा (शक्ति) जो लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण है अर्थात् जो रज, सत्त्व और तम तीन गुण वाली है, सो बहुतेरी प्रजाको सृजने वाली है। सो महेश्वरके स्वयं अनादि होनेके कारण अनादि है। तिस प्रकृतिके अनादि होनेसे जीव और जीवोंके कर्म भी अनादि हैं। सो यह जीव अनादि-कालसे पाप पुण्य कर्मोंका सम्पादन करता चला आता है। वे ही पिछले कर्म आज प्रारब्ध होकर जीवोंके भले बुरे स्वभाव तयार करदेते हैं। उनही स्वभावानुसार अर्थात् अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार ज्ञानी और मूर्ख आचरण करते रहते हैं। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए भगवान् अर्जुनके प्रश्नका यों उत्तर देते हैं, कि [सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि] विधि और निषेध को जाननेवाला तथा प्रकृतिके गुणोंको पूर्ण-रूपसे समझनेवाला ज्ञानी भी अपनी बलवान् प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है, अर्थात्

ज्ञानीकी प्रकृति भी जैसे-जैसे जिस-जिस कर्मको करनेकी प्रेरणा करती है तैसे-तैसे वह करता रहता है । ब्रह्मासे लेकर जितने देव, देवी तथा ऋषि, महर्षि इत्यादि हैं सब अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार वर्त्तमान रहते हैं क्योंकि प्रकृति सदा बलवान है ।

शंका— भगवान् पहले कहआये हैं, कि "तत्त्ववित्तु महाबाहो!" (देखो श्लो० २८) तत्ववित ज्ञानी गुणोंको गुणमें वर्तता हुआ जान कर्मोंमें आसक्त नहीं होता । और कर्तृत्वाभिमान नहीं करता पर अब कहरहे हैं, कि ज्ञानवान अर्थात तत्ववित् भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है । इन दोनों वाक्योंमें विरोध देखपडता है ऐसा क्यों ? ।

समाधान— दोनों वाक्योंमें विरोध कुछभी नहीं है सुनो! "पूर्वकृतधर्माधर्मादि संस्कारो वर्त्तमानजन्मादावभिव्यक्तः सा प्रकृतिः" (शंकरः) भाष्यकार शंकर कहते हैं, कि पूर्व जन्मोंमें बारम्बार धर्म अथवा अधर्म करते-करते जो शुद्ध वा मलीन संस्कार होकर वर्त्तमान जन्ममें प्रगट होता है वही जीवों

टिप्पणी— अनादि कालसे जो यह जीव अनेक जन्मोंमें जा कर्म करता चला जाता है उनके फल जो एकत्र होरहे हैं " संचित " कहलाते हैं, जैसे किसी प्राणी का उपार्जन कियाहुआ धन एक कोशमें एकत्र रहता है ऐसे जीवके उपार्जन कियेहुए कर्मोंका एक भण्डार बना हुआ है । उसी भण्डारसे अर्थात् " संचित " से जो एक भाग निकाल कर किसी एक जन्ममें भोगनेको दियाजाता है उसका नाम " प्रारब्ध " वा " भाग्य " होता है । सो प्रारब्ध वा भाग्य अवश्य ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है । वही प्रारब्ध अपने बलसे हठात् दुःख सुखको भोगवाता है । क्योंकि उसी प्रारब्धानुसार प्राणीकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव भी बनजाता है ।

की प्रकृति होजाती है। भगवान्ने जो २८ वें श्लोकमें कहा है, कि ज्ञानी प्रकृतिके गुणोंको गुणमें अर्थात इन्द्रियोंको विषयोंमें वर्त्तता हुआ कर्मोंके अहंकारमें नहीं फंसता, सो सांगोपांग सत्य है। क्योंकि सात्विक कर्मोंके सम्पादन करनेसे ज्ञानवान्की प्रकृतिमें तो सदा दया, क्षमा, मैत्री, इत्यादिके स्वाभाविक लक्षण पडे रहते हैं। शम दमादि षट् सम्पत्तियां, मनन इत्यादि साधन चतुष्टय, यम नियमादि अष्टांग योगके अंग भी उसकी प्रकृतिमें स्वाभाविक ही पडे रहते हैं। अर्थात ज्ञानवान्को कोई कितना भी बहकावे, कि मद्यपान करलो! थोडा मांस खालो! वेश्या गमन करलो! और परायेकी वस्तु उसकी जान मारकर लेलो! पर ज्ञानी कभी ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि उसकी प्रकृति ही ऐसी नहीं होती। अपने अनेक जन्मोंकी प्रकृतिके अनुसार वह तो जानता ही है, कि व्याघ्र और सर्पके समान विषयोंकी मित्रता अच्छी नहीं। इसी कारण इन्द्रियोंको विषयोंमें बरतता हुआ जान कर्तृत्वाभिमानसे रहित रहना ही ज्ञानवानकी प्रकृति होजाती है। इसी तात्पर्य्य से भगवान कहते हैं, कि ज्ञानवान भी अपनी प्रकृतिके विरुद्ध कुछ नहीं करसकता। इसलिये २८ वें श्लोकमें जो भगवान्ने कहा, कि "गुणागुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा न सज्जते" और अब जो कहते हैं, कि (सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि) इन दोनोंके तात्पर्योंमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इसलिये भगवान्के दोनों वचनोंमें विरोध नहीं है। शंका मत करो!

अब भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! जब ज्ञानवान भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, तो अज्ञानियोंका क्या कहना है?

इसलिये मैं तुझे कहता हूं, कि [प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति] जैसे ज्ञानवान् अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते हैं, ऐसे ही इतर जो अज्ञानी जीव हैं वे भी अपनी प्रकृतिमें डूबे रहते हैं और उसी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते हैं तो फिर किसी प्रकारका निग्रह क्या करसकता है ? अर्थात ऐसा कौन है जो इनकी प्रकृतिको रोक-सके ? जैसे ज्ञानवान्से अशुभ-कर्म करवाना कठिन है, ऐसे ही अज्ञानियोंसे जो दिवाराति कपूय (भ्रष्ट) आचरणमें लगे रहते हैं, जान-बूझकर भी अशुभ-आचरण करते हैं उनकी इन्द्रियोंका निग्रह करवाना कठिन है । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि "निग्रहः किं करिष्यति" किसी प्रकारका निग्रह ऐसे प्राणीका क्या करसकता है ? कोई कितना ही भर्त्सना करे, पर उनकी प्रकृतिका बदलजाना कठिन है । देखो ! राजाकी ओरसे निग्रह करनेके लिये दण्ड पाते ही रहते हैं, तथापि वे अपनी प्रकृति-अनुसार चोरी, व्यभिचार इत्यादि करते ही रहते हैं । क्योंकि दुष्कर्मोंमें परम आसक्तिकी उत्कटताके कारण अपने दुष्कर्मोंका निवारण नहीं करसकते । महा नरक भोगना पडेगा । ऐसा जानकर भी दुर्वासनाकी प्रवलताके कारण तनक भी किसीकी भर्त्सना नहीं मानते । ऋषि, मुनिकी तथा श्रुति, स्मृतिकी आज्ञा भंग करनेसे नहीं डरते । इसी कारण वे निरङ्कुश कहलाते हैं । यहां तक कि उनको मुझ ईश्वरकी भी आज्ञा उल्लंघन करनेका कुछ भय नहीं है । इसलिये किसी प्रकार किसी चक्रवर्त्तीकी आज्ञा द्वारा भी उनके स्वभावका निग्रह नहीं होसकता । कारागार, फांसी, शूली इत्यादिका दुःख भोगें सो सही पर स्वभाव न छोडें ।

"निग्रहः किं करिष्यति" वाक्यके अर्थ करनेमें टीकाकारोंका कुछ मत भेद है। वह यह है कि शंकराचार्य्य, आनन्दगिरि, नीलकण्ठ, मधुसूदन, अभिनवगुप्ताचार्य्य इत्यादि ऐसा अर्थ करते हैं, कि भगवान् अर्जुन के प्रति यों कहतेहैं, कि हमारे वा किसी अन्य राजा इत्यादिके निग्रह करानेसे इनकी रुकावट नहीं होसकती। पर श्रीधर-स्वामीने ऐसा अर्थ किया है, कि ये अज्ञानी बलवान् प्रकृतिके अधीन हैं, तो इनकेलिये इनका इन्द्रिय-निग्रह क्या करसकता है? दोनो अर्थोंमें बहुत ही अल्प भेद है वह यह है, कि प्रथमके महानुभावोंके अर्थमें दूसरेकी ओरसे निग्रह करवाना सिद्ध होता है और श्रीधर-स्वामीके अर्थसे प्राणीको अपने द्वारा अर्थात् आपसे-आप निग्रह करना सिद्ध होता है। दोनों प्रकारके अभिप्रायोंसे यही सिद्ध होता है, कि जब मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिके वश हैं तब न दूसरेके निग्रह करवानेसे इन्द्रियां मानेंगी और न अपने निग्रह करनेसे मानेंगी प्राणी अपने स्वभावानुसार चलेंहीगे ॥ ३३ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी- भगवन्! जब मनुष्योंको उनकी प्रकृति ही अपने वशमें रख शुभा-शुभ करवाती है और तिसका निग्रह किसी प्रकार नहीं होसकता। तो वेद, शास्त्रोंका उपदेश निरर्थक है। तब तो "× सत्यान्न प्रमादितव्यम्। + धर्म्मान्न प्रमादितव्यम् मातृदेवो भव! पितृदेवो भव! आचार्य्यदेवो भव! इत्यादि श्रुतियोंके

× सत्यसे प्रमाद मत करो।

+ धर्मसे प्रमाद मत करो।

उपदेशोंकी आवश्यकता ही क्या थी ? इनके पालनके निमित्त पुरुषार्थ वा यत्न करनेसे लाभ हीं क्या होगा ? इस कारण मेरी इस शंकाका निवारण करते हुए कृपाकर इतना तो बतादो ! कि कौनसा उपाय करनेसे कर्तृत्वाभिमानसे निवृत्तहोकर इन्द्रियोंके फांससे प्राणी छूट सकेगा ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥३४॥

पदच्छेदः— इन्द्रियस्य (करणसमूहस्य) इन्द्रियस्यार्थे (शब्दादि विषये) रागद्वेषौ (आनुकूल्य-प्रातिकूल्ये) व्यवस्थितौ (नित्य सम्बद्धौ) [अतएव] तयोः (द्वयोः रागद्वेषयोः) वशम् (अधीनम्) न (नहि) आगच्छेत् (प्रवर्त्तेत) हि (यतः) तौ (रागद्वेषौ) अस्य (प्राणिनः । मुमुक्षोः) परिपन्थिनौ (विरोधिनौ । श्रेयोमार्गस्य विघ्नकर्त्तारौ) [स्तः] ॥ ३४ ॥

पदार्थः— (इन्द्रियस्य) प्रत्येक इन्द्रियके (इन्द्रियस्यार्थे) अपने-अपने विषयमें (रागद्वेषौ) राग और द्वेष (व्यवस्थितौ) व्यवस्थित रहते हैं । इसलिये (तयोः) इन दोनोंके (वशम्) वशमें (न आगच्छेत्) नहीं पडे (हि) क्योंकि (तौ) ये राग द्वेष दोनों (अस्य) इस प्राणीके (परिपन्थिनौ) विरोधी और शत्रु हैं । अर्थात् स्वाभाविक कर्तृत्वाभिमानमें फंसाकर मार डालते हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो शंकाकी है, कि जब प्राणीमात्रको अपनी-अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल आचरण करनेकी शक्ति नहीं है, तो श्रुति-स्मृतियों द्वारा नाना प्रकारके यत्न करनेकी क्या आवश्यकता है? और इससे बचनेका क्या उपाय है? तिसके उत्तरमें श्री गोलोक-विहारी जगत् हितकारी कहते हैं, कि [**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ**] इन्द्रियोंके विषयमें रागद्वेष व्यवस्थित हैं अर्थात् जितनी इन्द्रियां हैं सब रागद्वेष करके ही अपनी-अपनी इच्छानुकूल वर्त्तना चाहती हैं इसलिये जब जिस इन्द्रियको अपना विषय मिलजाता है तब अत्यन्त ही प्रसन्न हो अपने विषयकी ओर दौडती है। जैसे कागले मांसके खंड पर गिर बडे बेगसे झपट मार लेजाते हैं। जैसे तीर अपने धनुषसे निकलते ही मृगके शरीरमें घुस पडता है, ऐसे ही ये इन्द्रियां अपने विषयकी ओर दौडपडती हैं। इनका विशेष स्वभाव यह है, कि "रागद्वेषौ व्यवस्थितौ" इनमें राग-द्वेषके व्यवस्थित रहनेसे जो विषय इनके अनुकूल मिलजाता है उससे ये राग अर्थात् प्रेम करती हैं और जो इनके प्रतिकूल मिलता है उससे ये द्वेष करती हैं। जैसे इन आंखोंके सामने जब कोई सुन्दर स्त्री पडजाती है तो ये झट दौड उसमें ऐसी चिपटजाती हैं, कि हटाये नहीं हटतीं। यहां तक, कि उसे दिन रात देखना ही चाहती हैं और अपने साथ-साथ अन्य इन्द्रियों को भी बहकाती हैं, कि हे कान! तू भी इसके वचनोंको सुनाकर हे जिह्वे! तू भी इससे बातें कियाकर इत्यादि-इत्यादि। इसीके प्रतिकूल जब कोई कुरूप इनके सामने आजाता है तो उससे हटजाती हैं। उसे देखना भी नहीं चाहतीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियां भी इच्छानुकूलतासे

प्रसन्न और प्रतिकूलतासे अप्रसन्न होती हैं । क्योंकि इन इन्द्रियोंमें " राग " और " द्वेष " उपस्थित हैं । इसी कारण भगवान् अर्जुनको उपदेश करते हैं, कि [**तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**] हे अर्जुन ! इन दोनों अर्थात् राग द्वेषके वशीभूत प्राणी न होवे । क्योंकि ये दोनों इसके परम शत्रु हैं । ये दोनों इन्द्रियोंको ऐसी सहायता करते हैं— जैसे अग्निको पवन । अर्थात् जितना ही पवन का वेग होता जावेगा उतनी ही आग भडकती चलीजावेगी और अपने चारों ओरकी वस्तुओंको भस्म करती चली जावेगी । इसी प्रकार जैसे-जैसे राग द्वेष बढते जावेंगे इन्द्रियां भडकती चली जावेंगी । और समीपकी वस्तुओंको अर्थात् बुद्धि, विवेक, सत्य, धृति, दया इत्यादि को भस्म करती चली जावेंगी । इसी कारण इन्द्रियोंको वशमें रखने का तथा इनको प्रकृतिके प्रतिकूल न बहकने देनेका सहज उपाय यही है, कि राग-द्वेष दोनों परित्याग करनेका अभ्यास करे ।

शंका—रागके वशीभूत न होनेसे तो इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयकी अनुकूलता छूटजानेके कारण प्राणी विषयोंसे बचेगा, पर द्वेषके वशीभूत करनेकी क्या आवश्यकता है ? संसारी वस्तुओंसे तो जहांतक द्वेष होजावे उत्तम है । इसी कारण द्वेषसे द्वेष क्यों किया जावे ? द्वेष बना रहना तो उत्तम ही देखपडता है । फिर भगवान्ने " **परिपंथिनौ** " कहकर द्वेषको भी अपना शत्रु क्यों कहा ?

समाधान— जैसे रागकी अनुकूलता द्वारा विषयोंकी वृद्धि होती है और चित्तवृत्ति उसी ओर लगी रहती है, इसी प्रकार द्वेषसे

भी क्रोध, छल, कपट प्रपंचादि मलीन वासनाओंकी वृद्धि होती जाती है। और चित्त-वृत्ति उसी ओर लगी रहती है । इस द्वेषके कारण परायेको हानि और दुःख पहुंचनेकी इच्छा बनी रहती है।

तुमने "विराग" को "द्वेष" अथवा द्वेष को "विराग" समझा है। तुमने जो कहा, कि "द्वेष" से इन्द्रियोंकी प्रतिकूलताके कारण सारे संसारसे सम्बन्ध छूट जावेगा अर्थात विराग होजावेगा सो ऐसा नहीं होसकता । जैसे रागसे संसारका सम्बन्ध बढता है ऐसे ही द्वेषसे भी सम्बन्ध बढता ही है । रागके प्रतिकूल विराग और द्वेष दोनों हैं। तहां विराग उत्तम और श्रेष्ठ है और द्वेष अधम और निकृष्ट है। क्योंकि विराग द्वारा जो संसारसे प्रतिकूलता है वह विद्या संयुक्त है और द्वेषसे जो प्रतिकूलता है वह अविद्या संयुक्त है। इसलिये तुमने जो "द्वेषको" विराग समझा है, सो ऐसा मत समझो। यह तुम्हारी शंका निरर्थक है। शंका मत करो !

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि **राग** और **द्वेष** दोनों चित्तकी स्थिरताको चंचल करनेवाले हैं। चित्तके चंचल होनेसे बुद्धि भी चंचल होजाती है।

इसी कारण भगवान् अर्जुनको वारम्वार कहरहे हैं, कि विवेकी पुरुषको चाहिये, कि **राग** और **द्वेष** दोनोंको अपने मोक्षमार्गका बाधक जान शीघ्र त्याग करदेवे । फिर तो इन्द्रियोंका कुछ भी वश नहीं चलेगा।

यदि यह कहो, कि राग द्वेष भी तो प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही हैं ? सो ऐसा मत कहो ! ये दोनों स्वभाव नहीं हैं, वरु स्वभावके भडकानेके कारण हैं । काम क्रोधादि शत्रुओंके जगादेनेके कारण हैं । इसलिये इनका त्यागना सर्वथा उचित है । क्योंकि +कारणके छेदन करदेनेसे कार्य भी नष्ट होजाता है । इसलिये जब अपनी प्रकृतिसे छूटनेकी शुभ बासना उपजे तो सबसे पहले राग-द्वेषका ही परित्याग करे । फिर तो सारा बेडा पार है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि अपनी सम्यक् बुद्धि और इन्द्रियों की अनुकूलता जहां होजावे उसी कर्मका सम्पादन करे । सो केवल रागद्वेषके त्यागसे ही होगा इस कारण इन दोनोंको त्यागदेवे । क्योंकि **हीरा** कितनी भी गहरी कीचमें पडा हो, वर्षा-कालमें जलकी बून्दोंकी चोटसे स्वच्छ हो निकल पडता है । इसी प्रकार चैतन्य-रूप हीरा कितना भी प्रकृति-रूप कीच के भीतर गडा हो, पर जब किसी समय उसके पूर्वजन्मार्जित शुभ कर्मोंकी मेघमालाके अभिव्यक्त (प्रकट)

+ कारणके मुख्य दो भेद हैं । **उपादान** और **निमित्त** पर न्याय और वैशेषिकके मतसे कारण तीन प्रकारके हैं— **१. उपादान** (समवायि) । **२. असमवायि** । **३. निमित्त** ।

जिसके स्वरूपमें कार्य्यकी स्थिति होवे उस कारणको उपादान कारण कहते हैं । जैसे घटका उपादान कारण **मृत्तिका** है ।

कार्य्यके समवायि कारणसे सम्बन्ध रखता हुआ जो कार्य्यका जनक है उसे असमवायि कारण कहते हैं । जैसे **घटका** असमवायि कारण **कपाल** है ।

कार्य्यसे तटस्थ हुआ कार्य्यका जो जनानेवाला हो उसे निमित्त कारण कहते हैं । जैसे घटका निमित्त कारण कुलाल, चक्र, दण्डादि । (देखो भाषापरिच्छेद १६, १७)

होनेसे पुण्यकी वृष्टि द्वारा प्रकृतिकी कीच धुलजानेसे इष्टसाधनता-ज्ञान " और " अनिष्टसाधनता ज्ञान " दोनोंका ठीक-ठीक बोध होने लगजावेगा, तब जहां कहीं दोनों प्रकारके ज्ञानोंका एक ठौर संमेलन होपडेगा, तब वह मनुष्य अपने पुण्यके बलसे अनिष्टसाधनता को यथार्थ रूपसे समझकर राग द्वेष दोनोका परित्याग करेगा। और तब ही प्रकृतिके फन्देसे बच अपनी रक्षा करलेगा । रागद्वेषके त्यागका साधन करते-करते प्रकृति आपसे-आप उसे छोडदेवेगी। जैसे कोई प्राणी सात दिनका भूखा हो, उसके सन्मुख नाना प्रकारके पक्वान्न आजावें तो उसका इष्टसाधनतारूप ज्ञान उस अन्नको भोजन करनेकेलिये प्रेरणा करेगा पर जब मुखमें डालनेके पश्चात उसको यह निश्चय होजावे, कि इसमें विष मिला हुआ है तो उसका अनिष्ट साधनता-रूप ज्ञान प्राणके भयसे उस विष मिश्रित अन्नको खानेसे रोकदेवेगा। इसी प्रकार राग-द्वेष-रूप शत्रुओंका पूर्ण-प्रकार परिचय होजानेसे प्रकृतिका बोध होजावेगा, तब वह प्रकृति उसे नहीं सतावेगी ।

अर्जुनने जो प्रकृति (स्वभाव) के छूटजानेका उपाय पूछा था उसे भगवान्ने इस श्लोकमें स्पष्टरूपसे जनादिया ॥ ३४ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन ! जब इष्ट—साधन और अनिष्ट—साधन दोनोंके परिचयसे अपने कल्याणका यत्न करना आवश्यक है और लाभदायक है, तो मेरे जानते तो इस युद्धमें त्याग ही श्रेष्ठ देख पडता है । क्योंकि इस युद्धमें राग द्वेष द्वारा नाना प्रकारके भ्रष्ट कर्मोंके सम्पादनका संयोग आजावेगा इसलिये मुझे आज्ञा देवो ! कि युद्ध छोड यज्ञादि कर्मोंके सम्पादनमें लगूं वा सन्यास धारण करलूं।

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

मू०— श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोभयावहः ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः— स्वनुष्ठितात् (साद्गुण्येन सम्पादितात् । सर्वांग पूर्त्यां कृतात् वा) परधर्म्मात् (स्वंप्रत्यविहितात्) विगुणः (विगतगुणः । किंचिंदंगहीनो वा) स्वधर्म्मः (स्वस्यवर्णाश्रमानुरूपेण यो विहितः) श्रेयान् (प्रशस्यतरः) [तस्मात्] स्वधर्म्मे (निजवर्णाश्रमानुकूलधर्मे) निधनम् (मरणम्) श्रेयः (श्रेष्ठम्) [यतः] परधर्म्मः (अन्य वर्णाश्रमाणां धर्मः) भयावहः (इहाकीर्त्तिकरत्वेन परत्र नरकप्रदत्वेन च भयोत्पादकः) [अस्ति] ॥ ३५ ॥

पदार्थः— श्री आनन्दकन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन ! (स्वनुष्ठितात्) सर्वगुणयुक्त सर्व अंगोंसे पूर्ण प्रकार अनुष्ठान करते हुए (परधर्मात्) परायेके धर्मसे (विगुणः) सर्वगुणरहित भी (स्वधर्मः) अपने वर्ण और अपने आश्रमका धर्म (श्रेयान्) श्रेष्ठ है । इसलिये (स्वधर्मे) अपने धर्म्ममें (निधनम) मरजाना भी (श्रेयः) कल्याण कारक है । क्योंकि (परधर्मः) परायेका धर्म (भयावहः) भयदायक होता है ॥ ३५ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो पहले युद्धका निषेध कर द्विजोत्तमका यज्ञादि सम्पादन करना तथा परिव्राजकोंका श्रेष्ठ धर्म भिक्षादिसे निर्वाह करना विहित समझ कर भगवानसे युद्ध त्यागने की आज्ञा

मांगी है तिसका उत्तर श्री आनन्द कन्द यों देते हैं, कि [**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्**] अपना धर्म यदि विगुण भी हो अर्थात् सर्व गुण रहित, परम दुःखदायी भी हो, तौ भी वह अपना धर्म परायेके सुष्टु प्रकार साधन कियेहुए अत्यन्त सुखद और सलिल धर्मसे भी सहस्र गुण श्रेष्ठ है । यहां भगवानके कहनेका यह अभिप्राय है, कि जड, चैतन्य सबोंके धर्म ऐसे नियम पूर्वक रचेहुए हैं, कि इनमें यदि रंचक मात्र उलट पुलट होजावे अर्थात् ये अपना धर्म छोड परायेका धर्म अंगीकार करें, तो सृष्टिक्रमके विगडजानेसे प्राणी मात्रको क्लेश होगा। देखो ! पृथ्वी सदा स्थिर रहकर स्थावर जंगमको अपनी छाती पर धारण करती है । थोडी देरके लिये इसमें वायुका धर्म प्रवेश करजावे, पृथ्वी वायुके समान इधर उधर उडने लग जावे, तो मनुष्य, पशु, पत्ती इत्यादि सब प्राणी मात्र घवरा कर औंधे मुंह गिर निश्चेष्ट होजावेंगे । कोई अपना कार्य नहीं करसकेगा। सभी जानते हैं, कि क्षण मात्रके लिये भूकम्प होजाने पर मनुष्य-मात्र मारे भयके थर्राने लगजाते हैं और अनुभव करने लगते हैं, कि आज प्रलय हुआ । सो पृथ्वी यदि उडने लगे तो क्या दुर्दशा होगी? सभी अनुभव कर सकते हैं । इसीके प्रतिकूल यदि वायु पृथ्वीके धर्मको अंगीकार कर मुहूर्तमात्र स्थिर होजावे, रत्तीमात्र भी न डोले तो जीवमात्रका श्वासोच्छ्वास (सांस लेना) रुकजावेगा प्राण कण्ठगत होजावेगा । इसी प्रकार यदि थोडी देरके लिये सूर्य शीतल होजावे, तथा अग्निमें जलका धर्म आजावे मारे ठण्डके प्राणी मात्र मरजावेंगे । फिर जलमें यदि अग्निका धर्म आजावे और मेघमाला जलके स्थान पर अग्निकी

वर्षा करने लगजावे, अर्थात् जलकी बूंदें यदि अग्निकी चिनगारियां होकर बरसने लगजावें, तो मनुष्योंके घरोंमें आग लगकर नगरका नगर भस्म होजावेगा। इन्हीं क्लेशोंके दूर करनेके तात्पर्यसे सब भूतोंमें अपना-अपना धर्म दियाहुआ है और उनके नियम बांध दियेगये हैं। अमृतमें अमृतका धर्म और विषमें विषका धर्म वर्त्तमान है।

एवम् प्रकार जब जड पदार्थोंमें धर्मोंके पलटा खानेसे सृष्टिमें आपत्तियोंका अनुभव होरहा है तब चैतन्यमें ऐसा होनेसे सृष्टिकी क्या दशा होगी, बुद्धिमान् भलीभांति विचार करसकते हैं। देखो! सिंहनीके दूधमें गैयाके दूधका धर्म्म और गैयाके दूधमें सिंहनीके दूधका धर्म्म आजावे तो महा अनर्थ हो पडेगा। न कोई यज्ञ सम्पादन हो सकेगा, न किसी प्रकारकी औषधियोंका उचित अनुपान कहीं मिलेगा। शारीरिक पुष्टि जाती रहेगी। यद्यपि पशुत्व करके ये गैया और सिंहिनी जातिमें समान हैं पर गुणकरके इनके धर्म्मोंका विलग-विलग भेद दृष्टिगोचर होरहा है।

उक्त प्रकार यद्यपि जातित्व करके ब्राह्मण, चाण्डाल इत्यादि मनुष्यमात्रमें मानुषत्व धर्म्मकी समानता है, पर आत्मिक उन्नतिकी दृष्टिसें इन मनुष्योंके कल्याण निमित्त धर्म्मका विभाग कियागया है, जिससे मानव-धर्मके निर्वाहमें किसी प्रकारका क्लेश न होकर संसार न्यायपूर्वक वर्त्तमान रहे।

प्रमाण— वर्णधर्म्मः स्मृतस्त्वेकः आश्रमाणां मतः परम्।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥१॥

वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्म्मः संप्रवर्त्तते ।
वर्णधर्म्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ! ॥ २ ॥

यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्त्तते ।
स खल्वाश्रमधर्म्मस्तु भिक्षादानादिको यथा ॥३॥

वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्त्तते ।
स वर्णाश्रम-धर्म्मस्तु मौंजीया मेखला यथा ॥ ४ ॥

यो गुणेन प्रवर्त्तेत गुणधर्म्मः स उच्यते ।
यथा मूर्द्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥ ५ ॥

निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्म्मः संप्रवर्त्तते ।
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥ ६ ॥

अर्थ —१. वर्णधर्म्म २. आश्रमधर्म्म ३. वर्णाश्रमधर्म्म ४. गुणधर्म्म ५. नैमित्तिकधर्म्म ये पांच प्रकारके मानवधर्म्म हैं । तहां प्रथम वर्णके आश्रयसे जो धर्म्म प्रवृत्त हो उसको वर्णधर्म कहिये जैसे यज्ञोपवीत। दूसरा आश्रमके आश्रयसे जो प्रचलित हो सो आश्रमधर्म्म है जैसे भिक्षाटन और दण्डादि । तीसरा जो वर्ण और आश्रम दोनोंके आश्रयसे वर्त्तमान हो उसे वर्णाश्रम-धर्म कहते हैं— जैसे ब्राह्मणको मूंजकी मेखला, क्षत्रियको मूर्वा और वैश्यको सणकी मेखला । चौथा जो गुणसे प्रवृत्त हो उसे गुणधर्म्म कहते हैं— जैसे मूर्द्धाभिषिक्त (राजा) का प्रजाकी रक्षा करनी । पांचवां जो किसी एक निमित्तके आश्रयसे कियाजावे । इसलिये उसको नैमित्तिक धर्म कहते हैं— जैसे प्रायश्चित्तादि ॥ १, २, ३, ४, ५, ६ ॥

इन धर्मोंका विधि पूर्वक सम्पादन करनेसे मनुष्य इस लोक और पर-लोक दोनोंमें सुखी रहता है। प्रत्येक प्राणीको चाहिये, कि विचारपूर्वक इन पांचों प्रकारके धर्म्मोंका पालन करे! अपने-अपने धर्म्मका पालन करे, पर परायेका धर्म न अंगीकार करे। भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे अर्जुन! तू गृहस्थ है। इसलिये पंचमहायज्ञ तथा गृहके अन्य कर्मोंका साधन करना तेरा आश्रम-धर्म्म है। राजसूयादि यज्ञ करना तेरा वर्णाश्रम-धर्म्म है। और युद्ध करके अन्यायी नरेशोंका नाशकर न्यायपूर्वक प्रजा पालन करना तेरा गुणधर्म्म है। युद्धमें तेरे द्वारा नाना प्रकारके जीव कपटादिसे हनन कियेजावेंगे अथवा प्रमादसे कहीं अन्याय होजानेसे निर्दोष प्रजाका दण्ड होजावेगा, तिनकेलिये विविध प्रकारके प्रायश्चित्तोंका साधन करना तेरा नैमित्तिक धर्म्म है। सो इन धर्म्मोंमें यदि तू एकको भी छोडदेगा तो तेरे धर्मकी एक टांग टूट जावेगी, जिससे तेरा धर्म्म लंगडा होजावेगा। जब धर्ममें लंगडापन अर्थात् "न्यूनता" आगयी तो इस लोक और परलोक दोनोंमें तेरी हानि है।

शंका— अपनेसे छोटे वर्णाश्रम-धर्मको अंगीकार करना निषिद्ध है, पर अपनेसे उच्चधर्म-वालेका धर्म स्वीकार करने में क्या हानि है? संखिया इत्यादि विषमें यदि अमृतका गुण आजावे तो संसारका कल्याण ही होगा हानि क्या है? इसी सिद्धान्तके अनुसार यदि क्षत्रियोंमें वैश्य और शूद्रका धर्म न प्रवेश करके ब्राह्मणका धर्म आजावे तो क्या हानि है? विश्वामित्रजी तो राजर्षिसे ब्रह्मर्षि होचुके हैं।

इतिहासोंसे प्रकट है । फिर अर्जुन भी यदि राजासे ऋषि होजावे तो क्या हानि है ?

समाधान— सच है नीचमें यदि उत्तम धर्म प्रवेश करजावे तो कुछ भी हानि नहीं है, पर इस प्रकार नीचमें उच्च धर्म्मका प्रवेश करना हंसी ठट्ठेकी बात नहीं है । बाजारका भाजी नहीं है जो टके सेर बिकती है । आज-कलके नवीन मतवालोंके सिद्धान्तके अनुसार एक पैसेका यज्ञोपवीत झट मुसलमानके गलेमें डाल दिया, वह ब्राह्मण बनगया । पर ब्राह्मण बन जाना इतना सस्ता नहीं है । यदि इतना सस्ता होता तो सभी ब्राह्मण बनजाते और राजाजीके श्राद्धमें पूरी मिठाइयोंके साथ दक्षिणासे पाकट भरलिया करते । विश्वामित्रजीकी जो तुमने कही सो वे एक दिनमें ब्राह्मणसे दाखिल नहीं हुए थे। हजारों वर्षके घोर तपसे इस उच्च पदवीको पहुंचे थे । और सच्चे ब्राह्मण होगये थे । जातिमात्र नामके ब्राह्मण नहीं थे । जिन्होंने नवीन सृष्टि रचनेकी शक्ति प्राप्त करली थी । क्या आजके मुसलमानसे ब्राह्मण बनेहुओंमें एक तृणके बनानेकी भी शक्ति कहीं किसी समाजमें देखी गयी है ? कहीं नहीं ! कदापि नहीं ! इसलिये एका-एक कोई नीच धर्मवाला उच्चधर्मवालेका धर्म तो स्वीकार नहीं करसकता ।

मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं है, कि कोई प्राणी उन्नतिके शिखर पर चढ़ने की श्रद्धा न करे वा उच्च-गतिप्राप्तिके निमित्त चेष्टा न करे । ऐसा नहीं । भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है,

कि दूसरेका घर परम सोहावना और सुन्दर क्यों न हो, पर वह एका-एक अपनी टूटी झोंपडीसे अधिक सुखदायक नहीं होसकता। अर्थात् एकाएक यदि अपनी झोंपडी छोड राजमहलमें जा बैठेगा, तो चोबदार पहरुए मारे ठोकरोंके अस्त—व्यस्त कर वहांसे निकाल देवेंगे। पर हां! अपनी झोंपडीको धीरे-धीरे राजमहल बना लेनेकी चेष्टा करते रहो! झोंपडीको स्वच्छ रखते हुए, टट्टियोंके बन्धन सुधारते हुए, उसके छप्परों को छाते हुए, इतना धन उपार्जन करनेकी चेष्टा करो जिससे झोंपडी राजमहल बनजावे।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिस समय प्राणी झोंपडीमें ही रहनेका अधिकारी है, उस झोंपडीका उद्धार (मरम्मत) करतेहुए बांसोंका काटना, बन्धनोंका बांधना छोड राजमहलके कँगूरोंपर जाबैठे। पर जब अपना राजमहल तयार करले, फिर कंगूरे पर जाबैठना बडी बात नहीं है।

इसी प्रकार जो क्षत्रिय रणभूमिमें उपस्थित होचुका है, उस समय उसे युद्ध धर्मका त्याग कर सन्न्यासीका धर्म स्वीकार कर भिक्षा मांग खाना उचित नहीं है। हां क्षत्रिय--धर्म अर्थात् अपना वर्ण-धर्म वा गुण-धर्म सम्पादन करलेनेके पश्चात् आश्रम-धर्ममें उन्नति करता हुआ गृहस्थसे वानप्रस्थ और वानप्रस्थसे सन्न्यास आश्रमके ग्रहण करनेकी चेष्टा करता रहे।

इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहरहे हैं, कि "**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः**" अपना धर्म सर्व गुण रहित भी हो तो परायेके सर्वगुण

सम्पन्न धर्मसे श्रेष्ठ है। जैसे अपनी स्त्री कुरूपा भी हो तो परायी सुन्दर स्त्रीसे कहीं बढकर है। देखो एका-एक महाकारी नाम विषैले फलमें रहने वाले कीडेको अत्यन्त मधुर आमके फलमें रखदोगे तो वह उसी समय मरजावेगा। चकोर अग्नि भोजन करके जीता है, उसे कोई शीतल हिमका खराड भोजन करावे, तो शीघ्र ही मरजावेगा। इसी कारण भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यही है, कि जो धर्म अपने सम्मुख अपने सिरपर आगया हो, वह नीचसे भी नीच क्यों न हो उसे पालन करना परम धर्म है। देखो! महाराज हरिश्चन्द्रने कितना कष्ट सहा पर चाराडालके सेवक बनकर स्वामीके निमित्त अपनी स्त्रीसे भी मृतक पुत्रका कर लेना न छोडा। राजा बलिने पीठ नपवादी, पर वामन ऐसे अतिथिका सत्कार न छोडा। दशरथ महाराजने प्राण छोड दिया, पर वचन-प्रतिपालन जो राजाओंका मुख्य धर्म है न छोडा। लो और सुनो! देखो राजा दधीचिने अपने शरीरकी हड्डी देदी, पर परोपकार न छोडा। इन महानुभावोंने स्वधर्मकी रक्षा निमित्त नाना प्रकारके दुःख सह अपना प्राण तक त्याग दिया, पर अपना धर्म छोड दूसरेका धर्म अंगीकार न किया। भगवान् कह रहे हैं, कि हे अर्जुन! देख इसी युद्धमें भीष्म जो दुर्योधनका नमक खारहे हैं, इसलिये उसके हित लिये अपने प्राण जानेका उपाय आप बतावेंगे पर युद्ध छोड कदापि अलग न होंगे।

इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि (स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः) अपने धर्ममें मरण भी होजावे तो उत्तम है। क्योंकि परायेका धर्म जो अपने योग्य नहीं है कैसा भी सुलभ और मधुर हो ग्रहण करने योग्य नहीं है। यदि न्यायपूर्वक विचारकी दृष्टिसे भी

मीमांसा करके देखाजावे तो अपना धर्म कैसा न्यून और निरस्त क्यों न हो ? उत्तर है ।

अपना-अपना धर्म क्यों साधना श्रेष्ठ है ? उसकी मीमांसा कीजाती है। सुनो ! किसी प्रकारके धर्मका साधन करते-करते साधन करनेवाले के मस्तिष्कमें उस धर्मके स्वरूपकी स्थिरता होजानेके कारण अन्तःकरणकी वृत्ति भी तदाकार होजाती है। जैसी अन्तःकरणकी वृत्ति होजाती है प्राणी तद्रूप होजाता है । फिर उसके अन्तःकरणकी वृत्तिका विम्ब वीर्य्य पर पडता है। इसी कारण पुत्रके अन्तःकरणकी भी बनावट पिताके वीर्य्यके अनुसार होती है । और उसके लक्षण भी वैसे ही होते हैं । इसी मीमांसाके अनुसार बुद्धिमान् विचार सकते हैं, कि सहस्रों सन्तति (Generation) वा वंशश्रेणी, जो एकके पीछे दूसरी चली आरही है, उसी अपने पूर्वजोंके अभ्यस्त धर्मके पालन करनेमें समर्थ होती हैं । विना परिश्रम अपने-अपने वंश-परम्परागत धर्मके पालन करनेकी सारी शक्तियां मस्तिष्क वा अन्तःकरणमें भरी रहती हैं । इसी कारण गायक की सन्तानमें गायक और योद्धाकी सन्तानमें योद्धा उत्पन्न होता है । ब्राह्मणकी सन्तानमें यज्ञादि धर्मोंका सम्पादन करनेवाला, क्षत्रियकी सन्तानमें युद्ध तथा प्रजा पालनादि धर्मोंका पालन करनेवाला उत्पन्न होता है । सच्चा ब्राह्मण वंशपरम्परागतन्यायसे योगी, ज्ञानी और धर्मात्मा ही होगा। सच्चा क्षत्रिय वंशपरम्परागतन्यायसे वीर, साहसी और योद्धा ही होगा ।

देखो ! क्षत्रियकुलभूषण वीर × कर्णने अपनेको परशुरामसे

× यह इतिहास महा भारतमें प्रसिद्ध है । विस्तारके भयसे नहीं लिखा ।

छिपाया, पर उसके स्वभावसे परशुराम जान ही गये, कि यह क्षत्रिय है। जब यह सिद्धान्त है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारोंके मस्तिष्ककी बनावट अपने वंशपरंपरागतन्यायसे अपने—अपने धर्मोंके ग्रहण करनेकी शक्ति रखती है, तो कोई प्राणी अपनी शक्तिके विरुद्ध धर्मको अंगीकार करनेसे उसकी पूर्त्ति नहीं करसकेगा। जब धर्मकी पूर्त्ति ही न करसका तो न इस लोकमें सुखी होगा न पर लोकमें। दोनों ओरसे हानि होगी।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि अपना छोटा भी धर्म परायेके बडे उत्तम-धर्मसे श्रेष्ठ है। अतएव हे अर्जुन ! तू अवश्य युद्ध कर। नहीं करनेसे तुझको अवश्य पाप लगेगा। युद्ध छोडदेनेसे तू पापाचरणवाला समझाजावेगा। चाहे तू कितना भी कुछ करे पर पापी कहा जावेगा। क्योंकि तेरी वीरताके भरोसे इतनी सेनायें इस संग्राममें अपना प्राण देने आयी हैं। जिनकी रक्षा तेरे हाथ है। यदि तू अपनी युद्धकला और अलौकिक-बलसे युद्धमें इनकी रक्षा नहीं करेगा तो ये सबकेसब मारेजावेंगे। तू तो अपनी जान बचाकर सन्न्यासी बन इधर उधर आनन्दपूर्वक फिरता फिरेगा, पर इतने जीवोंका रुधिर तेरी गर्दनपर होगा। यदि तू यह कहे, कि युद्धमें मारे जानेसे ये स्वर्ग चलेजावेंगे, तो ये स्वर्ग जावें तो जावें, पर इनके बालबच्चे विना अन्न मरेंगे, सब तुझे शाप देवेंगे। फिर विचार तो कर ! तेरा कहां ठिकाना लगेगा ? ॥ ३५ ॥

श्यामसुन्दरके मुखारविन्दसे ऐसी भयंकर पापकी सूचना करनेवाली वाणी अपने विषय सुनकर अर्जुन घबराया और पूछनेलगा।

"अर्जुन उवाच"

मू०— अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥
॥ ३६ ॥

पदच्छेदः— अथ (वाक्यारंभार्थत्वमथशब्दस्य गृहीत्वा प्रश्नवाक्यं व्याकरोति) वार्ष्णेय ! (हे वृष्णेर्वंशेऽवतीर्ण !) अयम् पूरुषः (मनुष्यः) अनिच्छन् (इच्छारहितः सन्) अपि, बलात (हठात) नियोजितः (आज्ञप्तः) इव (सदृशः) केन (पुरुषेण) प्रयुक्तः (प्रेरितः) पापम (अविहिताचरणम) चरति (आचरति) ॥३६॥

पदार्थः--(अथ) प्रश्नका सूचितकरनेवाला शब्द वाक्योंके आरंभमें लगायाजाता है । सो यहां अर्जुन प्रश्नका आरंभ करता है । इसलिये "अथ" शब्द पहले उच्चारण कियागया है । अर्जुन कहता है, कि (वार्ष्णेय !) हे वृष्णिवंशमें अवतार लेनेवाले श्यामसुन्दर ! (अयम्पूरुषः) यह मनुष्य (अनिच्छन्नपि) विना अपनी इच्छाके भी (बलात) हठात् (नियोजितः) आज्ञापायेहुएके (इव) समान (केन) किससे (प्रयुक्तः) प्रेरित होकर (पापम्) पाप (चरति) करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थः— श्री गोविन्दने जो पहले यह कहा, कि हे अर्जुन ! तू युद्ध नहीं करनेसे घोर पापी समझाजावेगा इससे अर्जुनको भय हुआ

और व्याकुल हो पूछने लगा, कि [अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः] हे भगवन् ! किससे प्रेरित होकर यह पुरुष पाप-कर्म करता है ? क्योंकि [अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः] हे वृष्णिवंशमें अवतीर्ण मेरे प्राणरक्षक श्री गोविन्द ! मैं देखता हूं, कि " अनिच्छन्नपि " विना इच्छा किये हुए भी प्राणी बहुतेरे कर्मोंको करबैठता है । क्योंकि कोई प्राणी कभी नहीं चाहता, कि मैं किसी ब्राह्मणको मारडालूं । विष खाकर मरजाऊं । फिर उससे ऐसे-ऐसे बुरे आचरण हो ही जाते हैं । औरोंकी कौन कहे मैं देखताहूं, कि जो महान् धर्मात्मा, ज्ञानी है, जो कभी पापकी इच्छा नहीं करता, वरु सदा निर्दोष रहना चाहता है, जो सर्वप्रकारके दोष, गुण, भला, बुरा, पाप, पुण्य, नीति, अनीति, हानि, लाभ, यश, अपयश तथा नरक-स्वर्गके सुख-दुःखका जाननेवाला समझा जाता है, वह भी " बलात् नियोजित इव " किसी महा बलवानके बलसे प्रेरणा कियेहुएके समान पापका आचरण करबैठता है । जैसे नरेश किसी अपने सेवकको किसी कठिन कार्य्यके सम्पादन करनेकी आज्ञा देदेवे, तो यद्यपि वह सेवक उस कार्य्यके करनेकी इच्छा नहीं रखता तथापि अपने राजाकी प्रेरणासे प्रेरित हुआ उसकी आज्ञा भंगके भयसे उस कार्यका सम्पादन विधि-पूर्वक करता है । इसी प्रकार हे भगवन् ! यह पुरुष भी विना अपनी इच्छाके जो आचरण करता है, सो देखकर मुझे आश्चर्य होता है । इसलिये सविनय पूछता हूं, कि किसकी प्रेरणासे ऐसा होता है ? सो कृपा कर कहो ! इसमें जो कोई गोपनीय रहस्य भी हो, तो दया कर प्रगट कर दिखलाओ ॥ ३६ ॥

यहां अर्जुनने जो भगवान्‌को " वार्ष्णेय " कहकर पुकारा है, इसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि अर्जुन भगवान्‌से अपनी अपनपव प्रकटकर यह स्मृति कराता है, कि हे भगवन् ! मेरे मातामह (नाना) का वंश (वृष्णिवंश) यादव कहलाता है, तिस वंशमें तुमने अवतार लिया है । इस कारण तुम मुझको अपना सगा जान मेरे हितकी अवश्य कहोगे । अतएव मैं बारम्बार भिन्न विषयोंमें शंका इत्यादि करता हुआ जो तुमको क्लेश देता हूं, इस मेरे अपराधको क्षमा करोगे ।

अर्जुनकी इतनी प्रार्थना सुन श्री गोविन्द गंभीर ध्वनिसे बोलने लगे—

श्री भगवानुवाच—

मू०— काम एषः क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महा पाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
॥ ३७ ॥

पदच्छेदः— रजोगुणसमुद्भवः (रजोगुणः समुद्भवो यस्य सः) एषः कामः (अयम् मदनः । मन्मथः । मारः । मनोरथः) एषः क्रोधः (अयम् कोपः । अमर्षः । रोषः) महाशनः (अपरिमितमशनमस्य सः । महा ग्रासकारको वा) महा पाप्मा (अत्युग्रः) इह (अस्मिन् लोके मोक्षमार्गे वा) एनम् (पुरोवर्त्तिनम) वैरिणम् (शत्रुरूपम्) विद्धि (जानीहि) ॥ ३७ ॥

पदार्थः— श्री भगवान् बोले हे अर्जुन ! (रजोगुणसमुद्भवः) रजोगुणसे उत्पन्न जो (एषः कामः) यह काम है सो ही जो (एषः क्रोधः)

यह क्रोधरूप भी है, सो (महाशनः) सम्पूर्णसंसारको ग्रास करजाने-वाला तथा (महा पाप्मा) अत्यन्त उग्र महा दुःखदायी है । सो तू (इह) इस लोकमें वा मोक्षरूपमार्गमें (एनम) इसको (वैरिणम्) महाशत्रु (विद्धि) जान ॥ ३७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न कियाथा, कि किस बलवान्की प्रेरणासे बडे-बडे बुद्धिमान् भी पापोंका आचरण करने लगजाते हैं? तिसके उत्तरमें श्री जगतहितकारी श्री वृन्दाबन-बिहारी यों कहते हैं, कि हे अर्जुन ! मैं तुझसे पहले कह आया हूं, कि यह "काम" प्राणि-योंका महाशत्रु है, इसीकी प्रेरणासे सर्वप्रकारके उपद्रव उत्पन्न होपडते हैं, जिसकी रुकावटसे क्रोधकी उत्पत्ति हो पडती है। (देखो अ० २ श्लो० ६२) सो फिर तुझको स्मरण कराता हूं, कि [**काम एषः क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः**] मेरी प्रकृतिके गुणोंमें जो रजो-गुण है उससे ही उत्पन्न जो यह काम है और सो ही क्रोध रूप भी है सो सर्व अनर्थोंका कारण है । पहले काम उत्पन्न होता है फिर इसी कामसे क्रोध उत्पन्न होता है । मैं पहले तुझसे कह आया हूं और तिसका कारण भी कह चुका हूं, कि जब कामकी पूर्तिमें तनक भी किसी प्रकारकी रुकावट होती है तो उसी द्वारा क्रोधका हृदयमें प्रवेश होजाता है । इसी कामका दूसरा स्वरूप अथवा मित्र क्रोध भी है क्योंकि ये दोनों गलबाही कियेहुए एकसाथ फिरते हैं । भगवानका यह वचन इतिहासोंमें भी प्रसिद्ध है, कि सनत्कुमारादि चारों महात्मा जिस समय बैकुण्ठनाथके दर्शकी कामनासे बैकुण्ठके द्वारपर गये और जय विजय द्वारपालोंने उनको रोकदिया, तब उसी द्वारा इन महात्माओंको क्रोध

उत्पन्न होआया। और जय विजय दोनोंको शाप देदिया, कि उनके शाप से इन विचारोंको तीन जन्म राक्षस होना पडा । इसी प्रकार शुद्ध वासना अथवा मलीन वासना दोनों प्रकारकी वासनाओंमें किसी प्रकार की वासनासे कामना उत्पन्न होकर अपनी रुकावटसे क्रोधको उत्पन्न करही देती है । ये दोनों एकसाथ रहनेवाले हैं। कामनाके उदय होने का कारण मन ही है। तिसका अधिष्ठातृ-देव ब्रह्मा है । सो ब्रह्मा रजोगुणसे है । इसलिये मनसे जो कुछ उत्पन्न होता है सो रजोगुणका धर्म समझा जाता है। नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पका कारणभी मन ही है। इसी कारण यह मन सर्वप्रकारकी कामनाओंका मूल है। सो मन सब इन्द्रियोंका राजा है । इसी कारण बिना इसकी आज्ञाके कोई इन्द्रिय किसी ओर नहीं जासकती । अथवा यों कहलो, कि जिधर-जिधर इन्द्रियां जाती हैं, मनको साथ लिये जाती हैं। दोनोंका तात्पर्य एक ही है। इन्द्रियोंका सहायक मन और मनकी सहायता करनेवाली इन्द्रियां हैं। इसलिये इन दोनोंमें अन्योन्य सम्बन्ध है। सब प्रकारकी कामनाओंमें स्त्री-संभोगकी कामना बहुत ही विशाल है सो मनसे उत्पन्न होती है । इस कारण इसको **मनोज** भी कहते हैं। अब भगवान् कहते हैं, कि [**महाशनो महा पाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्**] सर्व प्रकारकी कामनाओंमें महा प्रबल और बलवान् जो कामदेव है (महाशनः) वह सम्पूर्ण संसारको खाजानेवाला है । और महा पापी अत्यन्त दुःखदायी है । सो हे अर्जुन ! इसको अति उग्र, प्रचण्ड काल के समान इस अपने मोक्ष तथा आनन्दके मार्गमें शत्रुके समान जान । इस शत्रुके हृदयमें दया तो लेशमात्र भी नहीं होती । व्याघ्रके समान

विषयरूप कन्दरामें निवास करता है। भगवद्भजनके पथका लुटेरा है। सम्पूर्ण संसारमें अपनी वाटिका लगा रक्खी है। रजोगुण तो इसका पिता ही है पर अविद्या इसकी माता है। तमोगुण भी इसकी सहायता करनेवाला इसका काका है। लोभ, मोह, अहंकार इसके परम प्रिय भ्राता हैं। मृत्युकी नगरीमें इसीका डंका वजरहा है। सो सत्यताके भण्डारको लूटलेता है। और नगर-नारीके जारों अर्थात् लुच्चोंके समान ये शान्ति रूप पतिव्रता स्त्री को वहका कर ज्ञानियोंके हृदय रूप घरसे निकाल लेजाता है। इसने बडे-बडे बुद्धिमानोंके विचार रूप झोंपडेमें आग लगादी है। वैराग्यकी टांगें तोडदी हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इत्यादिकी वाटिकाऐं नोच डाली हैं। ब्रह्मानन्दका गला मरोडदिया है। शम दमादिके वनमें सुखकी कलियोंको जडसे उखाडकर फेंकदिया है। इसका पार आजतक किसीने नहीं पाया इसलिये श्यामसुन्दर कहते हैं, कि यह महाशन और महापाप्मा है। ऐसा उग्र है, कि विना पानी के डुवा देता है। बिना आगके जला देता है। सूर्य चन्द्रको मुट्ठीमें बांध लेना सहज है और सातों समुद्रोंका आचमन करजाना सुलभ है। देवलोकको जीतलेना कठिन नहीं है, पर इसको वशीभूत करना सहज नहीं है यह काम महा बलवान् है। इसीकी प्रेरणासे बडे-बडे ज्ञानी पापके आचरणमें रत होजाते हैं। इसने विश्वामित्र नारदादिको धोखेमें डाल दिया है। तहां साधारण पुरुषोंकी क्या गणना है। साधारण पुरुषोंकी दशा तो यह ऐसी करदेता है, कि उसकी आंखों पर पट्टी बांध सब ओरसे अन्धा बना दुःखके निर्जनवनमें फेंक देता है। तहां यह जीव चिल्लाता कराहता है।

यथा श्रुतिः— ॐ यथा सौम्यपुरुषं गान्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततो ऽतिजने विसृजेत् स यथा तत्र प्राङ्वा उदंग्वा प्रथमायि- ताऽभि नद्धाक्ष आनीतो ऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ (छा० प्रपा० ६ खं० ४श्रु० १)

महर्षि उद्दालक श्वेतकेतुसे कहते हैं, कि हे सौम्य ! जैसे किसी पुरुषको उसके अपने देश गन्धार-नगरसे उसकी आंखोंपर पट्टी बांधकर कोई तस्कर लेआकर अकेला ऐसे बनमें जहां कोई न हो छोडदेवे, तो वह उस अरण्यमें व्याकुल होकर अंधेके समान कभी पूरब, कभी पश्चिम, कभी उत्तर, कभी दक्षिण फिरता हुआ, टक्करोंको खाता हुआ, गडहोंमें गिरताहुआ, कंटकोंके चुभनेसे दुःख पाता, चिल्लाता, पुकारता फिरता है, कि हा दैव ! देखो ! मैं कितना कष्ट पारहा हूं । मुझको तस्करोंने मेरे नेत्रोंको बांधकर मेरे गंधारदेशसे इधर यहां इस कंटकमय सुनसान बनमें छोड दिया है । अन्धा होरहा हूं अब अपने घरका मार्ग मुझको सूझता नहीं । इसी प्रकार कामरूप तस्करने इस बिचारे जीवको अपने आत्मानन्द-नगरसे लाकर अविद्यामय प्रपंचके बनमें छोडदिया है । इसीकी प्रेरणासे यह प्राणी इसके वशमें पडा हुआ, नाना प्रकारके पापोंका आचरण करता हुआ, परमानन्द-रूप मार्गको भूला हुआ दुखी हो फिररहा है । केवल एक काम रूप महा बिकारके उत्पन्न होनेसे सारा बना-बनाया घर बिगडजाता है । सब इन्द्रियां विकारयुक्त होजाती हैं । प्रमाण—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥
(मनु० अ० २ श्लो० ९९)

अर्थ— सब इन्द्रियोंमें यदि एक इन्द्रिय भी विषय सुखमें लगजावे तो इस प्राणीकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर नहीं रहती, भ्रष्ट होजाती है। जैसे चर्मसे बनाये मशकमें एक ही छिद्र होनेसे सब पानी निकल जाता है । इसी प्रकार कामरूप छिद्रद्वारा इस प्राणीके सब गुण निकल जाते हैं । फिर तो यह रीते मशकके समान अपना खाल लिये पडा रहता है । भगवान् भी इसी अभिप्रायको पहले कहचुके हैं, कि "बुद्धिनाशात प्रणश्यति" (अध्या० २ श्लो० ६३) मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यह है, कि रजोगुणसे उत्पन्न यह *काम ही महा वैरी है जिसकी प्रेरणासे प्राणी बिना इच्छा किये भी हठात पापोंका आचरण करने लगजाता है ॥ ३७ ॥

किस प्रकार इस कामरूप वैरीने ज्ञान और वैराग्य की आंखोंपर पट्टी लपेट दी है उसे अगले श्लोकमें तीन दृष्टान्त देकर योगेश्वर भगवान् अर्जुनको समझाते हैं ।

---

* इस मेरे लेखसे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि इस **काम** का जीतनेवाला कोई नहीं है । नहीं ! नहीं !! ऐसे-ऐसे महापुरुष भी हैं जिन्होंने कामको मिट्टीमें मिला दिया है । सभोंपर विदित है, कि जिस समय कामदेव वसन्त ऋतु इत्यादि अपनी सारी सेना लेकर श्री कैलाशपति श्री शंकर भगवान् को मोहने आया है उस समय शंकर भगवान्ने अपना तीसरा नेत्र खोलकर उसे भस्म करडाला ।

इसी प्रकार जिस समय महात्मा शुकदेवको मोहनेके लिये **रम्भा** नामकी अप्सरा पहुंची है और स्त्री सुखका आनन्द उनके सन्मुख वर्णन कर उनकी तपस्याको भ्रष्ट करने चाहा है उस समय शुकदेवने उस अप्सराको ऐसा धतकारा है, कि वह लज्जित होकर अपना मुंह लिये अपने घर लौटगई । इससे सिद्ध होता है, कि जो भगवान्के परम भक्त हैं उनपर कामदेवका बाण कुछ भी काम नहीं करसकता ।

मू०— धूमेनाव्रियतेवह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

पदच्छेदः— यथा (येन प्रकारेण) वह्निः (अग्निः) धूमेन (अग्निवाहेन । शिखिध्वजेन । खतमालेन) आव्रियते (आच्छाद्यते) च, (तथा) आदर्शः (दर्पणः) मलेन [आव्रियते] यथा, गर्भः (भ्रूणः) उल्वेन (गर्भवेष्टनेन) आवृतः (आच्छादितः) तथा (तेनैव प्रकारेण) तेन (कामेन) इदम् (वक्ष्यमाणम् ज्ञानम) आवृतम् (आच्छादितम् । आवेष्टितम) [विद्धि] ॥३८॥

पदार्थः— (धूमेन) धूआंसे (यथा) जैसे (वह्निः) आग (आव्रियते) घेरीहुई रहती है और जैसे (आदर्शः) मुख देखनेका दर्पण (च) भी (मलेन) धूल और मिट्टीसे घिरा हुआ रहता है फिर (यथा) जैसे (गर्भः) माताके गर्भमें प्राणीका शरीर (उल्वेन) गर्भवेष्टन जो झिल्ली तिससे (आवृतः) लपेटा रहता है (तथा) तैसे ही (इदम्) यह आत्मज्ञान (तेन) तिस पूर्व कथन किये हुए कामसे (आवृतम्) घेरा हुआ रहता है ॥ ३८ ॥

भावार्थः— अब श्री गोविन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जैसे [धूमेनाव्रियते वह्निः] आग धूमसे घिरी हुई अपना प्रकाश प्रकट नहीं करती । अपने धूमके भीतर छुपी रहती है । इसी-प्रकार आत्मतत्त्व वा ब्रह्मतत्वको अग्निसे इसलिये उपमा देते हैं, कि जैसे अग्निके एक क्षुद्र अंश दीपकके जलनेसे घरके भीतरकी रक्खी हुई

सब वस्तु तत्तु दीखने लगजाती हैं, इसी प्रकार आत्म-तत्त्व वा ब्रह्म-तत्त्वके हस्तगत होनेसे ब्रह्म-लोकसे पाताल पर्य्यन्तकी वस्तु तत्तु हस्तामलकवत् दीखने लगजाती हैं । गुण, अवगुण, पाप, पुण्य, हानि, लाभ, दुःख, सुख; बन्ध, मोक्ष इत्यादि सबका स्वरूप स्वच्छ दीखने लगजाता है । तब प्राणी सर्व प्रकारके बन्धनोंसे छूट ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त होता है । प्रमाण श्रु०— " **यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः ।** " (श्वेताश्वतरोप० अ० १ श्रु० ५)

अर्थ— जब दीपक हाथमें लियेहुए युक्तपुरुषके समान आत्मतत्त्व-रूप दीपक द्वारा ब्रह्मतत्त्वको देखता है तब वह उस अज, ध्रुव, सर्व-तत्त्वोंसे निर्मल देवको जानकर सर्व प्रकारके बन्धनोंसे छूटजाता है ।

इसी कारण भगवान्ने आत्मतत्त्वको दीपकसे वा अग्निसे उपमा देकर कामको धूमसे उपमा दी है । कामको धूमसे उपमा देनेका मुख्य कारण यह है, कि जैसे नेत्रोंके सामने धूम आजानेसे कुछ कहीं सूझता नहीं । इसी प्रकार कामरूप धूमकी वृद्धिसे ज्ञान और वैराग्य रूप नेत्रोंके सामने धूमैलापन छाजाती है और ये दोनों नेत्र कडुआने लगते हैं । अर्थात् कामासक्त-पुरुषोंको ज्ञान और वैराग्यकी बातें कडुई लगती हैं ।

अब योगेश्वर भगवान् दूसरा दृष्टान्त देकर समझाते हुए कहते हैं, कि [**यथादर्शो मलेन च**] जैसे दर्पण धूल धक्करसे आच्छादित होकर मुख देखने योग्य नहीं रहता इसी प्रकार आत्मज्ञान-रूप

दर्पण काम-रूप मलसे ढका रहता है। यहां ज्ञानको दर्पणसे उपमा देनेका कारण यह है, कि जैसे दर्पण अपने मुखके सामने आनेसे अपना मुख स्वच्छ देख पडता है, ऐसे ज्ञान-रूप दर्पणके सम्मुख होनेसे अपना आत्म-स्वरूप स्वच्छ देखपडता है। अर्थात् मनुष्य जानने लगता है, कि मैं आत्मा हूं, निर्मल हूं। ऐसे जानते-जानते "अहं-ब्रह्मास्मि" अखण्ड तत्त्वका अनुभव करने लगजाता है। इसी कारण आत्मज्ञानको दर्पणसे उपमा दी है। फिर कामको मलसे उपमा देने का कारण यह है, कि जैसे दर्पण मलके आच्छादनसे मलीन होजाता है, मुख देखने योग्य नहीं रहता ऐसे ज्ञान-रूप दर्पणपर कामरूप मलके पडनेसे अपना स्वरूप देखा नहीं जाता। आत्मानन्दकी विस्मृति होजाती है।

अब श्री आनन्दकन्द तीसरा उदाहरण देते हुए कहते हैं, कि [**यथोल्वेनावृतो गर्भः**] जैसे ल्वेनसे गर्भ ढका रहता है। अर्थात् जैसे माताके गर्भमें चादरके समान एक पतला चर्म जिससे बच्चेका शरीर चारों ओरसे लपेटा रहता है उसे ल्वेन कहते हैं। यहां कामको ल्वेनसे उदाहरण देनेका तात्पर्य्य यह है, कि जैसे गर्भका बच्चा जबतक ल्वेनसे घिरा रहता है तबतक उसकी आंखें तथा हाथ पांव इत्यादि सब इन्द्रियां विना व्यवहारके निरर्थक पडी रहती हैं। इसी प्रकार जबतक ज्ञान कामरूप चर्मसे बंधा रहता है तबतक उस ज्ञानका कुछभी प्रभाव देखनेमें नहीं आता। प्राणी अविद्याके बन्धनसे जकडा हुआ रहता है। जब कामका वेष्टन हट जाता है तब

प्राणी जीवन्मुक्त हो हाथ पांव फैला आनन्दके नगरमें विहार करने लगजाता है । फिर कामको ल्वेनसे उपमा देनेका दूसरा कारण यह है, कि जैसे ल्वेन प्राणीके शरीरको तबहीतक घेरे रहता है जब-तक प्राणी माताके गर्भमें रहता है । पर जिसी क्षण प्राणी गर्भसे बाहर निकलता है उसी क्षण वह ल्वेन आपसे-आप फटजाता है। इसी प्रकार जबतक प्राणी मायाके गर्भमें निवास करता है तबहीतक कामरूप ल्वेन उसको घेरे रहता है, पर जैसे गुरु-कृपासे मायाके गर्भसे बाहर निकला झट उसी क्षण कामरूप ल्वेन फटगया। फिर तो यह प्राणी भगवत्-स्वरूपको प्राप्त कर आनन्दके सागरमें मग्न होजाता है ।

योगेश्वर भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! मैंने तुझको ये तीन उदाहरण देकर यह दिखलाया, कि इसी प्रकार [**तथा तेनेदमावृतम्**] तैसे ही तिस कामसे यह आत्मज्ञान घिराहुआ है।

इसी विषयको भगवान आगे अध्याय ५ श्लोक १५ और १६ में कहेंगे, कि अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है इसलिये उस अज्ञानसे जीव मोहित रहते हैं, और जिस प्राणीके ज्ञानसे तिस अज्ञानका नाश होजाता है, उसके हृदयमें इस आदित्यवत ज्ञान परब्रह्म-स्वरूप का प्रकाश होजाता है ॥ ३८ ॥

यह काम ज्ञानियोंका कैसा प्रबल शत्रु है ? सो भगवान अगले श्लोकमें कहते हैं ।

मू०— आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

पदच्छेदः— कौन्तेय ! (हे कुन्तीपुत्र !) ज्ञानिनः (विवेकिनः) नित्यवैरिणा (सततं शत्रुणा) एतेन (अनेन) कामरूपेण (मन्मथरूपेण) दुष्पूरेण (पूरयितुमयोग्येन) अनलेन (न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्येत्यनलो वह्निः, तेन) च, ज्ञानम् (आत्मतत्त्वम्) आवृतम (आच्छादितम्) ॥ ३९ ॥

पदार्थः— (कौन्तेय !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! (ज्ञानिनः) ज्ञानियोंके (नित्यवैरिणा) नित्यके शत्रु (एतेन कामरूपेण) इस कामरूप (दुष्पूरेण) कभी नहीं सन्तुष्ट होने वाली (अनलेन) अग्निसे (ज्ञानम्) विवेकियोंका आत्मज्ञान (आवृतम) घेराहुआ है । अर्थात् ज्ञानियोंका ज्ञान काम-रूप अग्निके बीच पडा जल रहा है ॥ ३९ ॥

भावार्थः— पहले जो दयासागर श्री नटनागरने कामका वर्णन किया, उसे विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! ज्ञानियोंके नित्य वैरी इस काम से ज्ञान ढका हुआ रहता है अर्थात ज्ञानियोंका नित्य शत्रु यह कामरूप अग्नि अत्यन्त ही दुःखदायी है । क्योंकि एक शत्रु वह होता है जो किसी प्राणीको घंटे दो घंटे वा दो दिन चार दिन अथवा महीने

दो महीने वा अधिकसे अधिक दो बरस दुःख देता है, पर एक शत्रु वह है जो जन्मसे मरण पर्यन्त भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान् कालमें दुःख देता है । सो हे अर्जुन ! यह जो काम है सो अज्ञानियोंका नित्य वैरी नहीं है पर ज्ञानियोंका तो यह नित्य वैरी है । कारण यह है, कि अज्ञानी तो विषय-भोगके समय कामको परम सुखदायी जान कर कामकी वृद्धि करनेके निमित्त बडी प्रसन्नताके साथ कामराजकी पौष्टिक-गोलियां मंगाकर खाया करता है और आनन्द-पूर्वक विहार करता है । अर्थात् विषय-भोगसे पहले अथवा विषय-भोग करते समय अज्ञानी कामको अपना शत्रु नहीं समझता, पर भविष्यत्में जब दुःख प्राप्त होता है तब समझता है, कि इस कामने मेरे साथ बडी शत्रुता की है । इसलिये यह काम अज्ञानियोंका नित्य वैरी नहीं है पर ज्ञानियों का तो नित्य वैरी है । क्योंकि ज्ञानियोंको तो यह काम तीनों काल दुःखदायी है । देखो जब काम अपने विषयकी ओर खींचता है तब भी ज्ञानीको दुःखका अनुभव होता है । क्योंकि वह जानता है, कि परिणाममें इस भोगके द्वारा मुझे दुःख झेलना पडेगा । पर यह काम ऐसा बलवान् है, कि उसकी इस बुद्धिको लोप कर अन्तःकरणपर बलात्कार अपना प्रभाव डालदेता है। इसलिये बिचारा ज्ञानी भी पछाड खाजाता है । इस बलवान्को रोक नहीं सकता । इसलिये विषय-भोगसे पूर्व तथा विषय भोगते हुए और विषय-भोगके परिणाममें भी ज्ञानियोंका यह अत्यन्त दुःखदायी है । इसलिये ज्ञानियों ही के लिये यह नित्य वैरी कहा गया है । भगवान् कहते हैं, कि ऐसे नित्य वैरी कामसे ज्ञान भी ढका हुआ है सो काम कैसा है ? सुनो ! [दुष्पूरेण अनलेन

च] अत्यन्त दुःखसे भी नहीं पूरी होनेवाली वह अग्नि है तिसके समान यह काम-रूप अनल कभी सन्तुष्ट होनेवाला नहीं है अर्थात् अनलका स्वभाव है, कि कभी पूरा नहीं होता । इस अनल शब्दका यही अर्थ है, कि " नास्त्यलं पर्याप्तिर्यस्य " जिसका अलम् (अन्त) सन्तोष वा समाप्ति कभी न हो, उसे कहिये अनल । जैसे आगमें जितनी घृतकी आहुति देते जाओ वह अधिकसे अधिक होती जावेगी । कितना भी इसे भोजन कराते जाओ अर्थात् लकडियां डालते चले जाओ सबको भस्म करती चली जावेगी । अग्निदेवकी क्षुधाकी शान्ति न कभी हुई न होगी । इस कारण कामको (च) चकार कहकर अनलसे भी उपमा देदी । क्योंकि श्री हरिने पहले इस कामको धूमसे उपमा दी है । फिर अग्निसे उपमा देनेका कारण यह है, कि अग्निमें पहले धूम प्रकट होता है, फिर वह धूम अनलके स्वरूपमें अभिव्यक्त होजाता है । इसीप्रकार आरंभमें तो काम धूमके समान केवल विवेक और वैराग्यके नेत्रोंहीको मीचदेता है। पीछे वृद्धिको प्राप्त होते—होते अग्निके समान ज्ञानियोंके अन्तःकरण तथा शरीरको भी भस्म करने लगजाता है । इसलिये यह महा दुष्पूर अग्नि है । जितना विषय-भोग करते चलेजाइये उतना ही यह काम अधिक बढता चलाजाता है । इसलिये इसे दुष्पूर कहा है । इस कामरूप अग्निमें साधारण अग्निसे अधिक ताप है । क्योंकि साधारण अग्निका तो जलाया हुआ कोयला और भस्म होकर रहजाता है, पर इसका जलाया हुआ न कोयला होता है न भस्म होता है । क्योंकि यह एकबार जलाकर फिर जलाता है । बारम्बार खोरकर जारता है।

फिर भी ज्ञान नहीं छोडता । भगवान् कहते हैं, कि इस दुष्पूर अग्निसे ज्ञान घिरा हुआ है । जैसे किसी प्राणीके घरमें चारों ओरसे आग लग जावे, जितने द्वार हैं सब अग्निसे आच्छादित होजावें, तो वह उस घरसे बाहर नहीं निकल सकता । इसी प्रकार जिस प्राणीके ज्ञानरूप गृहको इस कामरूप अग्निने घेरलिया, फिर वह किसी ओरसे निकलनेका यत्न नहीं करसकता । यों तो जितने विषय-भोग संसारमें हैं सब काम ही कहलाते हैं, पर सबसे अधिक दुःखदायी वह काम है जिससे स्त्रीकी इच्छा होती है । इस इच्छासे प्राणी मूलसे नाश होजाता है । क्योंकि स्त्रीरूप सांपनीके डसे हुए प्राणीका विष उतारनेकेलिये किसी प्रकारका गारुडी—मंत्र नहीं है । जिसके सिरपर यह डाकिनी चढजाती है उसे जडमूलसे नाश करदेती है । इससे देव, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, किन्नर सभी डरते हैं । इसी कारण उपनिषदोंने स्त्री को ही कामका देवता कथन किया है— सुनो ! श्रु० य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति ? स्त्रिय इति होवाच । (देखो बृह० अ० ३ ब्रा० ६ श्रु० ११) यहां याज्ञवल्क्य शाकल्य मुनिसे कहते हैं, कि हे मुने ! तुमने जो प्रश्न किया, कि यह जो काममय—पुरुष है सो इसका कौन देवता है ? सो निश्चय करके जानो कि इसका देवता स्त्री है ।

प्रिय पाठको ! इसी प्रकार अन्य कई उपनिषदोंमें कामकी स्त्री ही देवता कही गयी है । जैसे सब इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देव और देवी हैं । नेत्रके सूर्य, कर्णके दशों दिग्पाल, नासिकाके अश्विनीकुमार तथा जलके वरुण इत्यादि हैं । इसी प्रकार कामकी देवी " स्त्री " है ।

आजकलके जो निराकार उपासक अपने घरमें देव, देवी स्थापना नहीं करते, वे भी अपने महलोंमें स्त्री देवीकी स्थापना तो अवश्य करते ही हैं। देवलोकसे पृथ्वी-मंडल-पर्य्यन्त ऐसा कोई भी घर नहीं जहां स्त्री देवीकी स्थापना न हो। यहांतक कि ब्रह्मदेवके घरमें भी प्रकृति होकर बैठी हुई है। यह ऐसी प्रबला है, कि केवल अक्षत, चन्दन और पुष्पसे नहीं मानती। यह तो पुरुषकी सारी आयुको मोल लेलेती है। और दिना-रात्रि अपनी पूजा और सेवामें फंसा रखती है। इसलिये अन्य देवताओंसे इसमें विशेष गुण है। सब देश, सब जाति और सब धर्म्मके पुरुष इस देवीकी पूजा अन्तः-करणसे एकाग्रचित्त हो करते हैं। यदि पुरुष केवल इसकी पूजा अपने धर्मानुसार करे तो उतनी हानि नहीं। क्योंकि इस देवीकी पूजासे पुत्ररूप उत्तम फल प्राप्त होता है जो पितरोंको नरकसे उद्धार करता है, पर धर्मके विरुद्ध अन्य किसीकी स्थापनाकीहुईमें अन्तः-करण लगाकर पूजा सेवा करनेसे यह देवी संहारकारिणी कालिकाके समान जड-मूलसे खाजाती है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानियोंका ज्ञान इस कामरूप दुष्पूर अग्निसे घिराहुआ है ॥ ३९ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! यह काम विशेषकर इस शरीरमें अपना स्थान कहां रखता है? सो कृपाकर कहो! क्योंकि शत्रुका स्थान जाननेसे सुखपूर्वक उसे +पराजय करसकते हैं।

+टिप्पणी—ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने सुखेन शत्रुनिर्बर्हणं कर्त्तुं शक्यत इति (शंकराचार्य्यः)

इतना सुन श्री आनन्दकन्द उत्तर देते हैं, कि हे अर्जुन ! सुन !
अब मैं तुझे इस शरीरमें कामका अधिष्ठान बताता हूं—

मू०— इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

पदच्छेदः—इन्द्रियाणि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धग्राहकाणि श्रोत्रादीनि) मनः (संकल्पविकल्पात्मिका अन्तकरणवृत्तिः) बुद्धिः (निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः) अधिष्ठानम (नगरम् । अध्यासनम् । अवस्थानम् । वा आश्रयः) उच्यते (कथ्यते) एषः, एतैः (आश्रयैः । इन्द्रियादिभिः) ज्ञानम (आत्मज्ञानम्) आवृत्य (आच्छाद्य) देहिनं (शरीरिणम् । देहाभिमानिनम्वा) विमोहयति (प्रलोभयति । विविध प्रकारेण मोहयति) ॥ ४० ॥

पदार्थः— (इन्द्रियाणि) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी ग्रहणकरनेवाली जो कान, त्वचा, चक्षु इत्यादि इन्द्रियां हैं और (मनः) संकल्पविकल्पात्मक जो मन है तथा (बुद्धिः) सब तत्त्वोंको समझनेवाली जो बुद्धि है, ये ही तीनों (अस्याधिष्ठानम्) इस कामके अधिष्ठान अर्थात् निवास करनेके नगर वा स्थान (उच्यते) कहेजाते हैं। इसलिये (एषः) यह जो काम है सो (एतैः) इन्हीं तीनोंसे अर्थात इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे (ज्ञानमावृत्य) ज्ञानको आच्छादन करके (देहिनम्) प्रत्येक शरीरधारीको (विमोहयति) छलता है अर्थात् मोहमें डालकर उसके ज्ञानको नाश करदेता है ॥ ४० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो कामका अधिष्ठान पूछा है उसे योगेश्वर भगवान् वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते**] इन्द्रियां, मन और बुद्धि यही तीनों कामके अधिष्ठान अर्थात् निवास-स्थान हैं, तिनमें सबसे प्रथम ये इन्द्रियां हैं। क्योंकि ये जो पांच ज्ञानेंद्रिय और पंच कर्मेन्द्रिय हैं, जिनके द्वारा सब प्रकारके विषयोंका भोग होता है। ये कामके प्रथम अधिष्ठान हैं। क्योंकि इंद्रियां न हों तो मनको किसी प्रकार कामका बोध ही नहीं होसकता। जैसे राजाओंके गुप्तचर भिन्न भिन्न प्रकारकी बातें इधर उधरसे इकट्ठी कर गुप्त-रूपमें राजाको कह-आते हैं। उनके द्वारा राजा सर्व प्रकारकी वार्ताओंको जानजाता है। तदनुसार आचरण करता है। इसी कारण शास्त्रोंमें " **चारचक्षुर्महीपालः** " राजाको चारचक्षु कहते हैं। अर्थात् गुप्तचर लोग जिसके नेत्र हैं। ऐसे ही मन-रूप महीपाल अपने गुप्तचर श्रवणादि द्वारा नाना प्रकारके विषयोंको प्राप्त कर उनके भोग उपभोगमें प्रवृत्त होता है। जैसे पहले कानने किसी सुन्दरीकी सुन्दरताई सुनी, तब नेत्रोंने उसे देखना चाहा। देखनेके साथ ही मनको जा कहा तब मनोवृत्ति उसमें प्रवेश कर बुद्धिके साथ मिल उसकी प्राप्तिकी चिन्तामें पडी तब मनकी, शान्त, घोर और मूढ तीनों वृत्तियोंमेंसे " **घोर** " और " **मूढ** " दो वृत्तियां उसकी प्राप्तिके उद्योगमें लगगईं। पाठकोंके कल्याणार्थ इन वृत्तियोंकी चाल स्पष्ट-रूपसे यहां दिखलायी जाती है।

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्य्यमित्याद्याः शान्तवृत्तयः ॥

तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥

(वेदान्तपंचदशी प्रक० १५ श्लो० ३४)

अर्थ—शान्त, घोर और मूढ ये ही तीन वृत्तियां मनकी कही जाती हैं । इनमें जब मनोवृत्ति वैराग्य, क्षमा और उदारताकी ओर जाती है, तब उसे शान्त—वृत्ति कहते हैं । जब तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ इत्यादिकी ओर जाती है, तब उसे "घोर-वृत्ति" कहते हैं । जब मोह और भयकी ओर जाती है, तब उसे "मूढ-वृत्ति" कहते हैं । जब वहां "शान्त-वृत्ति" सत्वगुणका कार्य्य है, "घोर-वृत्ति" रजोगुणका कार्य्य है और "मूढ-वृत्ति" तमोगुणका कार्य्य है । यह वार्त्ता श्रुतियोंसे भी सिद्ध की हुई है, कि किसी कर्मके करते समय पहले मनोवृत्ति आगे चलती है । प्रमाण श्रुतिः— **यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति । यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति ॥** अर्थ—प्राणी पहले जो कुछ मनमें मनन करता है तदाकार ही मुखसे उच्चारण करता है फिर जैसा उच्चारण करता है तदाकार ही कर्म करता है । इसीलिये कामने पहले नेत्रोंमें अपना अवस्थान किया तब मनको सुधि हुई तब मन उस सुन्दर स्त्रीकी प्राप्ति निमित्त घोर और मूढ वृत्तियोंमें मग्न होगया । अर्थात् तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ जो "घोरवृत्तिके" चार अंग हैं, ये चारों कामके सहायक होगये । जैसे गढके चार द्वारपाल चारों ओरसे राजाकी रक्षा करते हैं और सब उसीकी आज्ञामें वर्तते हैं । इसी प्रकार जब ये चारों कामरूप राजाके रक्षक और सहायक

होगये। अर्थात उस युवतीके मिलनेकी तृष्णा उसका स्नेह, फिर उससे राग अर्थात् प्रीति और उसके संग मिलनेके आनन्दका अनुभव करके लोभ सब एकाएक मन और बुद्धिमें उदय होआये। एवम्प्रकार मन अपनी घोर-वृत्तिमें मग्न होगया। वह घोर-वृत्ति बढ़ते-बढते मूढ-वृत्तिको प्राप्त हुई। अर्थात मोह और भय ये दोनों भी उदय होआये। मोहने तो यह कहा, कि तू चाहे प्राण भी अर्पण करदे पर यह युवती तुझे नहीं मिलेगी और भयने यह कहा, कि यदि तू इसकी प्राप्तिका यत्न कर इसे प्राप्त भी करे तो पीछे परस्त्रीके चुरालानेका दण्ड कारागारका दुःख तुझे भोगना पडेगा। मुख्य तात्पर्य यह है, कि निश्चय कर इन्द्रिय, मन और बुद्धि इस काम-रूप शत्रुके रहनेके स्थान हैं इसमें तनक भी सन्देह नहीं है। भगवान कहते हैं, कि [**एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्**] हे अर्जुन! इन्हीं इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा यह काम ज्ञानको घेरकर देह-धारियोंको मोहा करता है। अर्थात नाना प्रकारकी कला दिखला-कर नाश करदेता है। जैसे दो मल्ल परस्पर युद्ध करते हुए अपनी युद्धकला दिखलाते हैं इनमें जिसकी कला अधिक हुई वह विजय पाता है। इसी प्रकार ज्ञान और काम दोनों मल्ल परस्पर युद्ध करते हैं, पर काम अपनी कलाओंसे मोहकर ज्ञानको पराजय करता है। मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी देहाभिमानी होनेके कारण देहमें स्नेह रखता है, उसे काम जीतलेता है। जब देहाभिमान छूटजावे तब आपसे आप काम की निवृत्ति भी होजावे। जैसे दुष्टस्वभाववाले जीव—जन्तु, जो कुत्ते सर्प, विच्छू, व्याघ्र इत्यादि हैं जब छेडेजाते हैं तबही दुःखदायी होते

हैं। नहीं जो इनसे अपनेको बचाकर चलेजाइये ये कुछ नहीं कहते। इसी प्रकार काम क्रोध इत्यादिको छेडना उचित नहीं वरु अपनेको इनसे बचाकर अपने ब्रह्मानन्दरूप घरकी ओर सीधे चले जाना चाहिये। यद्यपि ये परिपंथी हैं तथापि बिना छेडे कुछ नहीं कहेंगे ॥ ४० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! इनसे बचनेका क्या उपाय है ? भगवान् बोले हे अर्जुन ! सुन—

मू०— तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ!।
पाप्मानम्प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञाननाशनम् ॥
॥ ४१ ॥

पदच्छेदः— भरतर्षभ ! (हे भरतवंशशिरोमणे !) तस्मात् (इतिहेतोः। अतः। अनेन कारणेन) त्वम्, आदौ (प्रारम्भकाले। कामनिरोधात् प्रागवस्थायाम्) इन्द्रियाणि (चक्षुःश्रोत्रादीनि) नियम्य (वशीकृत्य) ज्ञानविज्ञाननाशनम् ("ज्ञानम्" शास्त्रत आचार्य्यतश्चात्मादीनामविरोधः। "विज्ञानम्" विशेषतस्तदनुभवः। तयोर्ज्ञानविज्ञानयोः श्रेयः प्राप्तिहेत्वोर्नाशनम्। अथवा "ज्ञानम्" शास्त्राचार्य्योपदेशजं परोक्षं। विज्ञानमपरोक्षं। तयोर्ज्ञानविज्ञानयोर्नाशनम्) पाप्मानम् (पापाचारम्। सर्वपापमूल-भूतम्) एनम् (कामरूपम् वैरिणम्) हि (स्फुटरूपेण) प्रजहि (परित्यज। प्रकर्षेण मारय) ॥४१॥

पदार्थः—(तस्मात्) इसलिये (भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (त्वम्) तू (आदौ) पहले (इन्द्रियाणि) इन्द्रियोंको (नियम्य) वशीभूत करके (ज्ञानविज्ञाननाशनम्) ज्ञान

और विज्ञानके नाश करनेवाले (पाप्मानम्) सर्वप्रकारके पापोंके मूल (एनम्) इस अपने कामरूप शत्रुको (हि) निश्चयकरके स्फुटरूपसे (प्रजहि) त्यागकरदे ! ॥ ४१ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो भगवानसे कामरूप शत्रुकी जय करनेका उपाय पूछा है तिसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !**] (भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! सुन ! यहां भरतर्षभ कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि इस कुलमें जितने श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं सब कामना-रहित हुए हैं और कामको परित्याग करते चले आये हैं । इसलिये इस पवित्र कुलमें श्रेष्ठ होनेसे अर्जुन भी काम परित्याग करनेका अधिकारी अवश्य है । अब तिसे त्यागनेका उपाय कहते हुए भगवान् उपदेश करते हैं, कि यह काम बहुत ही बडा दुःखदायी शत्रु है । इसलिये पहले तू इन्द्रियोंको वशीभूत करके इसके त्यागका यत्न कर ! क्योंकि जब शत्रुको अपने स्थानसे निकालनेका उपाय कियाजाता है, तब सबसे पहले उस गढको जिसमें वह रहता है घेरकर अपने वश करना पडता है । पूर्वश्लोकमें कह आये हैं, कि इन्द्रियां इस कामरूप शत्रुके अधिष्ठान अर्थात् गढ है । इसलिये इन इन्द्रियोंपर पूर्णरूपसे प्रभाव जमा लेनेसे वह काम अवश्य वशीभूत होजावेगा । भगवान् कहते हैं, कि सबसे पहले इन इन्द्रियोंको वश करके हे अर्जुन ! [**पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्**] इस ज्ञान विज्ञानके नाशकरनेवाले महा घोर पापात्मा कामरूप शत्रुको त्यागकरदे ! यह कामरूप शत्रु बडा प्रबल और सर्व शत्रुओंका शिरोमणि घोर पापी

है। क्योंकि अन्य संसारी-शत्रु तो केवल धन, सम्पत्ति तथा इस नेश्वर शरीरको ही नाश करनेकी इच्छा रखते हैं, पर यह पापी तो धन सम्पत्ति तथा शरीरको नाश करता हुआ ज्ञान विज्ञानको भी जो अलौकिक रत्न हैं नाश करडालता है। जिस ज्ञान और विज्ञानकी प्राप्ति से यह जीव सदाके लिये सुखी होता है। मोक्ष लाभ करता हुआ परमानन्दको प्राप्त होता है। तिस नित्य-सुखके मूलको यह काम बलात्कार छीन ही लेता है।

शंका— यहां हृदयमें दो प्रकारकी शंकाओंका प्रवेश होता है, प्रथम तो यह, कि भगवान्ने इस श्लोकमें कामसे बचनेका उपाय बतलाते हुए यों कहा है, कि हे अर्जुन! "त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य" तू सबसे आदिमें अर्थात् सबसे पहले इन्द्रियोंको अपने वशमें करके कामसे अपनेको बचा— तहां आदि कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि इन्द्रियोंका वश करना तो प्रथम उपाय है। इसलिये इससे इतर उपाय भी होंगे? भगवान्ने उन उपायोंका कथन यहां क्यों नहीं किया?

दूसरी शंका यह है, कि भगवान्ने इस श्लोकमें जो इन्द्रियोंको वश करना कहा तिस वश करनेका कुछ उपाय नहीं बताया। क्योंकि जिन इन्द्रियोंके विषय भगवान पहले कहचुके हैं, कि "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः" ये इन्द्रियां बलवान् हैं, बलात्कार मनको अपनी ओर खींचलेती हैं। ऐसी इंद्रियोंका झट वश करना कैसे बने? इस कारण इनको वश करनेका कुछ उपाय तो यहां बतलाया होता सो इस श्लोकमें क्यों नहीं बतलाया?

समाधान— हे वादी तेरी पहली शंका जो यह है, कि भगवानके आदि शब्द कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि पहले इंद्रियोंके वश करनेके पश्चात् कामसे बचनेके अन्य उपाय भी कुछ न कुछ होंगे सो तेरा कहना सत्य है तू धीरज रख भगवान् अगले श्लोकमें अन्य उपायोंको भी बतावेंगे।

दूसरी शंका जो तुमने की है, कि इन "प्रमाथीनि" (बलवान) इन्द्रियोंके वश करनेको कहीं पर कुछ उपाय न बतलाया, सो यह तेरी भूल है तुझे स्मरण नहीं है, कि जहां भगवान्ने ऐसा कहा, कि "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि" वहां ही ऐसा भी कहा है, कि "तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीद मत्परः" (देखो अ० २ श्लो० ६१) इन इन्द्रियोंको वशीभूत कर समाहितचित्त हो मेरा परायण होरहे ! अर्थात् मैं जो सर्वेश्वर सर्वात्मा तिसमें मन लगावे। मेरी शरण होनेसे इन्द्रियां वशीभूत हो फिर हाथसे बाहर न जावेंगी। दूसरा तात्पर्य भगवानका यह है, कि इन्द्रियां सहज ही वश होजावेंगी यदि प्राणी विषयका संग छोडदेवे। क्योंकि भगवान् यह भी कहचुके हैं, कि "ध्यायतो विषयान्पुंसः" (देखो अ० २ श्लो० ६२) विषयोंका ध्यान करते रहनेसे उनका संग उत्पन्न होता है और संगसे कामका उदय होता है। इसलिये यदि इंद्रियोंको वश किया चाहें तो विषयोंका संग परित्याग करदे। हे वादी ! इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि भगवान्ने इंद्रियोंके वश करनेके दो उपाय बताये— १. अपनी मोहनी मूर्त्तिका ध्यान और २. विषय संगका त्याग। सो यह सिद्धान्त है, कि भगवत्की मोहिनी मूर्त्तिका ध्यान हृदयमें जमजानेसे

विषयोंका त्याग भी हो ही जाता है। इसलिये भगवत्की मोहनी मूर्त्तिमें सदा मन टिकाये रहे। फिर तो जैसे भ्रमर कमलके पुष्प पर आकर अन्य किसी पुष्पकी इच्छा नहीं करता ऐसे भगवत्-स्वरूपका विषयी अन्य किसी विषयकी इच्छा नहीं करता। शंका मत करो!

शंका— अब इस श्लोकमें तीसरी शंका यह है कि, भगवान् ने जो कामको ऐसा कहा, कि यह ज्ञान विज्ञान दोनोंका नाश करने वाला है ऐसे कहनेसे ज्ञान विज्ञानसे काम ही प्रवल वीर है। ज्ञान विज्ञान तो बहुत ही निर्वल ठहरे। फिर ऐसे निर्बलके आश्रय क्यों होना?

समाधान— काममें ऐसी प्रवलता नहीं है, कि ज्ञान और विज्ञानको तत्त्वत: नाश कर सदाके लिये सारा घर बिगाड दे, केवल थोडी देरके लिये कामके भयसे ज्ञान विज्ञान अन्तःकरणसे हट जाते हैं। जैसे कोई परम-पवित्र सर्व-शास्त्र-वेत्ता किसीके घरमें पाक बनारहा हो, इतनेमें एक चाण्डाल उस घरमें अकस्मात् घुसजावे, तो वह पवित्र ब्राह्मण अपना पाक छोड उस घरसे बाहर निकल जावेगा। तात्पर्य यह है, कि उस चाण्डालने ब्राह्मणको जानसे मारकर नाश नहीं किया, केवल उस घरसे निकलजाने और थोडी देरतक भूखे रहनेका कारण हुआ। जैसे राहुसे सुर्य्य वा चन्द्र ढकेहुए देख पडते हैं। यथार्थमें राहु सुर्य्य वा चन्द्रको नाश नहीं करता, वा टुकडे-टुकडे नहीं करता है, केवल आवरणमात्र होजाता है। इसी कारण भगवान्ने पहले ही कह दिया है, कि "आवृतं ज्ञानमेतेन" इस कामसे ज्ञान घिरा हुआ है॥

इस कारण इस कामको थोडी देरके लिये ज्ञान विज्ञानका नाश करने वाला भी कहा। शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इसको निकाल देनेके तात्पर्य्यसे पहले इन्द्रियादि इसके गढको अपने बशीभूत कर फिर "प्रजहि ह्येनम्" स्फुटरूपसे दृढ निश्चयकर इसे त्यागदे ॥४१॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन! इन इन्द्रियोंको वश करनेके पश्चात कोई अन्य यत्न भी है? जिससे प्राणी इस कामसे बचे! इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परम् मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

पदच्छेदः— [देहादिभ्यः] इन्द्रियाणि (श्रोत्रादीनि) पराणि (प्रकृष्टानि) आहुः (पंडिताः श्रुतयो वा वदन्ति) इन्द्रियेभ्यः (श्रोत्रादिभ्यः) मनः (संकल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः) परम् (श्रेष्ठम्) मनसः, तु, बुद्धिः (निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः) परा (श्रेष्ठा) [तथा] यः, तु, बुद्धेः [अपि] परतः (उत्कृष्टः) सः (आत्मा) ॥ ४२ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन! (**इन्द्रियाणि**) श्रोत्रत्वक्चक्षुरादि इन्द्रियोंको महापुरुषोंने तथा श्रुतियोंने स्थूल देहसे (**पराणि**) परे अर्थात श्रेष्ठ (**आहुः**) कहा है और (**इन्द्रियेभ्यः**) इन इन्द्रियोंसे (**मनः**) संकल्पविकल्पात्मक मनको (**परम्**) श्रेष्ठ कहा है, तथा (**मनसस्तु**)

मनसे भी (बुद्धिः) निश्चयात्मिकावृत्तिको (परा) श्रेष्ठ कहा है। फिर (यः) जो (बुद्धेः) बुद्धिसे (तु) भी (परतः) परे स्थित है (सः) वही आत्मा है ॥ ४२ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो भगवान्से कामसे बचनेके अन्य उपाय पूछे हैं उनके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [इन्द्रियाणि पराण्याहुः] हे अर्जुन मैंने जो तुझे इन्द्रियोंका वशकरलेना कामसे वचनेका प्रथम उपाय बताया है सो इन्द्रियां इस जड स्थूल पांचभौतिक शरीरसे परे अर्थात् श्रेष्ठ कहीगयी हैं अर्थात् यह जो पंचभूतोंसे बनी हुई देह है सो रोम, चर्म, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, वीर्य्य, इन्हीं सप्तधातुओंका एक पिण्ड है। यदि प्राण न हो तो एक स्थानसे दूसरे स्थान तक हिल भी नहीं सकती। जड होनेके कारण यह कुछ समझ-बूझ नहीं सकती। परिच्छिन्न है अर्थात् एक दूसरे प्रमाणसे परिमित है। केवल साढे तीन हाथकी है। यदि किसी समय सात हाथ वा इक्कीस हाथकी रही हो तौ भी यह जड और परिच्छिन्न ही थी। कुम्भकर्णके समान यदि कई योजनका भी शरीर हो तौ भी वह जड और परिच्छिन्न ही कहा जावेगा। भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! ऐसे स्थूल शरीरसे इन्द्रियोंको श्रुतियोंने तथा शास्त्रवेत्ताओंने परे कहा है। क्योंकि इस स्थूल शरीरकी अपेक्षा इन्द्रियां सूक्ष्म हैं, चैतन्य हैं और अपरिच्छिन्न हैं। इन इन्द्रियोंके सूक्ष्म होनेका सिद्धान्त यह है, कि स्वप्नमें ये इन्द्रियां सूक्ष्म होनेके कारण कई सहस्र योजनकी सुधि ले आती हैं। यदि ये स्थूल होतीं तो स्थूल शरीरके साथ बंधी हुई खाट पर पडी रहतीं; पर ऐसा नहीं देखा जाता। ये तो स्थूलको कहीं किसी देशमें पडा छोड देती हैं, और आप बहुत

बड़ा विशाल नगर बनाकर दशों दिशाओंमें फिरती रहती हैं। हां! इतना तो अवश्य है, कि इस स्थूल शरीरमें जो इनके अधिष्ठान नेत्र, कर्ण, और नासिका इत्यादि हैं वे स्थूल हैं, पर दृष्टि-शक्ति, श्रवण-शक्ति, घ्राण-शक्ति इत्यादि जो इन इन्द्रियोंकी विभूतियां हैं स्थूल नहीं हैं सूक्ष्म ही हैं। इसी कारण ये इन्द्रियां स्थूल शरीरसे परे अर्थात श्रेष्ठ हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**इन्द्रियेभ्यः परं मनः**] इन इन्द्रियोंसे भी परे मन है, क्योंकि ये सब इन्द्रियां मनके अधीन हैं, जिधर-जिधर मन जाता है इन्द्रियां भी जाती हैं। " **मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति** ।" (विष्णुपुराण अंश ६ अ० ७ में देखो) अर्थ— मनको आगे कर ये इन्द्रियां विषय ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं अर्थात जब तक मन इनके साथ न हो ये कुछ भी नहीं कर सकती हैं। सो मन संकल्प-विकल्पात्मक होनेके कारण जब किसी वस्तुको देखने वा सुनने चाहता है तब ये इंद्रियां भी देखने सुनने लगती हैं। यहां श्रुतिका भी वचन है— श्रु० " **मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति** " मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है। भगवान् भी आगे दशवें अध्यायमें अपनी विभूति दिखलाते हुए कहेंगे, कि " **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** " अर्थ— इंद्रियोंमें मन मैं ही हूं अर्थात इन इंद्रियोंसे मनको श्रेष्ठता है। इस कारण कामको वश करनेके लिये आदिमें इंद्रियोंको वश कर इस मनको भी वश करना चाहिये। अर्थात कामसे बचनेका प्रथम उपाय इन्द्रिय-निग्रह है और दूसरा उपाय मनोनिग्रह है। तिस " मन " में नव विशेष गुण हैं। उन नवोंको निरोध करना चाहिये।

पाठकोंके बोध निमित्त उन नवों गुणोंका वर्णन करदिया जाता है, जिनके जानने से इस मनके वश करनेमें मनुष्योंको सुलभता प्राप्त होगी।

धैर्य्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा।

सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः (मोक्षधर्मः)

अर्थ— १. धैर्य्य २. उपपत्ति (ऊहापोहकौशलता) ३. व्यक्ति (स्मरण) ४. विसर्ग (भ्रान्ति) ५. कल्पना (मनोरथवृत्ति) ६. क्षमा ७. सत् (वैराग्यादि) ८. असत् (रागद्वेषादि) ९. आशुता (चंचलत्व) ये नव लक्षण मनके हैं इनमें शुभ लक्षणों के ग्रहण और अशुभ लक्षणोंके त्यागसे मन वशीभूत होसकता है। क्योंकि श्यामसुन्दर आगे यह भी कहेंगे, कि "**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**" (देखो अ० श्लोक) अर्थात् मन ही मनुष्योंके मोक्ष और बन्धन दोनोंका कारण है। इसी कारण भगवानने कामसे बचनेका दूसरा उपाय मनका वश करना बताया।

शंका— भगवानने पहले ऐसा कहा है, कि " **इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः** (देखो अ० २ श्लो० ६०) जिसका अर्थ यह है, कि इन्द्रियां बलवान् हैं इसलिये ये बलात्कार मनको अपनी ओर खींचती हैं। पर अब कहते हैं, कि " **इन्द्रियेभ्यः परं मनः** " इन्द्रियोंसे मन परे अर्थात् श्रेष्ठ है और मन ही के वश ये इन्द्रियां हैं। मन आगे चलता है तिसके पीछे इन्द्रियां चलती हैं। इन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध देखपड़ता है। ऐसा क्यों ?

समाधान— इन दोनों वचनोंमें विरोध नहीं है वरु दोनोंका तात्पर्य्य एक ही है और दोनोंसे एक ही अर्थ सिद्ध होता है। मुख्य अभिप्राय यह है, कि ये इन्द्रियां सदा मनको अपना अग्रगामी बनाये हुए अपने साथ-साथ विषयकी ओर ले चलती हैं। जैसे सेना, जब किसी ओर किसी देशको जीतने चलती है, तब आगे-आगे अपने सेनापतिको करलेती है। क्योंकि बिना मन केवल इन्द्रियोंसे विषयोंका सुख भोगा नहीं जासकता। इसी कारण "इन्द्रियेभ्यः परं मनः" इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ मनको कहा है। इसी तात्पर्य्यकी पूर्त्ति केलिये भगवान् पहले ही "अ० २ श्लो० ६७ में" यह कह आये हैं, कि "इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधियते" इन्द्रियोंके चलते हुए, जिस इन्द्रियके साथ मन संग देता है, वही इन्द्रिय प्रज्ञाको हरलेती है। इस वचनसे भी यही सिद्ध होता है, कि जबतक मन साथ न देवे, मनकी प्रवृत्ति किसी ओर न होवे, तबतक इन्द्रियां मनको नहीं खींच सकतीं, वरु आप उधरसे लौट आती हैं। जैसे नेत्रने एक सुन्दर स्त्री देखी— चाहा, कि इससे मिलूं, पर मनने ज्ञानाभिमुख होनेके कारण उस स्त्रीको तिरस्कार करदिया, तो अकेली इन्द्रिय कुछ भी न करसकी। जैसे शुकदेवने रंभाको मार भगाया। तहां नेत्रोंका बल कुछ नहीं चला। हां! जब मन किसी तत्त्वकी ओर परिपक्व न होकर चंचल दशामें रहता है, तब इन्द्रियां अपनी ओर खींचती हैं। इसलिये "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि" और "इन्द्रियेभ्यः परं मनः" भगवानके इन दोनों वाक्योंमें पहला सामान्य और दूसरा विशेष वाक्य है। "समान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्" इस नियमके

अनुसार दूसरा जो विशेष वचन है वह अधिक बलवान् है । इस कारण कामसे बचनेके लिये भगवान्ने दूसरा उपाय मनका वश करना बताया है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [मनसस्तु परा बुद्धिः] इस मनसे भी परे बुद्धि है, क्योंकि मन संकल्पात्मिका-वृत्ति है और बुद्धि निश्चयात्मिकावृत्ति है । अर्थात् मन जब किसी प्रकारके कार्यमें संकल्प-विकल्प करने लगजाता है, कि अमुक कार्य करूँ वा न करूँ, तब बुद्धि निश्चय करदेती है, कि हाँ इस कार्यको कर ! और इसको मत कर ! यदि बुद्धिके अधीन होकर बुद्धिके अनुकूल मनने इन्द्रियोंके साथ किसी कर्मका साधन किया तब फल उत्तम निकला । नहीं जो बुद्धिसे प्रतिकूल यह मन कुछ करबैठा तो फल निकृष्ट निकला । जैसे काम-वश होकर मन परस्त्री–गमनमें संकल्प-विकल्प करने लगा, कि इसे भोगूं वा न भोगूं ? तहां बुद्धिने रोका और निश्चय करदिया, कि मत भोग ! इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मनसे परे अर्थात् श्रेष्ठ बुद्धि है । बुद्धिके अनुकूल आचरण करना कामके वश करनेका तीसरा उपाय है । अर्थात् विचार द्वारा बुद्धिको निर्म्मल बनाये रखना कामके वश करनेका तीसरा उपाय है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [यो बुद्धेः परतस्तु सः] जो बुद्धिसे परे है वही आत्मा है । जिसके द्वारा बुद्धि निर्मल रहती है । बुद्धिमें जो समझने बूझनेका प्रकाश है सो आत्मा ही का है । बुद्धिको अपना प्रकाश नहीं है । जैसे चन्द्र वा तारागणमें जो ज्योति है वह सूर्यसे

आती है । इसी प्रकार बुद्धिको आत्मासे प्रकाश मिलता है । तात्पर्य यह है, कि आत्मासे बुद्धिको, बुद्धिसे मनको, फिर मनसे इन्द्रियोंको प्रकाश मिलता है । इसी कारण सबसे परे यह आत्मा ही है । प्रमा० श्रुतिः—"आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादि श्रुतियोंके वचनसे आत्माके ही प्रकाशका सर्वत्र फैलना सिद्ध होता है । फिर काठकोपनिषद्की श्रुति है, कि "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" अर्थात् यह आत्मा नित्यका भी नित्य है और चैतन्यका चैतन्य है । इसीलिये मन, बुद्धि और इन्द्रिय इन सबोंमें जो कुछ चेतनता देखपडती है सबका मूल कारण आत्मा ही है । इस-लिये सदा आत्मविचारमें लगा रहना कामसे बचनेका चौथा उपाय है । अर्थात् इन्द्रियोंका वश करना प्रथम उपाय, मनका वश करना दूसरा उपाय, बुद्धिको निर्मल रखकर तिसके अनुकूल चलना तीसरा उपाय और + आत्मविचारमें मग्न रहना चौथा उपाय है । जिस प्राणीके हाथमें ये चारों बातें होंगी वही इस महा शत्रु कामसे बचेगा ॥ ४२ ॥

+ उपर्युक्त चारों उपायोंमें जो चौथा आत्मविचार है सो विना महापुरुषोंके सत्सङ्गसे उत्पन्न नहीं होसकता । इसीलिये महर्षि नारदने अपने सूत्रोंमें कहा है, कि "**महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा**" अर्थात् यह परमरत्न महात्माओंकी कृपासे तथा भगवत् की कृपाके लेशमात्रसे लाभ होता है । फिर कहा है, कि "**कस्मात्तरति ? कस्मात्तरति ? कस्मात्तरति ?**" अर्थात् किस यत्नसे तरता है ? किस यत्नसे तरता है ? किस यत्नसे तरता है ? तिसके उत्तरमें कहते हैं, कि **सत्संगात्तरति ! सत्संगात्तरति ! सत्संगात्तरति !** "सत्संगसे तरता है ! सत्संगसे तरता है ! सत्संगसे तरता है !

अब उक्त प्रकार कामसे बचनेके उपायोंको दृढ करते हुए
भगवान् इस विषयका उपसंहार करते हैं—

मू०— एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

पदच्छेदः— महाबाहो ! (हे शौर्य्य युक्त विशाल भुज-अर्जुन !) एवम् (अनेन प्रकारेण) बुद्धेः (निश्चयात्मिकावृत्तियुक्तान्तःकरणात्) परम् (उत्कृष्टम्) आत्मानम् (नित्य शुद्ध मुक्त सत्यस्वभाव प्रत्यक् चैतन्यम् । परमात्मानम् वा) बुध्वा (ज्ञात्वा) आत्मना (उपर्युक्तप्रभावविशिष्टेनात्मना । संस्कृतेन मनसा) संस्तभ्य निष्पत्त्यवस्थायां सम्यक् प्रकारेण समाधाय) दुरासदम् (दुःखेन आसादनम् प्राप्तिर्यस्य तम्) कामरूपम्; शत्रुम् (रिपुम् । सर्व पुरुषार्थक्षयितारम्) जहि (मारय ! नाशय !) ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(महाबाहो !) हे विशाल भुजावाला अर्जुन ! तू (एवम्) इस प्रकार (बुद्धेः परम्) बुद्धिसे श्रेष्ठ (आत्मानम्) आत्माको (बुध्वा) जानकर (आत्मना) उसी अपने शुद्ध और निर्मल आत्मासे (संस्तभ्य) समाधान करके अर्थात् निष्पत्ति-अवस्था में स्थिर करके आत्मपरिचय लाभ करता हुआ (दुरासदम्) अत्यन्त दुःखसे हाथ आनेवाले (कामरूपम्) इस कामरूप (शत्रुम्) अपने परम वैरीको (जहि) मारडाल ! अर्थात् आत्मज्ञानसे काम को जय कर ॥ ४३ ॥

भावार्थः—जगद्गुरु श्री गोविन्द आत्माको सबसे श्रेष्ठ बतलाकर अब इसी आत्मज्ञानसे कामके नाश करनेका उपाय बताते हुए कहते हैं, कि (**एवं बुद्धेः परम् बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना**) हे शत्रुओंके नाश करनेमें समर्थ विशाल भुजावाला अर्जुन ! तू जिस प्रकार बहुतेरे महीपालरूप अपने शत्रुओंको अपनी युद्धकलासे जय करता चला आता है इसी प्रकार तू बुद्धिसे परे आत्मतत्वमें दृढरूपसे स्थिर होकर कामको जीतनेका यत्न कर ! अर्थात् आत्मज्ञानसे ही नाश करने का उपाय कर ! क्योंकि सबसे श्रेष्ठ राजा ही की शक्ति और प्रभुताके आश्रय मंत्री इत्यादि कार्य्य करते हैं । इसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादिमें शक्ति प्राप्त होती है । इसलिये जो विद्वान् हैं, बुद्धिमान् और ज्ञानी हैं वे आत्मज्ञानहीकी प्राप्ति द्वारा इस कामसे छूट परमपदको प्राप्त होते हैं । प्रमाण श्रु०—ॐ **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो वा यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः । चक्षुश्च चक्षुः अतिमुच्य धीराः प्रेत्य अस्माल्लोकादमृता भवन्ति ।** (केनोपनिषद् अ० १ खण्ड २ श्रु० १) अर्थात् यह आत्मा श्रोत्रका भी श्रोत्र है क्योंकि श्रोत्र (कान)स्वयं कुछ नहीं सुन सकता आत्माकी ही शक्ति पाकर सुनता है । यदि आत्मा निस्पन्द होकर अपना तेज इस शरीरसे समेट लेवे तो श्रोत्र जो एक मांसका खंड मस्तकके नीचे लटक रहा है कुछ भी नहीं सुन सकता (मृतकको जाकर देखलो) इसी प्रकार जो "**मनसो मनो वा**" मनका भी मन है । अर्थात् यदि आत्मा अपने तेजको समेट लेवे तो मन संकल्प-विकल्प करनेकी शक्तिसे शून्य होजावे । एवम् प्रकार जो आत्मा "**वाचो ह वाचम्**" वचनका भी वचन है । "**स उ प्राणस्य**

प्राणः" सोई प्राणका भी प्राण है सोई आत्मा "चक्षुश्च चक्षुः" चक्षुका भी चक्षु है, एवम प्रकार (धीराः) जो धीर अर्थात् पण्डित हैं वे "+अतिमुच्य" श्रोत्रादिके करण-कलापको छोड कर अर्थात् ऐसा समझकर, कि इन श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें कोई शक्ति अपनी नहीं है जो कुछ है केवल आत्मा ही आत्मा है ऐसा जानकर "अस्माल्लोकात् प्रेत्य" इस लोकसे छूटकर अर्थात् लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणाको परित्याग कर "÷ अमृता भवन्ति" मोक्ष लाभ करते हैं।

इसी सिद्धान्तके अनुसार भगवान् कहते हैं, कि बुद्धिसे भी श्रेष्ठ इस आत्माको जानकर "आत्मना संस्तभ्य" तिस आत्मविचार द्वारा ही आत्मज्ञानकी निष्पत्ति-अवस्था तक पहुंचकर अर्थात् आत्मपरिचय लाभ कर [**जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्**] हे बिशाल भुज अर्जुन! तू बडे दुःखसे पराजित होनेवाले कामरूप शत्रुको (जहि) नाश करडाल! मुख्य अभिप्राय यह है, कि इन्द्रियादि जो कामके अधिष्ठान हैं बडी ही दुर्निवार्य्य हैं। बडे परिश्रम करनेसे भी यह बार-बार हाथसे निकल जाया करती हैं। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि इनको हाथमें कर लिया तो ये वशीभूत होगयीं। बुद्धिमानको उचित है, कि सदा इनसे डरता रहे।

+ **अतिमुच्य**— श्रोत्रादि करणकलापमुज्झित्वा, श्रोत्रादौ आत्मभावं कृत्वा ॥ (शंकराचार्य्यः)

÷ **अमृता भवन्ति**— अमरणधर्माणो भवन्ति।

और अपना मन युक्त करके आत्मामें लीन रखे। सदा आत्मा ही में चित्त लगाये रखे। अर्थात् शान्त, घोर और मूढ मनकी इन तीनों वृत्तियोंको विलग हटा निर्मल मनसे बुद्धिकी सहायता द्वारा बुद्धिसे परे, जो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाव और सबमें व्यापक आत्मा तिसका परिचय लाभ कर आत्मज्ञानमें परिपक्व होजावे। एवम्प्रकार परिपक्व हो भगवत्स्वरूपमें लीन रहे। जिससे फिर यह परम शत्रु दुर्निवार्य काम आकर अपना बल न दिखावे।

शंका— भगवान्‌ने इस गीताशास्त्रके १० वें अध्यायमें अपनी विभूतियोंका वर्णन करतेहुए श्लो० २८ में यों कहा है, कि "प्रजन्यश्चास्मि कन्दर्पः" प्रजाकी उत्पत्तिका कारण जो कामदेव सो मैं ही हूं और अब यहां इस तृतीय अध्यायके श्लो० ४३ में यों कहरहे हैं, कि "जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्" हे अर्जुन! तू अत्यन्त दुर्निवार्य्य जो कामरूप शत्रु है उसे मार डाल। तो ऐसा कहनेसे अपनेही को दुर्निवार्य्य शत्रु क्यों कहा? वे तो सम्पूर्ण संसारके परम मित्र हैं। फिर शत्रु कहना कैसे बने?

समाधान— द्वितीय अध्यायके श्लो० ५६ का भावार्थ करतेहुए पृष्ठ ४६६ में यह दिखलाया जा चुका है, कि कामका शोभन अंग (Fair Portion) उतना ही है जितनेसे सन्तानकी उत्पत्ति होसके। इससे इतर जो परस्त्री इत्यादिमें कामका वपन है वह कपूय-अंग (Unfair Portion) है। इसी तात्पर्य्यसे भगवान्‌ने प्रजाकी उत्पत्तिका कारण जो शोभन अंग उसे अपना रूप बताया। इसीलिये भगवान्‌ने कन्दर्प शब्दके साथ "प्रजन्य" शब्दका प्रयोग किया है। इससे

स्वच्छ देखा जाता है, कि कामका जो शोभन अंग जिससे सृष्टिकी वृद्धि होती है वही भगवान्‌का स्वरूप है। पर इससे इतर जो परस्त्री इत्यादिके संग कामका संयोग है वही कपूय आचरण है, मनुष्योंका शत्रु है जो जड मूलसे नाश करडालता है। जिसने बडे-बडे महान् पुरुषोंको डावां-डोल करदिया है। ऐसे कामके अनुचित व्यवहारका परित्याग अवश्य करना चाहिये।

दूसरी बात यह है, कि जिस कामको स्वरूप भगवान्‌ने अपनेको बताया है उस शुद्ध-स्वरूप शुद्ध-कामसे प्रेमको अधिकांश सम्बन्ध है। जितना लौकिक प्रेम पहले मनुष्यके हृदयमें आरम्भ होता है वह इसी शुद्ध कामके द्वारा उत्पन्न होता है। सो यह प्रेम विशेषकर सुन्दर शृंगार-मय स्वरूपसे सम्बन्ध रखता है। जैसा, कि इतिहास और पुराणोंमें वर्णन है। वह सुन्दर शृंगारयुक्त-स्वरूप जो भगवान् ही का तेज है कामके सम्बन्धसे प्रेमको उत्पन्न करता है और लौकिक-प्रेम कहाजाता है। यही लौकिक-प्रेम बढते-बढते अन्तमें जब परिपक्व होजाता है, तो भगवत्‌के निज-स्वरूप जो सब सुन्दरोंका परम-सुन्दर अर्थात् जगत्सुन्दर कहा जाता है तिससे लगजाता है। महान् पुरुषोंने भी सिद्धान्त करलिया है, कि इसी लौकिक-प्रेमसे भगवत्प्रेमका उत्पन्न होना देखा जाता है। जैसा, कि गोस्वामी तुलसीदासको अपनी स्त्री द्वारा और भक्त सूरदासको चिन्तामणि वेश्या द्वारा भगवत्प्रेम उत्पन्न हुआथा। इसी प्रेम उत्पन्न करनेवाले शुद्ध अंग कामको भगवान्‌ने अपना स्वरूप कहा है। शंका मत करो।

प्रश्न— योगेश्वर भगवान् इस तृतीय अध्यायको तो कर्मनिष्ठामें कथन कररहे हैं क्योंकि इस गीताशास्त्रके पहिले छै अध्यायोंका समूह

" कर्मकाण्डाख्य प्रथम षट्क कहलाता है। जिसमें कर्मका विषय कथन किया गया है, फिर इस तीसरे अध्यायमें भगवानने आत्मज्ञानका वर्णन क्यों किया ? और अर्जुनको ऐसा क्यों कहा, कि तू आत्मज्ञान साधन करके कामको जीत !

उत्तर— " उपायः कर्म निष्ठात्र प्राधान्येनोपसंहृता ।
उपेया ज्ञाननिष्ठा तु तद्‌गुणत्वेन कीर्तिता ॥

अर्थ— इस तीसरे अध्यायमें भगवानने उपदेश तो "निष्काम-कर्म" ही का किया है और कर्महीको प्रधान रक्खा है। पर उस निष्काम-कर्म का फल " ज्ञान " है अर्थात् ज्ञान स्वयं " उपेय " है और कर्म उसका " उपाय " है। उपाय और उपेय सदा एक संग अधिष्ठित रहते हैं। इसलिये उपाय करनेवालेको चाहिये, कि उपेयकी स्मृति ध्यानमें सदा बनाये रखे । क्योंकि उपेयका ध्यान छूटजानेसे उपायकी पूर्तिमें दोषकी प्राप्ति संभव है। इसी कारण भगवानने उपेयकी स्मृतिके तात्पर्यसे यहां आत्मज्ञानका थोडा संकेत करदिया है।

प्रश्न— कर्म करते-करते ज्ञानकी विस्मृति होजानेका भय क्यों है ?

उत्तर— कर्मके अति उग्रफल अवश्य बलात्कार अपने सामने आते हैं। कर्त्ता उनकी इच्छा करे वा न करे। यह सभी जानते हैं, कि उत्तम-उत्तम कर्मोंके फल जब उदय होते हैं तो कर्त्ताके सम्मुख नाना प्रकारकी सुख-सम्पत्ति तथा भोग विलासका आगमन होता है। ऋद्धि और सिद्धि सामने हाथ जोडकर खडी होजाती हैं। यदि इन भोग, विलास, सुख-सम्पत्ति इत्यादिमें प्राणी भूलगया तो सदा उन कर्मोंके

उत्तम-उत्तम भोगोंके भोगनेके लालचसे कर्म ही में फँसा रहेगा। क्योंकि "भोगी कर्मणि तत्परः" (शंकरः) भोगीको भोगोंका आनन्द देखकर सदा कर्म ही में तत्पर रहनेकी इच्छा बनी रहती है। ज्ञानकी श्रद्धा नहीं होती। इसलिये योगेश्वर भगवान् कर्मकी प्रधानता वर्णन करते हुये इस अध्यायमें गौण-रूपसे ज्ञानकी स्मृति करवाते हुए कामसे बचनेका उपदेश कररहे हैं। जैसे मार्ग चलने वालेको अपने यथार्थ-स्थानका बोध करानेके लिये मार्ग बतलाने वाला पूरब, पश्चिम इत्यादि दिशाओंकी ओर अपनी अँगुली दिखलाकर दिग्दर्शन मात्र करादेता है। अर्थात् यह जनादेता है, कि अमुक दिशामें तुमको जाना है। इसी प्रकार भगवान्ने कर्मकाण्डके मार्गमें चलते हुए अर्जुनको ज्ञानकी विस्मृतिके भयसे इस तीसरे अध्यायमें मानो कर्मकाण्डके मध्यस्थान पर आकर आत्मज्ञानका संकेत करदिया है। शंका मत करो! ॥ ४३ ॥

ध्यायंत योगिनो योगात् सिद्धाः सिद्धेश्वराश्च यम्।
तं ध्याये सततं शुद्धं भगवन्तं सनातनम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां सांख्ययोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु सप्तविंशोऽध्यायः ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

शुद्धाशुद्धि-पत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
यच्छ्रेय	यच्छ्रेयः	५४५	१०
अपने	अपनी	५४७	२१
अधिकारी	अधिकारि	५५२	६
"	"	"	८
सृष्टिकी	सृष्टिके	५५२	१५
त्रिगुणात्मक	त्रिगुणात्मिका	५५५	४
वेतर्था	वेतरथा	५५८	२१
सांख्यामें	साङ्ख्यामें	५५९	३
द्वै	द्वे	५६०	१८
सन्यसनां	सन्न्यसना	५६२	१४
अभिष्ट	अभीष्ट	५६३	२०
फलका	फलकी	५६६	११
प्रवर्तते	प्रवर्त्यते	५६८	१२
विदुःषो	विद्वान्	"	१३
निरोग	नीरोग	५६९	८
वहीर्मुख	वहिर्मुख	५७०	१९
चज्ञु	चक्षु	५७१	२१
व्यनक्तयन्	व्यंजयन्	५७३	१०
प्रसिद्धे	प्रसिध्ये	५८०	४
प्रसिद्धेत	प्रसिध्येत्	५८०	१२
परधर्मा	परधर्मो	५८५	१२
संसारागारः	संसारकारागारम्	५८६	८
अभिष्ट	अभीष्ट	५९१	७
प्राणीः	प्राणी	[illegible]	११
निर्विघ्न	निर्विघ्नं	६०८	८
मनारभ्य	मनारम्भा	६२७	२
अघायु	अघायु	६२७	९
पित्रों	पितरों	६२८	१७
सुश्रूषा	शुश्रूषा	६६७	११
कर्माणां	कर्मणां	६८०	९
गुणोंके	गुणोंकी	[illegible]	४
नदीके	नदीकी	६८४	६
अपने	अपनी	६८१	८
रागौत्कराठेन	रागौत्कराठ्येन	७०७	१८
कृष्णाम्	कृष्णाम	७०८	१०
वर्णमा	वर्णाश्रमा	७१९	६
बाजारका	बाजारकी	७१४	५
भोगनेके	भोगनेकी	७१८	१

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

चतुर्थोऽध्यायः

अलवरराजधान्याम्

श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये

मुद्रितः

◉ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ◉

श्री चाणूरमल्लमर्द्दनाय नमः

श्री गोपीजनवल्लभाय नमः

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्म्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

* चतुर्थोऽध्यायः *

ॐ नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः

यजाम देवान्यदि शक्नवाम मा ज्याय सः शंसमावृक्षि देवाः

ऋग्वे० अ० २ व० २५ मं० २६

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे ।
अद्वितीयाय महते श्री कृष्णाय नमो नमः ॥
प्रसीद परमानन्द ! प्रसीद परमेश्वर ! ।
आधिव्याधिभुजंगेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ! ॥
श्रीकृष्ण ! रुक्मिणीकान्त ! गोपीजनमनोहर ! ।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ! ॥
केशव ! क्लेशहरण ! नारायण ! जनार्दन ! ।
गोविन्द ! परमानन्द ! मां समुद्धर माधव ! ॥

अजी ! सुनो तो सही !! अश्वोंकी हिनहिनाहटका शब्द किधरसे आरहा है । जिसके सुनते ही शरीरपर वीररस उमडता चला आता है और आंखें लाल होती चली आती हैं । अहा ! वह देखो !! रण-भूमिकी ओर अवलोकन करो ! जहां श्वेत-रंगके चार अश्व किसी वीरके रथमें जुडेहुए देखपडते हैं । ये श्वेत क्यों हैं ? अनुभव होता है, कि पारदके हैं । इसलिये स्वभावतः अत्यन्त चंचल होनेके कारण आकाश लगा चाहते हैं । पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके जीवोंके मनकी चंचलताको स्थिर करनेवाले त्रिलोकीनाथ श्री कृष्णचन्द्रने इनको थोडी देरके लिये कुरुक्षेत्रकी रण-भूमिमें स्थिर कर रखा है । इन अश्वोंने न जाने पूर्वमें कौनसा तप किया था ? जिसके बदले आज चार भुजावाले श्री जगत्-हितकारी गोलोक-विहारीने अपने चारों हाथोंसे शंख, चक्र, गदा, पद्मको दूर त्यागकर इनकी बागडोरोंको थाम रखा है ।

ये अश्व अपने कानोंको उठाये तिरछीही दृष्टिसे श्यामसुन्दरकी ओर पुनः पुनः देखरहे हैं । इससे अनुभव होता है, कि ये उनके मुखारविन्दसे टपकते हुए विज्ञानरूप अमृत-रसको अपने कर्णपुटोंसे पान करते हुए परमानन्दमें मग्न होरहे हैं । जिस विज्ञान-तत्त्वको श्रवणकर एक साधारण शुक-पक्षी शुकदेवसा महात्मा बनगया उसी विज्ञानको सुनकर ये चारों भी, अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके रूप ही बनजावें तो क्या आश्चर्य्य है ? चलो ! अब हमलोग भी अपने विषयकी ओर चलें और देखें, कि भगवान् उपदेशोंके सूक्ष्म बागडोरोंसे अर्जुनके आन्तरिक चारों अश्व—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकारको जो रण-भूमिको देख चंचल होरहे हैं, किस प्रकार स्थिर करते हैं ।

श्री भगवानुवाच

मू०— इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

पदच्छेदः— अहम् (वासुदेवः) इमम् (अध्यायद्वयेनोक्तम निष्ठाद्वयात्मकम्) अव्ययम (न व्येति मोक्षाख्यं फलं यस्य तम् । अविच्छिन्न सम्प्रदायम्) योगम् (कर्मयोगरूपोपायसहितं सांख्ययोगम्) सर्गादौ (पुरा । सृष्टयादिकाले) विवस्वते (सर्वक्षत्रियवंशवीजभूताय सूर्य्यमण्डलाभिमानिने आदित्याय) प्रोक्तवान् (प्रकर्षेण सर्वसंशयोच्छेदेनादि-रूपेणोक्तवान) विवस्वान (आदित्यः) मनवे (वैवस्वताय स्वपुत्राय) प्राह (उक्तवान) मनुः (वैवस्वतः)

इक्ष्वाकवे (सत्ययुगे सूर्य्यवंशीयादिराजाय स्वपुत्राय) अब्रवीत् (प्राह । प्रोक्तवान्) ॥ १ ॥

पदार्थः— श्री भगवान् बोले, कि हे अर्जुन ! (अहम) मैंने (इमम् अव्ययम) इस सदा वर्तमान रहने वाले अनादि (योगम्) ज्ञान-योग प्राप्तिके उपाय कर्म-योगको (सर्गादौ) सबसे पहले सृष्टिकी आदिमें (विवस्वते) सूर्य्यमण्डलाभिमानी देव आदित्यके प्रति (प्रोक्तवान्) बडी उत्तम रीतिसे स्वच्छ कर कथन किया पश्चात् (विवस्वान) आदित्यने अपने पुत्र (मनवे) मनुकेलिये कथन किया तत्पश्चात् (मनुः) मनुने (इक्ष्वाकवे) अपने पुत्र इक्ष्वाकुकेलिये (अब्रवीत्) कथन किया ॥ १ ॥

भावार्थः— प्रिय पाठक वृन्द ! विचारें तो सही, कि आज अर्जुनसे बढकरे कौन प्राणी बडभागी है, जिसके लिये श्री त्रिलोकीनाथ भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द, रथवानी कररहे हैं। आज कैसी अद्भुत लीला देखनेमें आरही है, कि जिन प्रभुके मुखकी अमृतमय मधुरवाणी श्रवण करनेकी अभिलाषासे ब्रह्मादि देव तथा सनत्कुमारादि महर्षि-गण गोलोकके द्वार पर खडे दर्शनोंकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, सो दीनदयाल आज इस मृत्युलोकमें धर्म हेतु अवतार ले रथवान बनकर अपने मधुर भाषणसे एक साधारण क्षत्रिय अर्जुनके कर्ण कुहरोंको पवित्र कररहे हैं । जिस भाषणका अवलम्बन कर सृष्टिकी आदिसे आज तक ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मानन्दके अधिकारी होते चलेआये हैं । जिस भाषणको सुनते-सुनते भक्तोंका हृदय गद्गद

होजाता है। योगीजन समाधिस्थ होजाते हैं। तिस मधुर भाषणकी स्तुति इस छोटी जिह्वासे कैसे होसकती है ? मेरे पाठक वृन्द ! गत तीन अध्यायोंकी वार्त्ताओंका तारतम्य भली भांति समझते हुए गीता-शास्त्र का गांभीर्य्य अनुभव करते हुए अवश्य यही कहपड़ेंगे, कि यह शास्त्र कर्म, उपासना और ज्ञानके उपदेशोंका भण्डार है । त्रिलोकीनाथके निज मुखारविन्दसे निकला हुआ यह पांचवां वेद है । इस शास्त्रके किसी अध्यायमें किसी एक श्लोकका भी आशय ऐसा नहीं है, जो विषय वा प्रकरणके अतिरिक्त केवल भाषणकी पूर्ति निमित्त हो। इस में तनक भी सन्देह नहीं है, कि इसका एक-एक श्लोक एक-एक मणि है । इसी कारण इस गीता-शास्त्रको ७०० मणियोंकी एक सुन्दर माला समझनी चाहिये, जो श्यामसुन्दरने अपने हाथोंसे गूंथकर अपने प्रिय भक्त अर्जुनके गलेमें पहनायी है । यदि कोई दूसरा प्राणी होता तो इस मालाको अपने ही गलेमें लिये चलाजाता, पर धन्य-धन्य तू परोपकारी, निर्लोभ अर्जुन है, जो ऐसा न करके संसारके कल्याण निमित्त ऐसे रत्नको मृत्युलोकमें ही छोड गोलोक पधारगया है । आशा है, कि जो प्राणी चित्तको विश्राम देनेवाली, मोक्ष-रूप गंधसे सुगंधित इस मालाको भक्ति-पूर्वक अपने गलेमें डालेगा, जीवन्मुक्त हो कराल कालको विजय करता हुआ भगवच्चरणोंमें जा मिलेगा ।

योगेश्वर भगवान्‌ने जो "प्रवृत्ति" और "निवृत्ति" दोनों मार्ग कथन करते हुए इस गीताके दूसरे अध्यायको सूत्रके समान कथन किया, तिसका वर्णन विधि-पूर्वक तीसरे अध्यायके आरम्भमें हो चुका है । तीसरे अध्यायमें भगवान्‌ने "कर्मयोग" को ज्ञानकी

प्राप्ति का उपाय बताया है । इस गीताके छठवें अध्याय तक इसी "कर्मयोग" का तारतम्य चलाजावेगा, अर्थात् इन अध्यायोंमें भगवान् "कर्मयोग" को ज्ञानका उपाय और "ज्ञानयोग" को उपेय कथन करते चलेजावेंगे । इसी कारण श्री गोविन्द इस चौथे अध्यायके आरम्भमें इस "कर्मयोगके" प्रचार होनेकी परम्परा दिखलाते हुए इस योगको अव्यय अर्थात् सदासे वर्त्तमान रहने वाला बताते हुए अर्जुनके प्रति क्या कहते हैं सो सुनो ।

त्रिलोकीनाथ श्री भगवान् अर्जुनके प्रति बोले, कि हे अर्जुन ! [**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**] इस सदा वर्त्तमान रहनेवाले सनातन "कर्मयोग" को मैंने सबसे पहले सूर्यदेव के प्रति कथन किया था । यह "कर्मयोग" प्रत्येक सृष्टिके आरम्भ में वर्णन होनेसे ही अव्यय कहाजाता है । वेद ही इसका मूल है । इस कारण वेदके अव्यय होनेसे इसे भी अव्यय कहते हैं । यह ज्ञानकी प्राप्ति का उपाय है । भगवान् पहले भी तीसरे अध्यायमें कहआये हैं, कि "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ" (अ० ३ श्लो ३) अर्थ— इस लोकमें कर्मयोग और सांख्ययोग दोनों प्रकार की निष्ठायें पहले ही मुझसे कथन होचुकी हैं । भगवान्का यही वचन पुनः इस श्लोकसे पुष्ट होता है ।

सबसे पहले विवस्वान् ही को भगवान्ने यह योग क्यों उपदेश किया ? इसका कारण यही है, कि "विवस्वान्" सूर्य्यमण्डलके अभिमानी देव क्षत्रियोंके आदि बीज हैं, जिनसे क्षत्रियवंशका प्रचार

हुआ है। सबसे पहले इनको इस योगका उपदेश भगवान्ने इसलिये किया, कि यह योग इनके द्वारा शीघ्र संसारमें प्रचरित होजावेगा।

भगवान् कहते हैं, कि पश्चात् [**विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्**] विवस्वान् (सूर्य्यदेव) ने अपने पुत्र ×वैवस्वतमनु को उपदेश किया। जिस मनु ने इस योगको संसारमें फैलानेके तात्पर्य्यसे अपने प्रिय पुत्र इक्ष्वाकु को जो सत्ययुगमें सूर्य्यवंशीय-क्षत्रियोंके आदिराजा अयोध्या नगरमें हुए उपदेश किया। एवम् प्रकार यह योग-विद्या क्षत्रियों द्वारा संसारमें फैलचली।

शंका— यह कर्म-योग वेदका प्रथम अंग है। इसलिये इसे भी वेद ही कहना चाहिये। इसी कारण भगवान् भी इसे अर्जुनके प्रति अव्यय कह रहे हैं। सो पहले आकाश-वाणी-द्वारा भगवान्ने ब्रह्माको प्रदान किया। यह वार्त्ता श्रुतियोंसे भी सिद्ध है। श्रु०— **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये** । (श्वेताश्वतर उ० अ० ६ श्रु० १८)

× **मनुः**— प्रति कल्पमें चौदह मनु होते हैं तिनके नाम ये हैं:—

१. स्वायम्भु २. स्वारोचिष ३. उत्तम ४. तामस ५. रैवत ६. चाक्षुष (ये बीतगये) ७. वैवस्वत (वर्तमान है) ८. सावर्णि ९. दक्षसावर्णि १०. ब्रह्मसावर्णि ११. धर्मसावर्णि १२. रुद्रसावर्णि १३. देवसावर्णि १४ इन्द्रसावर्णि (आगे होंगे)

अर्थ — "परमात्माने सृष्टिकी आदिमें ब्रह्माजीको उत्पन्न किया और तिस ब्रह्माजी ही केलिये वेदोंको दिया । मैं मुमुक्षु तिस ही प्रकाश-स्वरूप आत्मज्ञानके प्रकाश करनेवाले परमात्माकी शरण होता हूं" इस श्रुतिमें जो (वै) शब्द है वह × अन्ययोगव्यच्छेदको प्रकट करता है। इस वै शब्दसे सिद्ध होता है, कि ब्रह्मा ही को दिया अन्य किसीको नहीं । पर अब भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि मैंने यह योग सृष्टिकी आदिमें "विवस्वान्" अर्थात् सूर्य्यको दिया। भगवान्के बचनोंमें ऐसा विरोध क्यों ?

समाधान— भगवान् के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि वेद तो कर्म, उपासना, ज्ञान, विज्ञान, युद्ध, गान, गणित, शिल्प इत्यादि अनेक विद्याओंका भंडार है । जो संसारमें प्रचार करनेके निमित्त प्रत्येक सृष्टिकी आदिमें ब्रह्माजीको प्रदान किया जाता है । ब्रह्माजीसे नारदादि उनके पुत्र अध्ययन करते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण वेद तो ब्रह्माके द्वारा ब्रह्मर्षियोंमें प्रचरित होता हुआ संसारमें फैल ही गया, पर इस कर्मयोगका अंग प्रधान—पद्धति अनुसार सर्व मनुष्योंमें उनके वर्ण और आश्रमकी उन्नति—निमित्त प्रचार होना अति ही आवश्यक था इसीलिये इसे क्षत्रिय नरेशोंको प्रदान करना उचित जाना जिनके शासन द्वारा प्रजा इसके अनुष्ठान करनेमें तत्पर रहेगी ।

×अन्ययोगव्यवच्छेद—दूसरेके योगको दूरकरने अर्थात् पृथक् करनेको कहते हैं ।

यह वार्ता स्वाभाविक है, कि जिस किसीको जो कुछ प्राप्त होता है वह पहले अपनी सन्तानमें फैलाता है, इस कारण इस योगको उधर ब्रह्माने वेदों द्वारा अपने पुत्र मरीचिको, मरीचिने अपने पुत्र कश्यपको दिया और इधर (विवस्वान्) आदित्यने अपने पुत्र "मनुको"- और मनुने अपने पुत्र "इक्ष्वाकु"को दिया। एवम् प्रकार यह योग ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें फैला।

उक्त दोनों वर्णोंके द्वारा धर्म्मका फैलना भी उचित था। क्योंकि इन ही दो वर्णोंके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके अन्य वर्णोंको उपदेश मिलता है। ब्राह्मण तो केवल धर्मका उपदेश मात्र करनेका अधिकारी है, पर जबतक राजाका शासन धर्म पर न हो तबतक उस धर्म्मका चलना कठिन होता है। "राजा धर्मस्य धारकः" यह वचन पहले भी कहागया है। यदि राजा शासन न करे तो बहुतेरे आलसी धर्म्म मार्ग पर न चलेंगे। प्रकृति बलवान् होनेसे प्रजा निर्भय होकर मद्यपान, व्यभिचार, चोरी इत्यादि दुष्कर्म्मोंमें तत्पर होजावेगी। इसलिये ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंको धर्म्मके चलानेवाले समझने चाहियें। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि क्षत्रियोंमें प्रथम इस क्रियाके प्रवेश होनेसे क्षत्रिय-नरेश सामर्थ्यवान् होवेंगे। उनमें पराक्रमकी अधिकता होगी। तब वे पराक्रमसे ब्राह्मणोंकी रक्षा करेंगे और प्रजागणमें भी उनके उपदेशोंका प्रचार करावेंगे। एवम् प्रकार दोनोंके पराक्रमी होनेसे जगत्की रक्षा होगी। इसलिये भगवान्ने यह कर्मयोग पहले-पहल विवस्वान् (सूर्य्य)को दिया।

दूसरा कारण विवस्वान्‌को ही पहले-पहल उपदेश करनेका यह है, कि मन्वन्तरोंके वदलनेसे जब जिस " मनु " का अधिकार प्रजा पर होता है उसीको उपदेश होना अति ही आवश्यक है। वर्तमान कालमें +वैवस्वतमनुका समय है। इसलिये वर्त्तमान मन्वन्तरकी आदिमें उनके पिता विवस्वान् (सूर्य्य) को यह योग उपदेश किया।

यहां "पुरा" शब्द उच्चारण करनेसे भगवान्‌का तात्पर्य्य मन्वन्तरके आदिकालसे भी है

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम् प्रकार वंशपरम्परा द्वारा यह योग ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें चलता-चलता क्या हो गया सो सुनो—

मू०— एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप! ॥२॥

पदच्छेदः— परन्तप! (हे शत्रुतापन!) एवम् (अनेन-प्रकारेण) परम्पराप्राप्तम् (आदित्यमारभ्य इक्ष्वाकोर्निमिभागादि-क्रमेण वंशपरम्परया आगतम्) इमम् (योगम्) राजर्षयः [राजानश्च ते ऋषयश्च प्रभुत्वे सति सूक्ष्मार्थदर्शनसमर्थाः] जनका-

+ इमं योगं विवस्वते आदित्याय सर्गादौ प्रोक्तवानहं जगत्परिपालयितॄणां क्षत्रियाणां बलाधानाय। तेन योगबलेन युक्ताः समर्था भवन्ति ब्रह्मपरिरक्षितुं ब्रह्मक्षत्रे परिपालिते जगत्परिपालयितुमलम्। (शंकराचार्य्यः)

जातशत्रुकैकयप्रभृतयः) अविदुः (ज्ञातवन्तः) सः, योगः (सः कर्म्म-योगः) इह (द्वापरान्ते । आवयोर्व्यवहारकाले) महता (दीर्घेण) कालेन (धर्महासकरणसमयेन) नष्टः (अदर्शनंगतः । विच्छिन्न सम्प्रदायो जातः) ॥ २ ॥

पदार्थः— (परन्तप !) हे शत्रुओंका नाश करनेवाला, अर्जुन ! (एवम्) इस प्रकार (परम्पराप्राप्तम्) सृष्टिकी आदि में आदित्यसे लेकर, द्वापर तक वंश—परम्परागत-प्रणालीसे प्राप्त (इमम्) इस योगको (राजर्षयः) जनक, अजातशत्रु, कैकय इत्यादि राजर्षिगण (अविदुः) जानते चलेआये । एवम्प्रकार चलते-चलते (सः) सो योग (इह) द्वापरके अन्त समय (महता) बहुत (कालेन) दिनोंसे (नष्टः) नष्ट होगया ॥ २ ॥

भावार्थः— अब श्री गोलोक विहारी अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**एवम् परम्पराप्राप्तमिमम् राजर्षयो विदुः**] इस-प्रकार जैसा, कि पूर्व श्लोकमें दिखलाया है, परम्परासे अर्थात् वंश-परम्परागत-प्रणाली द्वारा प्राप्त होते हुए इस योगको जनक इत्यादि राजर्षियोंने जाना ।

भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः** " (देखो अ० ३ श्लोक २०) अथवा " × **राजर्षयः** " पदका यहां यों भी अर्थ करलीजिये, कि राजा और

× राजर्षयः—जनकाजातशत्रु, कैकयप्रभृतयो राजानः । ऋषयश्च सनकवशिष्ठाद्याः । (नीलकण्ठः)

राजर्षिः—राजा ऋषिरिव श्रेष्ठत्वात् । सूक्ष्मार्थदर्शनमें समर्थ होनेसे राजाओंमें जो ऋषियोंके समान हो उसे " राजर्षि " कहते हैं ।

ऋषि अर्थात् आदित्यके द्वारा वंशपरम्परागत-प्रणालीसे इक्ष्वाकु, जनक, अजातशत्रु, कैकय इत्यादि राजा और पितामह ब्रह्माके द्वारा गुरु शिष्य प्रणालीसे वशिष्ठादि महर्षिगण इस योगको प्राप्त करते चलेआये। परन्तु सो यह योग एवम् प्रकार चलते-चलते त्रेतातक तो ठीक-ठीक वर्त्तमान रहा, पर द्वापरसे इसका ह्रास होने लगगया। अब भगवान् कहते हैं, कि [**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप !**] हे शत्रुओंके नाश करनेवाला अर्जुन! बहुत कालसे ह्रास होता हुआ अब (इह) इस द्वापरके अन्तमें एक बारगी लुप्त होगया है। यहां अर्जुन को परन्तप कहनेसे भगवान्का यह अभिप्राय है, कि जो "पर" कहिये शत्रुको तिसे जो तपायमान करे, उसे कहिये "परन्तप"। सो सामान्य प्राकृत-मनुष्यरूप शत्रुओंको तपायमान करनेवाला तो अर्जुन है ही, पर यहां विशेष अर्थ यह है, कि "परम् **कामक्रोधादिरूपम् शत्रुगणं शौर्येण वलंगतविवेकेन तपसा भानुरिव तापयतीति "परन्तपः" शत्रुतापनः**"। काम क्रोधादि रूप जो अपने शत्रु हैं उनको ज्ञान तथा तपरूप वीरता द्वारा जो सूर्यके समान तपायमान करे उसे कहिये "* **परन्तप**"। सो भगवान् अर्जुनको यहां काम-क्रोध जीतनेका संकेत कर इस योगका अधिकारी होना सूचित करते हैं। और यह भी जनाते हैं, कि हे अर्जुन! तू ने अपनेको उर्वशी ऐसी अप्सराके तीक्ष्ण नेत्रोंके बाणोंसे बचाया है इसलिये तुझमें कामादि विकारोंको जीतनेकी शक्ति है। तू इस योगका अधिकारी है।

* आत्मनो विपक्षभूताः "पर" उच्यन्ते। जो अपना विपक्षी हो उसे पर अर्थात् शत्रु कहते हैं। सो यहां इस अपने आत्माके यथार्थ विपक्षी ये काम-क्रोधादि हैं।

शंका— इस अध्यायके प्रथम श्लोकमें तो भगवान्‌ने इस योगको ज्ञानका उपाय कहकर और वेद इसका मूल कहकर इसे "अव्यय" कहा अर्थात् अनादि और सदाके लिये स्थिर कहा। अब इस श्लोकमें नष्ट हुआ कहते हैं। जो अव्यय है वह नष्ट कैसे होसकता है? भगवान्‌के वाक्यमें ऐसा पूर्वापर विरोध क्यों?

समाधान—भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है, कि यह "योग" इस मृत्युलोकसे लुप्त होगया, न कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डसे पितरलोक, इन्द्रलोक, वृहस्पति लोक इत्यादि लोकोंमें तो ज्यों का त्यों वर्तमान ही है। केवल इसी मृत्युलोकसे लुप्तप्राय होगया है। यदि पूछो, कि इसी लोकसे लुप्त होजानेका क्या कारण है? और कबसे लुप्त होगया? तो उत्तर यह है, कि इस सृष्टिका ऐसा ही क्रम है; कि जैसे इस प्रत्येक पांचभौतिक शरीरमें प्रकृतिके तीनों गुण पलटा खाते रहते हैं, इसी प्रकार इस कालचक्रमें ये तीनों गुण भी पलटा खाते रहते हैं। अर्थात् कभी किसी युगमें जब "**सात्विक-समयका**" प्रवाह चल पडता है तब सारी प्रजायें सात्विक बन जाती हैं और कर्म, उपासना, ज्ञान इत्यादि अपनी सोलहों कलाओंसे वर्तमान होजाती हैं। इसी प्रकार जब "**राजसी-समयका**" प्रवाह चल पडता है, प्रजा राजसी-प्रकृतिकी अधिकताके कारण कामी, क्रोधी, लोभी बन जाती है। धर्मका अंग थोडा रह जाता है। जो कोई किसी प्रकारका धर्म करता भी है तो केवल अपने विषय-भोग और शारीरिकसुखके लिये करता है, परोपकारकी दृष्टिसे नहीं करता। अपना नाम और यश फैलानेके लिये करता है। ऐसे समय धर्ममें अहंकार मिश्रित रहता है।

इसी प्रकार जब " तामसी-समय आता है " तब प्रजा तामसी बुद्धिवाली बनजाती है। मनुष्य ऐसे आलसी बन जाते हैं, कि दन्तधावन, स्नान, इत्यादि भी छोड देते हैं। सन्ध्या, हवन, तर्पण इत्यादि को कौन पूछता है ? इस कारण भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य यही है, कि इस तामसी समयके कारण " योग " नष्ट होरहा है। शंका मत करो !

मृत्युलोकमें इस समय कलिका आरम्भ होनेवाला है। देखो कृतयुगमें सत्त्वगुणकी प्रधानताके कारण सबलोग योगी, ज्ञानी और तपस्वी बने रहते हैं। इस समय रज, और तम मौनरूपसे पडे रहते हैं। त्रेतायुगमें सत्त्व और रजकी प्रधानता होजाती है। और तमोगुण मौन रूपसे न्यून रहता है। पश्चात् द्वापरके आरंभमें रजोगुणकी प्रधानता होजाती है, सत्त्व और तम मौन-रूपसे समान रहते हैं। अब इसी विषयको दिखलाते हुए भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! इस समय द्वापरका अन्त और कलिका आरंभ है। इसलिये रजो-गुण और तमोगुणकी प्रधानता होगयी है। और सत्वगुण मौन होकर न्यून होगया है। इसलिये बहुतदिनोंसे यह योग नष्ट होता हुआ अब इस समय एक बारगी लुप्त होरहा है। देखो ! इस काल-चक्रका ही प्रभाव है; कि युधिष्ठिर ऐसे धर्म्मात्माको द्यूत (जूआ) खेलनेकी श्रद्धा उत्पन्न हुई, जिसका फल यहांतक पहुंचा है, कि आज इतने बडे-बडे विद्वान्, बुद्धिमान्, आचार्य्य इत्यादि अपना प्राण देनेको उपस्थित होगये हैं। जैसे बधिरोंकी सभामें मधुरगान व्यर्थ है। जन्मान्धके सम्मुख सूर्य्यकी ज्योति व्यर्थ है। जैसे दिगम्बरों (नंगों) के देशमें अमूल्य वस्त्रोंका

वाणिज्य निरर्थक है। इसी प्रकार बहुत दिनोंसे संसारियोंके लिये यह "योग" निरर्थक होरहा है। इसलिये भगवान्‌ने कहा, कि इस पृथ्वीपर बहुत दिनोंसे योगका अभाव होगया है। भगवान्‌के वाक्योंमें पूर्वापर-विरोध मत समझो! इस योगके अव्यय अविनाशी होनेमें तनक भी सन्देह मत करो! एक लोकमें नष्ट होजावे, पर सब लोक लोकान्तरोंसे यह लुप्त नहीं होसकता ॥ २ ॥

अब भगवान् अर्जुनको इस योगका अधिकारी जान कहते हैं—

मू०— स एवायं मया तेऽद्य योगःप्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

पदच्छेदः— [त्वम] मे (मम) भक्तः (शरणागतः । सेवकः । भक्तिस्तद्वांश्च) असि (वर्तसे) च (तथा) सखा (मित्रम् । सुहृत । प्रीतिविषयः । सहचरः । वयस्यः) [असि] इति (हेतोः) सः, एव (निश्चयेन) अयम, पुरातनः (वेदमूलत्वादनादिः । गुरुपरम्परागतः) योगः, अद्य (इदानीम् । सम्प्रदायविच्छिन्नकाले) मया (वासुदेवेन) ते (तुभ्यम्) प्रोक्तः (प्रकर्षेणोक्तः) हि (यस्मात) एतत्, उत्तमम् (प्रशस्यतरम् । श्रेष्ठम्) रहस्यम (गोप्यम् । अभक्तादिभ्यो न देयम्) [अस्ति] ॥ ३ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन! तू (मे भक्तः) मेरा भक्त है, मेरा शरणागत है तथा (सखा) मेरा मित्र (च) भी (असि) है (इति) इसी कारण (स एवायम) सो जो यह (पुरातनः) अनादि गुरु-परम्परासे चलेआनेके कारण तथा वेद-मूलक होनेके

कारण प्राचीन (योगः) योग है, सो (अद्य) आज इस रथके ऊपर ऐसे घोर युद्धके समय (मया) मेरे द्वारा केवल (ते) तेरेलिये (प्रोक्तः) स्वच्छरूपसे कथन कियागया है (हि) क्योंकि (एतत्) यह योग (उत्तमम्) अति उत्तम (रहस्यम्) परम गोपनीय और गुह्य-तत्त्व है। सर्वसाधारणके प्रति प्रकाश करनेके योग्य नहीं है ॥३॥

भावार्थः— योगेश्वर भगवान‌ने जो काल-चक्रका प्रभाव दिखलाकर अर्जुनको इस योगके बहुत दिनोंसे लुप्त होजानेका कारण दिखलाया, सो अब फिर उसको इस संसारमें प्रकट करनेके तात्पर्य्यसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः**] सो जो यह योग वेदमूलक होनेके कारण बहुत ही पुराना है अर्थात् सनातनसे चला-आता है, वह आज स्वच्छरूपसे केवल तेरेलिये मेरे मुखसे कथन कियाजाता है । सो कैसा है और क्यों मैंने तेरेलिये कहा ? सो सुन ! [**भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यंह्येतदुत्तमम्**] यह योग अत्यन्त ही उत्तम रहस्य अर्थात परम कल्याण कारक है और अत्यन्त कष्ट-साध्य होनेके कारण गुप्त रखने योग्य है, जहां-तहां जिसी-तिसीके प्रति कहने योग्य नहीं है। क्योंकि "गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् । कस्यचिन्नैव वक्तव्यम् कुलस्त्रीसुरतं यथा" ॥ यह गुह्यतत्त्व ऐसे छिपानेके योग्य है, जैसे कोई कृपण अपने "रत्नकरण्डक" रत्नके डिब्बेको छिपाकर रखता है। जैसे (कुलस्त्री) श्रेष्ठ कुलकी स्त्री अपने स्वामीके मिलनेका आनन्द जिसी-तिसीसे जहां-तहां नहीं कहती फिरती है, इसी प्रकार यह उत्तम-तत्त्व प्रकटकरनेका नहीं है । अनधिकारीके

प्रति कहनेका नहीं है । अर्थात् जिस प्राणीको इस तत्त्वका अधिकार नहीं है, जो मेरा भक्त नहीं है, नास्तिक है और विषयी है उससे गुप्त ही रखने योग्य है। क्योंकि अनधिकारीको देनेसे यह विद्या निर्वीर्य होजावेगी । जैसे भस्ममें घृतकी आहुति निरर्थक होती है। ऐसे अनधिकारियोंको यह विद्या देनी निरर्थक है । प्रमाण श्रुतिः—

" न नरेणावरेण प्रोक्त एषः सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः "

(देखो कठो० अ० १ बल्ली २ श्रु० ८) अर्थ— यह जो गुप्त—तत्त्व उत्तम-पुरुषोंके द्वारा जानने योग्य और बारंबार विचारने योग्य है, वह नीच-पुरुषोंसे कभी नहीं कहा गया है । क्योंकि जबतक यह जीव अविद्याकी निद्रामें शयन कररहा है, तबतक इस कठिन रहस्यका अधिकारी नहीं होसकता । हां ! जब किसी समय यह ईश्वरकी कृपासे जगपडता है और कोई गुरु इसे दयाकी दृष्टिसे देखता है, तब इस तीक्ष्ण छुरेकी धारपर चढनेका अधिकारी होता है । इसी कारण श्रुतियां बारंबार इस जीवको इस रहस्य-प्राप्तिकेलिये यों चेताती हैं, कि श्रु०— " **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।** " (कठो० अ० १ बल्ली ३ श्रु० १४) अर्थ— जैसे माता बच्चोंको सवेरे जगाती है ऐसे श्रुति जीवोंको अपना प्रिय बालक जान जगाती है और कहती है, कि " हे दीर्घकालसे मायाकी निद्रामें सोनेवाला जीव ! ' उत्तिष्ठत !' उठो ' जाग्रत ' जागो और ' प्राप्यवरान् ' श्रेष्ठ आचार्योंको प्राप्त करके अर्थात् इस रहस्यके जाननेवालोंकी शरण जाकर ' निबोधत ' अत्यन्त सूक्ष्म-बुद्धिसे इस गोपनीय-तत्त्वको ग्रहण करो ! क्योंकि

यह रहस्य 'क्षुरस्य' छुरेकी धाराके समान अत्यन्त तीक्ष्ण है तथा इसको ज्ञानी और पण्डित कहते हैं, कि 'दुर्गं पथः' अत्यन्त दुःख-करके भी शीघ्र पार होने योग्य पथ नहीं है। पर बाजीगर नट अपना मनोयोग देकर एकाग्र-चित्त हो जैसे पतली डोरीपर चलाजाता है, ऐसे ही अत्यन्त तीक्ष्ण-बुद्धि और अत्यन्त एकाग्र-चित्तवालेका काम है, जो इस पथ पर चल सके। फिर यह गुप्त-रहस्य कैसा है सो सुनो। श्रु०— "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवोयं न विद्युः।" (कठो० अ० १ वल्ली २ श्रु० ७) अर्थात् यह गुप्त रहस्य ऐसा है, कि पहले तो सुनने ही को नहीं मिलता, जो कदापि कहीं सुना भी तो बहुतेरे सुननेवाले सुन-सुन कर भी इस रहस्यको नहीं जान सकते। अर्थात् अभागा और असंस्कृत (मलीन) आत्मा इसको श्रवण करने पर भी नहीं जानता।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि मैं इस रहस्यको साधारण-जीव के प्रति कदापि नहीं कहता, पर "भक्तोऽसि" हे अर्जुन! तू मेरा भक्त है और सखा है, मेरा प्यारा है, मेरा शरणागत है और तू अधिकारी होकर मुझसे पूछरहा है। इसलिये सो योग जो उत्तम रहस्य है आज इस घोर-युद्धके समय इस रथके ऊपर तुझको आर्त जान तेरे लिये मैं कहरहा हूं।

भगवान्ने जो इस योगको पुरातन कहा, इसका दूसरा कारण यह भी है, कि कोई वस्तु जबसे उत्पन्न होती है, तब ही से उसके जाननेकी विद्या भी उत्पन्न होजाती है; अर्थात् विद्या सदा वेदके साथ

रहती है। जैसे सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि जबसे आकाशमें उत्पन्न हुए, तबहीसे उनके जाननेके लिये ज्योतिष-विद्या भी उत्पन्न हुई। इसी प्रकार जबसे यह पृथ्वी उत्पन्न हुई, तबहीसे इसके संपूर्ण अवयवोंको जाननेके लिये भूगोल-विद्या भी उत्पन्न हुई। मुख्य तात्पर्य यह है, कि जबसे आत्मा तब ही से उसके जाननेके लिये आत्मज्ञान जो सांख्य तिसकी उत्पत्ति हुई। इसी कारण इसे " पुरातन " कहते हैं।

शंका— जब यह विद्या आत्माके साथ-साथ उत्पन्न है तो जितने छोटे बड़े हैं सब तो आत्मा ही हैं, पापी हों अथवा पुण्यात्मा, ब्राह्मण हों वा चाण्डाल, फिर यह विद्या इन आत्माओंसे गुप्त कैसे रह सकती है ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि जो वस्तु जिसके साथ उत्पन्न है वह उसकी निज-सम्पत्ति है, उसे अवश्य मिलनी चाहिये पर सदासे ऐसा नियम चला आरहा है, कि जब तक सम्पत्तिवाला अपनी सम्पत्ति पानेका अधिकारी न होजावे, तब तक उसे वह सम्पत्ति नहीं मिलती। यदि अधिकारी होनेसे पहले उसे देदीजावे तो वह न तो उसके गुण अवगुणको समझेगा, न उससे उचित व्यवहार करसकेगा, वरु इसके प्रतिकूल उसे अपनी सम्पत्तिके साथ नष्ट होजानेका भय है। जैसे कोई राजकुमार अपने राज्यकी सारी सम्पत्ति के साथ उत्पन्न हुआ है, राज्य उसीका है, पर जब तक वह बच्चा है (युवा नहीं हुआ है) राजनीतिकी शिक्षा नहीं पायी है तबतक राज्य उसके हाथमें सौंपदेनेसे राज्यके साथ-साथ उसको आप

नष्ट होजाने का भय है । इसी प्रकार जब तक कोई पुरुष कर्मकाण्डमें प्रवीण न होजावे, तब तक यह " सांख्य " उसे प्रदान करना अनर्थका कारण है । क्योंकि वह उसके गुणको नहीं समझेगा, न उसको उचित व्यवहार कर उससे कुछ लाभ उठावेगा । अज्ञानताके कारण उसको अपने घरकी सम्पत्ति कुछ काम नहीं आवेगी ।

जिस घरमें धूम भरा हो और उसके सब द्वार बन्द हों, किसी ओरसे वायु प्रवेश करनेका मार्ग न हो, तो उस घरमें दीपक नहीं बल सकता । इसी प्रकार सब आत्मा ही है, पर जिसका अन्तःकरण नाना प्रकारके विषय-रूप धूमसे भराहुआ है, उसके भीतर ज्ञान-रूप दीपक नहीं बल सकता । स्मृति भी अनधिकारीके प्रति इस विद्याको देनेसे रोकती है । सुनो !

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥
विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां नत्वेनामिरिणे वपेत् ॥
विद्या ब्राह्मण मित्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्याम्वीर्यवत्तमा ॥
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥

(मनुस्मृतिः अध्या० २ श्लो० ११२, ११३, ११४, ११५)

अर्थ—जिस शिष्यके द्वारा न तो धर्म्म किसी प्रकारका सम्पादन हो न उसके द्वारा किसीका कुछ अर्थ निकल सके अर्थात् जो परोपकारी न हो तथा जिससे विधि पूर्वक सुयोग्य सेवा भी न होसके, तो जैसे किसान ऊषरभूमिमें उत्तम बीज नहीं बोता, ऐसे उसको विद्या नहीं देनी चाहिये ॥ ११२ ॥

ब्रह्मवादी विद्याके साथ-साथ मरजावे, पर घोर आपत्तिमें भी विद्या ऊषरमें न बोवे; अर्थात् अनधिकारी यदि खड्ग लेकर दो टुकडे काटने आजावे तथापि अनधिकारीको विद्या न देवे ॥ ११३ ॥

यह ब्रह्म-विद्या साकार-रूप धारण कर एकबार एक ब्राह्मणके पास गयी और बोली, मैं तेरेलिये "शेवधिः" हूं अर्थात् अपूर्व-धनका भण्डार हूं, तू मेरी रक्षा कर! "असूयकाय" निन्दकोंको मत दे! तो मैं बडी वीर्यवाली तेरे पास बनीरहूंगी ॥ ११४ ॥

हे ब्राह्मण! जिसको तू पवित्र जाने अर्थात् व्यभिचारादि दोषोंसे निर्दोष जाने और यह समझे, कि इसका ब्रह्मचर्य नियम-पूर्वक रक्षित है तिसी "विप्राय" ब्राह्मणको वा "निधिपाय" क्षत्रिय वा वैश्य तथा "अप्रमादिने" प्रमादसे रहित पुरुषोंको मुझे दे! अन्यको भूलकर भी न दे ॥ ११५ ॥

श्रुतियां भी इसी स्मृतिको पुष्ट करती हैं, सुनो! श्रु० "**विद्यया सार्द्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत**" अर्थ स्पष्ट है फिर उसी छान्दोग्य ब्राह्मणमें कहा है, कि "**विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि**

त्वं मां पालय ! अनर्हते मानिने चैव मादा गोपाय मां श्रेयसी तथाहम् " अर्थ विद्या ब्राह्मणके पास जा बोली, कि मैं तुम्हारी हूं तुम मेरी रक्षा करो ! (अनर्हते) अनधिकारी तथा घमण्ड और अहंकार करनेवालों को मुझे मत दे ! मेरी रक्षा कर ! तो मैं सदा तेरी कल्याणकारिणी रहूंगी ।

इतना तो निश्चय है, कि श्रुतिस्मृतियोंने जितनी ही रुकावट अनधिकारीको विद्या देनेमें की है उतनी ही अधिकारीके प्रति शीघ्र विद्या प्रदान करनेकी आज्ञा दी है । जैसे किसान बीज बोनेका अवसर देख झट क्षेत्रोंमें बीज बोदेता है विलम्ब नहीं करता इसी प्रकार आचार्य्य भी तयार शिष्यको अर्थात् अधिकारीको जहांतक सम्भव हो शीघ्र विद्या प्रदान करे । जबसे अधिकारियों को भी विद्या प्रदानकरना हमारे भारतमें रुकगया तब ही से विद्यायें लुप्त होने लगगयीं और देशका-देश मूर्ख होगया । अधिकारीके प्रति विद्या नहीं देनेसे विद्या भी शाप देकर, देशसे रूठकर चली जाती है। इसी कारण भगवान् अर्जुनसे प्रतिज्ञाकर कहरहे हैं, कि हे अर्जुन! तू मेरा भक्त भी है और सखा भी है इसलिये मैं तेरे लिये वही योग इस समय कथन कर रहा हूं जिसे मैंने पहले "विवस्वान्" (आदित्य) के प्रति कथन कियाथा शंका मत करो ! ॥ ३ ॥

इतना सुन अर्जुनने भगवान्का जन्म वसुदेवके घरमें जानकर अथवा साधारण अज्ञानियोंके हृदयमें जो भगवान्के मनुष्य होनेका दृढ निश्चय है उसे दूर करनेकेलिये भगवान्से यों प्रार्थना की ।

अर्जुन उवाच

मू०— अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

पदच्छेदः— भवतः (तव) जन्म (उत्पत्तिः) अपरम् (अर्वाचीनम् । अर्वाक्कालीनम्) विवस्वतः (आदित्यस्य) परम् (पूर्वम् । प्राक्कालीनम्) [तस्मात्] त्वम्, आदौ (प्रथमम् । सृष्ट्यारंभकाले) प्रोक्तवान् (अब्रवीः) इति (एवम्) एतत् (त्वद्वचनम्) कथम् (केन हेतुना) विजानीयाम् (ज्ञातुं शक्नुयाम्) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (अर्जुन उवाच) अर्जुन बोला हे भगवन् ! (भवतः) आपका (जन्म) जन्म तो (अपरम्) पीछे हुआ है और (विवस्वतः) आदित्यदेवका (जन्म) जन्म (परम्) पहिले हुआ इसलिये (त्वम्) तुमने (आदौ) सृष्टिकी आदिमें (प्रोक्तवान्) यह योग आदित्यके प्रति कहा (इति) इस प्रकार (एतत्) इस तुम्हारे वचनको (कथम्) कैसे (विजानीयाम्) जानूं ? अर्थात् यह तुम्हारी बात कैसे मान जाऊं, कि तुमने नहीं वर्तमान रहने पर भी यह रहस्य आदित्यको + सृष्टिके आरंभ-कालमें कथन किया ॥ ४ ॥

+ यहां सृष्टिका प्रारम्भ कहनेसे वैवस्वतमन्वन्तरके प्रारम्भका तात्पर्य्य है जो इस समय बीतरहा है ।

भावार्थः—श्री आनन्दकन्द योगेश्वर भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति जो यह वार्ता कही है, कि सृष्टिकी आदिमें सबसे पहले मैंने यह योग आदित्यको उपदेश किया है! सो सुन अर्जुनको आश्चर्य्य हुआ और असंभवसा जानपडा। इसलिये शंकान्वित हो श्रीहरिसे यों प्रश्न किया, कि हे भगवन्! [**अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः**] तुम्हारा जन्म तो अब इस द्वापरके अन्तमें श्री वसुदेवके घरमें हुआ है और "+विवस्वत" का जन्म बहुत पुरातन है। फिर तुम विवस्वतसे कैसे मिले? क्योंकि तुम गोकुलमें पधार अपनी बाल्यावस्था बालक्रीडामें व्यतीत कर, यदुवंशियोंके घर लौट मथुरामें निवास करनेलगे। फिर द्वारका नगरीको पधारगये तबसे तो मैंने सूर्य्यलोक जाते नहीं सुना। इसलिये इस जन्ममें सूर्य्यदेवके साथ तुम्हारा वार्त्तालाप होना तो असंभव जानपडता है। यदि कहो, कि सूर्य्यदेव गोकुल मथुरा अथवा द्वारकामें तुम्हारे पास उपदेश लेने आयेथे, सो यह भी नहीं सुनाजाता है, ब्रह्मदेव और इन्द्रदेव का आना तो सुना भी गया, पर आदित्य तो तुम्हारे समीप इस पृथ्वीपर कभी नहीं आये। इसलिये **कथम्? एतद्विजनीयाम् त्वमादौ प्रोक्तवानिति**] इस बातको मैं कैसे मानूं? और कैसे विश्वास करूं, कि तुमने सृष्टिकी आदिमें पहले-पहल यह योग विवस्वान्‌के प्रति कथन किया।

यदि मैं इस बातको मान भी जाऊं, कि तुम योगेश्वर हो और सबसे मिल सकते हो, पर जो नास्तिक हैं, मन्दबुद्धि हैं, वे तुमको

+ "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इस वेदमंत्रसे सिद्ध होता है, कि विधाताने सृष्टि रचते समय पृथिवीकी रचनासे पूर्व ही सूर्य्यचन्द्रको बनाया।

ऐसा माननेपर भी यही शंका करेंगे, कि सूर्यदेवका तेज इतना तप्त है, कि मानुषी शरीरवाला सूर्यके समीप नहीं जासकता । सो हे भगवन् ! यह तुम्हारा शरीर कमल-पुष्पसे भी अत्यन्त कोमल है जिसे मैया यशोदाने माखन मिश्री खिलाकर अत्यन्त कोमल बना रखा है । जिसे रत्तीमात्र भी सूर्यका ताप कभी लगने न दिया, सो कैसे सूर्यकी किरणोंका कठोर ताप सहकर सूर्यके समीप पहुंचा होगा ? इसलिये कृपा कर तुम मुझे स्पष्ट-रूपसे समझाकर कहो, कि तुमने कैसे यह योग विवस्वान्‌को कहा ? ॥ ४ ॥ इतना सुन श्री गोविन्द बोले—

श्री भगवानुवाच

मु०—बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ! ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ! ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— भगवान् उवाच अर्जुन ! (हे पार्थ !) मे (मम) च (तथा) तव (ते) बहूनि (अनेकानि । असंख्यातानि) जन्मानि (लीलादेहग्रहणानि) व्यतीतानि (गतानि । अतिक्रान्तानि) अहम् (सर्वज्ञः) सर्वाणि (सकलानि) तानि (जन्मानि) वेद (जानामि) [किन्तु] परंतप ! (हे शत्रुतापन !) त्वम [तानि जन्मानि] न (नहि) वेत्थ (वेत्सि) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (श्रीभगवान्) श्री कृष्ण (उवाच) बोले (अर्जुन) हे अर्जुन ! (मे) मेरे (च) और (तव) तेरे (बहूनि) बहुतेरे (जन्मानि) जन्म (व्यतीतानि) बीतगये हैं । (तानि-

सर्वाणि) तिन सब जन्मोंको (अहम्) मैं सर्वज्ञ (वेद) जानता हूं, पर (परन्तप) हे शत्रुओंका नाश करनेवाला अर्जुन ! (त्वम्) तू इनमें एकको भी (न) नहीं (वेत्थ) जानता ॥ ५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने भगवानका जन्म वसुदेवके घरमें अब और " आदित्य " की उत्पत्ति बहुत पहले जानकर जो सर्गकी आदिमें आदित्यको योग उपदेश करनेकी शंकाकी है तिसे दूर करनेके तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन**] मेरे और तेरे अनेक जन्म बीतगये हैं हे अर्जुन ! तू ऐसा मत समझ, कि एक ही बार इस ब्रह्माण्डमें मेरा और तेरा जन्म हुआ है नहीं ! नहीं ! तू यह निश्चय जान, कि इस अनादि, अनन्त ब्रह्माण्डमें मेरे और तेरे अनेक जन्म बीतगये हैं। प्रत्येक कल्प तथा मन्वन्तरमें मेरे और तेरे जन्म बार-बार होते रहते हैं। अर्थात् मैं बार-बार ईश्वर-कोटिमें अवतार धारण करता रहता हूं और तू भी बारम्बार जीव-कोटिमें जन्म लेता रहता है।

प्रिय पाठको ! सच है ! भगवान बारम्बार आवश्यकता देखकर इस संसारमें अवतार लेते रहते हैं। इसके सिद्धान्तमें ऋग्वेदका मंत्र दिखलाया जाता है। मंत्र— ॐ **रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश** । (ऋग्वेद मंडल ६ अ० ४ सुक्त ४७ मंत्र १८]

अर्थ— वह इन्द्र परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर अपनी शक्तिसे नृसिंह, वामन, राम, कृष्णादि रूपोंको धारण करता है। क्यों धारण करता

है ? तो " तदस्य रूपं " अपने भक्तवात्सल्यादि गुणोंसे पूर्ण रूपोंको संसारमें प्रख्यात करनेके लिये । इसी कारण कहा है, कि " रूपं रूपं " जिस-जिस रूपको धारण करता है उसी प्रकारकी लीला भी करता है। यदि पूछो, कि उसके वे रूप कितने प्रकारके हैं ? तो वेद कहता है, कि " **युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश** " निश्चय करके संसार-दुःखके हरण करनेवाले जो उसके रूप अपनी शक्ति द्वारा नियुक्त किये हुए हैं वे " शता " बहुत हैं और ' दश ' नृसिंहादि दश अवतार तो प्रसिद्ध ही हैं ।

इस ऋग्वेदके वचनसे सिद्ध होता है, कि भगवान् सैकडों रूप धारण कर इस संसारमें बारम्बार अवतार लेचुके हैं । और आगे भी बारम्बार अवतरेंगे । इसी कारण कहते हैं, कि हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म इस संसारमें होचुके हैं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू भी बार-बार जीव-कोटिमें जन्म लेचुको है । पर [**तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप !**] मैं सर्वज्ञ होनेके कारण अपने और तेरे सब जन्मोंको जानता हूं पर हे अर्जुन ! तू नहीं जानता। यदि कोई मुझसे पूछे, कि हम दोनों तीसरे कल्पकी पन्द्रहवीं चौकडीकी त्रेतामें कहां उत्पन्न हुए और क्या-क्या कार्य्य किया ? तो मैं बिना किसी ग्रन्थ इत्यादि देखे सब ठीक-ठीक बता सकता हूं । इसमें तनक भी सन्देह नहीं । पर हे (**परन्तप !**) शत्रुओंके तपानेमें तत्पर अर्जुन ! तू जीव है । इसलिये तेरे अन्तःकरण पर मलविक्षेपादिके आवरण

द्वारा भूत, भविष्यका जानना सम्भव नहीं होता । इसी कारण अपने पिछले जन्मोंको " न त्वं वेत्थ " तू नहीं जानता । तू ही क्यों ? तेरे समान जितने जीव हैं कोई भी अपने पिछले जन्मोंकी स्मृति नहीं रखता । तो जब तू अपने ही जन्मोंको नहीं जान सकता है, तो मेरे जन्मोंको कैसे जानेगा ? पर मैं सबसे प्रथम हूं इसलिये सब कुछ जानता हूं ।

प्रिय पाठको ! भगवानके प्रथम होनेके विषे श्रुतिका वचन है

श्रु॰—अहमेकः प्रथममासं वर्त्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति । (अथर्वशिर उप॰ श्रु॰ १)

अर्थः— भगवान् रुद्ररूप होकर देवताओंसे कहते हैं, कि सबसे प्रथम एक मैं ही था । मैं ही इस वर्त्तमान समयमें भी हूं । मैं ही आगे भी रहूंगा । मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । फिर दूसरी श्रुतिका वचन है– " ॐ अस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं यस्मादन्यन्न परं किंचनास्ति । न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोत भव्यं यदासीत् ॥ (देखो अथर्वशिर॰ श्रुति ६ में)

अर्थः— जैसे वस्त्रमें सर्वत्र तन्तु ही ओत-प्रोत रहता है । इसी प्रकार जिससे इतर तथा जिससे परे कुछ भी नहीं है । न तिससे पीछे है । न भूतकालमें कुछ है । न भविष्यकालमें कुछ है । सदा एक सोही है जो पहले था ।

प्रिय पाठको ! श्यामसुन्दर श्री कृष्णचन्द्रके लीला पुरुषोत्तम

+ अवतार होनेमें तनक भी सन्देह नहीं है । इसलिये भगवानका अर्जुनके प्रति यह कहना, कि मैं सब अपने और तेरे जन्मोंको जानता हूं और तू नहीं जानता यह साङ्गोपाङ्ग सत्य मानना चाहिये ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! तुम तो कहते हो, कि तुम बार-बार जन्म लेते हो फिर कहते हो, कि तुम सर्वज्ञ हो। बार-बार जन्मलेना जीवका धर्म्म है सर्वज्ञका नहीं। इसलिये ये दोनों बातें एक दूसरेके प्रतिकूल जान पडती हैं। अतएव तुम समझाकर कहो, कि तुम सर्वज्ञ होकर बार-बार कैसे जन्म लेते हो ?

इतना सुन भगवान बोले—

मू०— अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— अव्ययात्मा (अक्षीणज्ञानशक्तिस्वभावः) अजः (जन्म-रहितः) सन् अपि भूतानाम् (ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तानाम्) ईश्वरः,सन्, अपि, अहम् (वासुदेवः) स्वाम् (निजाम्) प्रकृतिम् वैष्णवीमायाम् त्रिगुणात्मिकाम् ।) अधिष्ठाय (वशीकृत्य) आत्ममायया (आत्मनो मायया न परमार्थतो लोकवत्) सम्भवामि (देहवान इव भवामि) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (अव्ययात्मा) नहीं क्षीण होनेवाला है ज्ञान शक्तिवाला स्वभाव जिसका तथा (अजः) जो जन्मसे भी रहित (सन्, अपि) होनेपर भी तथा (भूतानाम्) ब्रह्मलोकसे लेकर तृण

+ अवतार— " हंसनाद " दूसरे भागमें अवतारका व्याख्यान देखो ।

पर्य्यन्तका (ईश्वरः) ईश्वर (सन्, अपि) होनेपर भी हे अर्जुन! मैं (स्वाम्) अपनी (प्रकृतिम्) त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायाको (अधिष्ठाय) अपने वशमें करके अथवा धारण करके (आत्ममायया) अपनी मायासे (सम्भवामि) मायावी शरीरको धारण करता हूं। अर्थात सच-मुच मैं मनुष्य नहीं होता, पर लोगों के देखनेमें मैं मनुष्यके समान शरीर धारण किये देख पडता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थः— अर्जुनको जो यह शंका हुई है, कि जो परब्रह्म निराकार, निर्विकार, सच्चिदानन्द-घन, जन्म-मरण-रहित, सर्वज्ञ है, सो देहधारी कैसे होता है? इस शंकाके दूरकरनेके निमित्त श्रीजगत्-हितकारी वृन्दावन-बिहारी बडे प्रेमसे अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन! [**अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्**] मैं सदा अजन्मा, अव्ययात्मा तथा सर्व जीवोंका ईश्वर होनेपर भी संसारमें प्रकट हुआकरता हूँ। भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवान् तो सदा जन्म-रहित हैं, कभी किसीके गर्भसे उत्पन्न नहीं होते। देवकी इत्यादिके गर्भसें उत्पन्न होना जो पुराणोंमें लिखा है सो मानो नटकी लीला है। "लीलाविग्रहं गृहीत्वा" लीलाका रूप धारण कर "लोके यत्त लीलाकैवल्यम्" इस न्यायके अनुसार केवल लीला ग्रहण करता है, सो शरीर +पारमार्थिक नहीं है केवल

+**पारमार्थिक** और **प्रातिभासिक** दो प्रकारके शरीर होते हैं। **पारमार्थिक** वह है जो सचमुच पांचभौतिक-शरीरका हो और **प्रातिभासिक** वह है जो सचमुच न हो। जैसे स्वप्नका शरीर अथवा दर्पणमें अपना शरीर।

प्रातिभासिक है फिर वह भगवान् (अव्ययात्मा) है। अर्थात् कभी नाश नहीं होनेवाला और जन्म-मरणसे रहित है । क्योंकि जन्म-मरण तो साधारण जीवोंका इसलिये हुआकरता है, कि वे कर्मके बन्धनमें पडेहुए कर्मोंका फल भोगा करते हैं। और जब जन्म होचुका तब " मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते " इस वचनके अनुसार उनकी मृत्यु भी देहके साथ ही साथ उत्पन्न होती है। सो कर्मोंका बन्धन भगवान्में नहीं है । कर्म उसके अधीन है। इस लिये वह मृत्युके वश नहीं होता, वरु अजर, अमर, अजन्मा अविनाशी कहा जाता है । इसलिये भगवान्ने अपनेको यहां अज और अव्ययात्मा कहा । ऐसा अज, अव्ययात्मा होनेपर भी तथा "भूतानामीश्वरोपि सन्" ब्रह्मलोकसे पातालपर्य्यन्तके ईश्वर होनेपर भी भगवान् कहते हैं, कि [प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया] मैं अपनी प्रकृतिको अपने वशमें करके अर्थात् मेरी वैष्णवी-माया जो त्रिगुणात्मिका होकर सारे ब्रह्माण्डके जीवोंको अपने वश करके नचाती है, जिसकी नाना प्रकारकी छटाओंको देख ब्रह्मादि देव भी मोहित हो मूर्च्छित हो पडते हैं, तिसे मैं अपने वश करके जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिसे रहित सदा एक समान रहकर (आत्ममायया) अपनी विचित्र माया द्वारा मायावी शरीर धारण करता हूं, जो नटोंकी लीलाके समान देख पडता है।

भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि जैसे बाजीगर अपनी चतुरायी तथा नाटकीलीला से मायावी-शरीर धारण करता है । वैसे

भगवान भी मायावी—शरीर धारण करते हैं। तहां कहते हैं, कि "यथा कश्चिन्मायावी स्वयं स्वस्थानादप्रच्युतस्वभावोऽदृश्यो भूत्वा स्थूलसूक्ष्मभूतान्यनुपादायैव केवलया मायया द्वितीयं मायाविनं स्वसदृशमेव सूत्रमार्गेण गगनमारोहन्तं सृजति।"

अर्थ—जैसे मायावी इन्द्रजालका खेलनेवाला जो अप्रच्युत स्वभाव है अर्थात् ऐसा दृढ है जिसको ऊपरसे नीचे गिरनेका भय नहीं है, अपने स्थानसे अदृश्य (लोप) होकर स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर को बिना धारण किये केवल अपनी माया (नाटकीकला) से दूसरा मायावी—शरीर बनाकर कच्चे सूतको थाम उस सूतके सहारे आकाशपर चला जाता है फिर देखनेवालोंके सन्मुख आगिरता है। इसी प्रकार भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! मैं जो कूटस्थ (सदा एक रस रहने वाला सर्वेश्वर) चिन्मात्र (शुद्ध निर्मल ज्ञानमात्र सब वस्तुओंका जाननेवाला) अग्राह्य हूं अर्थात मन,बुद्धि, इन्द्रियादिसे नहीं ग्रहण होने योग्य हूं सो अपनी मायासे अपना चिन्मय—शरीर बना लेता हूं, और जैसे बाजीगर सूत्रपर चढनेवाले शरीरको देखनेमात्र ही दिखलाता है इसी प्रकार मैं भी अपने बाल,युवा इत्यादि अवस्थाओंको संसार के देखनेमात्र ही बना लेता हूं।

सच-मुच मेरा शरीर कोई नहीं। इसलिये मैं सर्वज्ञ होकर आगेपीछेकी वार्ताओंको जानता हूं।

शंका—जो मायावी शरीर होता है उसे तो माया करनेवाला क्षण—क्षणमें संहार करलेता है। कृष्णका शरीर तो बालकअवस्थासे आजतक एक समान है। कैसे विश्वास हो, कि यह शरीर मायावी है?

समाधान— भगवान् भी अपनी लीला करते हुए बार-बार अपने शरीरको उपसंहार करलेते हैं । जैसे रासलीला करतेहुए जब गोपिकाओंके हृदयमें यह अहंकार उत्पन्न होआया, कि कृष्ण कामी पुरुषोंके समान हमारे वशीभूत हैं, तब गोपिकाओंके बीचसे अपने शरीरको अन्तर्धान करदिया ।

प्रमाण— तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्यमाणं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तर धीयत ॥

अर्थ— तहां तिन स्त्रियोंमें अपनी सुन्दरताके मद और मानको देखकर उस मदकी शान्ति करदेनेके लिये तथा उनका कल्याण करनेके तात्पर्य्यसे श्री केशव अन्तर्धान होगये । लो और सुनो! शिवकी परम प्रिया सतीने दशों दिशाओंमें सहस्रों रामकी मूर्ति देख विस्मित हो आंखें बंद करलीं, पर आंख खोलनेपर एक भी न देखी । इससे सिद्ध होता है, कि बाजीगरोंके समान भगवान अपना शरीर बार-बार अन्तर्धान और प्रकट कर लिया करते हैं । इसलिये भगवान्के अवतार और सर्वज्ञ होनेमें सन्देह मत करो । उनकी मायामें यह प्रभाव है, कि मनुष्योंकी दृष्टिमें अघटित घटना कर दिखलाता है । फिर भगवान्‌ने नारदके प्रति कहा है—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥"

(मोक्षधर्मे)

अर्थ— हे नारद ! जिस मेरे शरीरको तू इन अपने नेत्रोंसे देखता है सो मेरा शरीर मेरी मायासे रचा हुआ है। पर सर्व भूत और सर्व गुणोंसे युक्त जो मैं तिससे तू नहीं देख सकता। अर्जुनके रथवान् श्री कृष्ण भगवान् साक्षात् सर्वशक्तिमान हैं जो तीनों कालोंका सब कुछ जानते हैं। इसलिये भगवान्के वचनमें शंका मत करो ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा— भगवन्! इस प्रकार बारं-बार मायाको अंगीकार कर तुम कब-कब अवतार धारण करते हो ?

इतना सुन भगवान् कहते हैं—

मू०— यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— × **भारत** (हे भरतवंशावतंस अर्जुन !) **यदा, यदा** (यस्मिन् यस्मिन् काले) **हि** (निश्चयेन) **धर्मस्य** (वेदविहिताचारस्य) **ग्लानिः** (हानिः । ह्रासः) **भवति** (वर्त्तते) [तथा] **अधर्मस्य** (वेदनिषिद्धस्य । दुष्टाचारस्य) **अभ्युत्थानम्** (आधिक्यम् । उदयः । उद्भवः । वृद्धिः) [भवति] **तदा** (तस्मिन्नेव काले) **अहम्** (धर्मसंरक्षको वासुदेवः) **आत्मानम्** (स्वप्रातिभासिकशरीरम्) **सृजामि** (मायया सृष्टमिव दर्शयामि । जन्मवन्तमिव प्रदर्शयामि) ॥ ७ ॥

× भा ज्ञानं तत्र रतत्वेन = भारतः । (शंकराचार्यः)

पदार्थः—(**भारत!**) हे भरतवंशभूषण अर्जुन! (**यदा, यदा**) जब जब (**हि**) निश्चय करके (**धर्मस्य ग्लानिः**) धर्मकी अवनति तथा (**अधर्मस्य**) अधर्मका (**अभ्युत्थानम्**) उदय तथा वृद्धि (**भवति**) होती है (**तदा**) तब तब (**अहम्**) मैं (**आत्मानम्**) अपनेको (**सृजामि**) सृजता हूँ अर्थात् देहधारियोंके समान मैं भी अपने प्रातिभासिक-शरीरको पृथ्वीपर धारण करता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थः— अब श्यामसुन्दर इस श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नपर उस विशेष तात्पर्यको वर्णन करते हैं जिसके लिये बार-बार अवतार लेना पडता है। यह सृष्टि केवल धर्मपर चलरही है। जैसे जलका आधार किसी प्रकारका पात्र होता है इसी प्रकार सृष्टिका आधार धर्म है। धर्मका यही अर्थ है, कि " **धरति लोकानिति धर्मः** " जो लोकों को धारण करे उसे कहिये " **धर्म** " तथा (**ध्रियते पुण्यात्मभिरिति धर्मः**) जो पुण्यात्माओंसे धारण कियाजावे उसे कहिये " **धर्म** "। सो हे अर्जुन! इस मानव—धर्मके विषय पहले भी मैंने बहुत कुछ तुझको कहा है। अब फिर भी कहता हूं सुन! ब्रह्माण्डभरके मनुष्योंके लौकिक और पारलौकिक सुखप्राप्तिके निमित्त धर्महीके पालन करनेकी आवश्यकता है। सो [**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!**] हे भारत! जब-जब तिस धर्मकी ग्लानि होती है, विश्वास-रहित होजानेके कारण मनुष्य धर्मसे विमुख होजाते हैं, श्रुति-स्मृतियोंके वचनोंसे मुंह मोर लेते हैं, **अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, आर्जव, दया, मिताहार, शौच, तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर-**

पूजन, सिद्धान्त-वाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप, हवन, आसन, ×प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि ये + धर्मके २६ अंग जो मनुष्योंके लिये हैं सब नष्ट होने लगजाते हैं। और [अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्] अधर्मका अभ्युत्थान अर्थात् उदय और वृद्धि होने लगजाती है। तब मैं अपनेको सृजलेता हूं। तात्पर्य यह है, कि जब मिथ्या, दम्भ,

× बहुतेरे विद्वान् प्राणायामादि अष्टांगयोगके अंगोंको धर्म नहीं समझते हैं, यह उनकी भूल है। योगसार नामक ग्रन्थमें लिखा है- प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा स्मरणं चैव योगेऽस्मिन् पंचधर्माः प्रकीर्तिताः ॥ अर्थ-प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण (जप) योगमें ये पांच धर्म कथन कियेगये हैं। यदि यह कहो, कि ये तो योगके धर्म हैं तो योगभी मनुष्यों ही के लिये है। इसलिये योगके अंगोंको भी मानवधर्म में समझना चाहिये। मनुने भी अस्तेय, शौच, सत्य इत्यादि जो अष्टांगयोगके यम नियमके अन्तर्गत हैं मानव धर्ममें गणना की है।

+ मनुने भी इन्हींमेंसे १० धर्मोंको वर्णन किया है। मनुके मतसे ये १० लक्षण धर्मके हैं- [धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥] (मनु० अ० ६ श्लो० ९१) १. धृति (अपने स्थान वा संकल्पसे नहीं हटना)। २. क्षमा (दूसरेके दोषको स्मरण रखतेहुए भी उसका उपकार ही करना)। ३. दम [विकारहेतुविषयसन्निधानेप्यविक्रियत्वं मनसो दमनं दमः] (सनत्कुमारः) अर्थात् विषय जब मनके समीप विकार करने आवे तो उस विकारसे विकृत न होकर मनको अपने वशमें रखना। ४. अस्तेय (चोरी न करना) ५. शौच (शरीरको मृत्तिका तथा जल इत्यादिसे पवित्र रखना तथा निर्दोष अर्थको प्राप्त कर अपना समय विताना)। ६. इन्द्रिय-निग्रह (रूपादि विषयोंसे चक्षु

पाषण्ड, काम, मद्यपान, हिंसा, निन्दा, लोलुपता, धूर्तता इत्यादि बढने लगजाती हैं अर्थात् धर्म-रूप सूर्यके अस्त होनेसे अधर्मका अन्धकार फैलने लगजाता है। गैया, ब्राह्मण, सन्यासी, देवता, साधु तथा भक्तोंपर नाना प्रकारके क्लेश आन पडते हैं । राक्षसों और अन्यायियोंके लिये विजयका डंका बजने लगजाता है । योगी और तपस्वी भाग-भाग कर पर्वतकी कन्दराओंमें छिपने लगजाते हैं । आत-तायियोंकी वृद्धि होजाती है और स्त्रियां पुंश्चली होजाती हैं तब मैं अपने को इनकी रक्षानिमित्त अवतार लेकर पापियोंका नाश कर भक्तों का उद्धार करता हूं ॥ सर्वत्र धर्मके फैलनेका डंका बजवा-देता हूं ।

पाठकोंके बोधार्थ यहां यह दिखलादियाजाता है, कि किस धर्मके स्थानमें कौनसा अधर्म फैलजाता है—

१. अहिंसाके स्थानपर हिंसा । २. सत्यके स्थानपर असत्य । ३. अस्तेयके स्थानपर चोरी । ४. ब्रह्मचर्यके स्थानपर व्यभिचार ।

इत्यादि इन्द्रियोंको हटादेना) । ७. धीः (शास्त्रोंका ज्ञान यथार्थ रीतिसे प्राप्त करना और उनके तत्वोंको जानकर तदनुसार बुद्धिसे काम लेना) । ८. विद्या (आत्मज्ञानको प्राप्त करना ।) ९. सत्य (जो कुछ देखा सुना हो उसको ज्योंका त्यों कहना) । १०. अक्रोध (क्रोध नहीं करना केवल सांसारिक व्यवहार अथवा परोपकारके तात्पर्यसे क्रोधके शुद्ध भागको व्यवहार-साधन-मात्र क्रोधका रूप दिखलाना, पर यथार्थमें क्रोध न करना) । पहले जो २१ धर्म कहेगये हैं उन्हींके अन्तर्गत ये १० धर्म हैं ।

५. +क्षमाके स्थानपर अमर्षण । ६. धृतिके स्थानपर " चलचित्तता" और " मनोलौल्यम् " (एक धर्मपर दृढ न रहकर प्रतिदिन धर्म और मतके बदलनेकी इच्छा)। ७. ÷दयाके स्थानपर क्रूरता। ८. आर्जवके स्थानपर कपट। ९. ×मिताहार के स्थानपर अतृप्ति और

+ (क्षमत आत्मोपरिस्थितानां जीवानामपराधम् या सा क्षमा) अर्थ— अपने ऊपर कियेहुए जीवोंका अपराध मनमें न लावे, उसका बदला न लेवे उसे क्षमा कहते हैं। बृहस्पतिका वचन है— बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखेचोत्पादिते क्वचित् । न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥ अर्थ— किसीके द्वारा आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक किसीप्रकारका दुःख अपनेको प्राप्त होनेपर जो क्रोध न करे वा अपराध करने वालेको हनन न करे उसे क्षमा कहते हैं। क्षमा धर्म्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् । य एतदेव जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति । क्षमावतामयंलोकः परश्चैव क्षमावताम् । इह सम्मानमर्हन्ति परत्र च शुभां गतिम् । अर्थ स्पष्ट है।

÷ यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं या हृदि जायते । इच्छाभूमिः सुरश्रेष्ठ ! सा दया परिकीर्त्तिता ॥ (पद्मपुराणे) अर्थ— हृदयमें यत्न करनेसे भी परायेके क्लेश हरनेकी जो इच्छा होती है उसे हे द्विजोत्तम ! दया कहते हैं। आत्मवत् सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च । वर्त्तते सततं हृष्टः क्रिया ह्येषा दया स्मृता॥ (मत्स्य पुराणे) अर्थ— सदा अपने समान सब जीवोंके हित तथा शुभ करनेमें हर्षित होकर लगपड़ता है उसे दया कहते हैं।

×बहुत आहार न करना । प्रमाण—अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् । अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् । (मनु० अ० २ श्लो० ५७)

अभक्ष्याहार। १०. ×शौचके स्थानपर अशौच अर्थात् मालिन्य (जहां शयन करना तहां ही मल-मूत्रके परित्यागका स्थान भी बना रखना।

अर्थ=अत्यन्त भोजनसे अरोगताकी हानि, आयुकी हानि, स्वर्गकी हानि और पुण्यकी हानि होती है तथा लोकमें निन्दा होती है।

जठरं पूरयेदर्धमर्द्धभागं जलस्य च। वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥ (विष्णुपुराणे)

×शौचन्तु द्विविधम्प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरन्तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं वाह्यं भावशुद्धिरथान्तरम॥ (गरूडपुराण अ० २१५) अर्थ— शौच दो प्रकारके हैं वांह्यशौच और अन्तःशौच। मट्टी पानीसे जो शरीरका शौच होता है उसे वाह्य। और उत्तम प्रकार शुद्ध रीतिसे अर्थका उपार्जन करना अन्तःशौच कहलाता है। यह "अर्थशौच" अन्य सर्व प्रकारके शौचोंमें उत्तम है।

"सत्यशौचं मनःशौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहम्। सर्व-भूत-दयाशौचं जलशौचन्तु पंचमम्" (गरूडपुराण अ० ११० में)

अर्थ— "सत्य-शौच" "मनःशौच" "इन्द्रिय-निग्रहशौच" "दया-शौच" फिर सबसे पीछे "जल-शौच" ये पांच प्रकारके शौच हैं। वर्त्तमान समय में शौचरहित रहनेसे शरीरमें मलीन परमाणुओंकी वृद्धि होती है। संपूर्ण शरीरके अपवित्र परमाणुओंके मैलसे विषैले कीट उत्पन्न होकर नासिकाके छिद्रों द्वारा इडा और पिंगला नाडियोंके मार्गसे हृदय-कमलपर पहुंचते हैं, तहांसे रक्तके साथ मिलकर रक्तवाहिनी नाडी द्वारा संपूर्ण शरीरमें फैल विशूचिका (प्लेग Plague) इत्यादि भयंकर रोगोंको उत्पन्न करते हैं। बुद्धि भी मलीन होजाती है।

११. ×तपके स्थानपर विषय-भोग। १२. +सन्तोषके स्थानपर लोभ, असन्तुष्टता, तथा तृष्णा। ÷१३.आस्तिक्यके स्थानपर नास्तिक्य और

×श्रु० (मनसश्चेन्द्रियाणांचैकाग्र्यं परमं तपः) मन और इन्द्रियों की परम एकाग्रताको तप कहते हैं अर्थात् विचार-पूर्वक एकाग्र-चित्त होकर अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करना तप कहलाता है। सो तप तीन प्रकारका है— कायिक, वाचिक, मानसिक तथा सात्विक, राजस, और तामस इनका वर्णन पूर्ण-प्रकार इस गीताके १७ वें अध्यायमें कियागया है।

+ जो कुछ प्राप्ति हो उसीमें सन्तुष्ट रहना तथा अधिक लोभके वश पड़कर इधर उधर धावते न फिरना सन्तोष कहाजाता है। "सन्तोषादनुत्तमस्सुखलाभः" सन्तोषसे ऐसा सुख होता है जिससे बढ़कर कोई सुख नहीं है। "सन्तोषामृत तृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्। कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्"॥ अर्थ— सन्तोषके अमृतसे तृप्त शान्त-चित्तवालोंको जो सुख प्राप्त होता है सो सुख भला धनके लोभसे इधर उधर धावनेवालोंको कब मिलसकता है? अर्थात् नहीं मिलसकता।

÷ "अस्ति ईश्वर इति मतिर्यस्य" अर्थात् विना प्रत्यक्ष देखे हुए भी जो ऐसा समझ रहा है, कि इस सृष्टिका स्वामी एक ईश्वर अवश्य है उसीको आस्तिक कहते हैं। ऐसे धर्मका नाम "आस्तिक्य" है। तथा "वेदप्रमाणवादी" जो प्राणी वेदके प्रमाणोंको मानता है वह भी आस्तिक कहाजाता है। इसके प्रतिकूल नास्तिकता फैलनेसे श्रुति, स्मृति, पुराण, देवता, देवी, तीर्थ, व्रत, शिव, विष्णु, प्रतिमा, अवतार, श्राद्ध, तर्पण इत्यादिको कोई नहीं मानता है।

' अनीश्वरवाद ' । १४. + ' दान ' के स्थानपर 'कृपणता ' तथा ' बलाद्दान' (एक कौडी भी दान देनेकी इच्छा न करके बलात्कार

+ (सम्प्रदानत्वापादकद्रव्यत्यागो दानमिति) देव, ब्राह्मण, भिक्षुक, दरिद्र, असमर्थ, अर्थार्थी इत्यादिकोलिये जो अपने द्रव्यका त्याग है, उसे " दान " कहते हैं । " ग्रासादर्धमपि ग्रासमर्थिभ्यः किञ्चदीयते । इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ? ॥ पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनापेक्ष्य प्रयोजनम् । केवलं धर्मबुध्या यद्धर्मदानं प्रचक्ष्यते ॥ गत्वा यद्दीयते दानं तद्दानं सफलं स्मृतम् । सहस्रगुणमाहूय याचिते च तदर्द्धकम ॥ (इति शुद्धितत्वम्)

अर्थ-- जो प्राणी भोजन पर बैठगया हो और केवल एक ही ग्रास-मात्र अन्न उसके आगे हो, पर उस समय दूसरा कोई भूखा आजावे तो अवश्य उस ग्रासमें आधा ग्रास उसको देना चाहिये نیم نان گر خورد مرد خدا بذل درویشان کند نیم دگر (سعدی) जो कोई ऐसा कहे, कि मेरे पास इच्छा-पूर्वक द्रव्य नहीं है इसलिये कैसे दूं ? तो द्रव्य कब किसको इच्छानुकूल होसकता है ? इसलिये जितना अल्प प्राप्त हो उसीसे पात्र देखकर बिना अपने किसी प्रयोजन के केवल धर्म-बुद्धिसे जो दान दिया जाता है उसे धर्म-दान कहते हैं । जो कोई प्राणी पात्रके घर जाकर स्वयं देआवे तो उसके फलकी गणना नहीं होसकती । जो बुलाकर देवे उसका सहस्र-गुण फल है । जो मांगने पर देवे तो उसका फल उससे आधा है । जो फल न चाहे उसे मोक्ष-लाभ होता है । (नित्यनैमित्तिकादि भेदेन तच्चतुर्विधम्)नित्यनैमित्तिकादि भेदसे सो दान चार प्रकारके हैं।

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं दानमुच्यते । चतुर्थं विमलं प्रोक्तं सर्वदानोत्तमोत्तमम । अहन्यहनि यत्किंचिद्दीयतेऽनुपकारिणे । अनुदिश्य फलंतत् स्याद्ब्राह्मणाय च नित्यकम् । यत्तु पापोपशान्त्यर्थं दीयते विदुषां करे ।

[जबरदस्ती] धनछीनलेनेकी इच्छा) । १५. '+ईश्वरपूजन' के

नैमित्तिकं तदुद्दिष्टं दानं सद्भिरनुत्तमम् ॥ अपत्यविजितैश्वर्यं स्वर्गार्थं यत् प्रदीयते। दानन्तत् काम्यमाख्यातमृषिभिर्धर्मचिन्तकैः ॥ यदीश्वरप्रीणनार्थं ब्रह्मवित्सु प्रदीयते । चेतसा धर्मयुक्तेन दानं तद्विमलं शिवम् ॥

(कूर्मपुराणमें देखो)

अर्थ—नित्य, नैमित्तिक और काम्य ये तीन प्रकारके दान तो प्रसिद्ध ही हैं, पर चौथा जो " विमल " नामका दान है सो सब दानोंमें उत्तम कहा-जाता है । अब एक-एकका भिन्न-भिन्न वर्णन करते हैं अर्थात् (अहनि....) प्रति-दिन विना फलकी इच्छासे किसी ऐसे पुरुषको (जिसने कभी किसी प्रकारका अपना उपकार न किया हो) उसे अथवा किसी ब्राह्मणको जो दान दियाजावे उसे " नित्यदान " कहते हैं । जो दान अपने पापोंके नाश करनेके निमित्त विद्वानों के हाथमें दियाजावे उसे " नैमित्तिक " दान कहते हैं। जिस धनके पुत्र पौत्रादि साक्षी न हों उसे स्वर्गकी कामनासे दान देनेको धर्म-चिन्तक ऋषियोंने " काम्यदान " कहा है । जो दान धर्म-युक्त चित्तसे ईश्वरकी प्रसन्नताके निमित्त ब्रह्मवेत्ताओंको दियाजाता है उसे " विमलदान " कहते हैं । ऐसा दान परम मंगल-स्वरूप कहाजाता है । दानोंका विस्तार-पूर्वक वर्णन १७ वें अध्यायमें कियागया है।

" गुरूपदिष्टमार्गेणेश्वर-प्रणिधानम् " श्रीगुरुदेवके उपदेश किये-हुये मार्गसे ईश्वर प्राप्तिके यत्न-निमित्त अपनी-अपनी उपासनाके अनुसार विष्णु, शिव, कृष्णादिके रूपोंकी भिन्न उपचारोंसे सेवा करनी । चाहे वह सेवा मानसिक हो अथवा अर्चादि लेकर हो ।

स्थानपर ईश्वरनिन्दा । १६. + सिद्धान्त-वाक्यश्रवण के स्थानपर ×वितण्डावाद । १७. ÷ ' ह्री ' के स्थान पर ' अव्रीडा ' ' अत्रपा ' अर्थात् निर्लज्जता । १८ ⊛ ' भक्ति ' के स्थान पर ' कुमति ' ।

+ "यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्यहेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः सः सिद्धान्त-वाक्यम् । तस्य श्रवणमिति सिद्धान्तवाक्यश्रवणम् "

अर्थ— जो बड़े-बड़े विद्वानोंने तथा महर्षियोंने नाना प्रकारके शास्त्रों द्वारा तथा अपने विचार और तप द्वारा नाना प्रकारकी परीक्षा करके तथा कारण कार्य्यको भलीभांति अवलोकन करके तिन कारणोंसे कार्य्यको भलीभांति साधन करके जो निर्णय करदिया उसे सिद्धान्तवाक्य कहते हैं । तिन वाक्योंको महर्षियोंके समीप जाकर श्रवण करना " सिद्धान्त-वाक्य-श्रवण " कहा जाता है ।

×" एवमेतन्न चाप्येवं एवञ्चैतन्नचान्यथा " ॥ ऐसे नहीं वैसे, यह नहीं वह ऐसे मिथ्या बकवादको वितण्डावाद कहते हैं ।

÷(ह्री लज्जायाम्) ह्री लज्जाको कहते हैं । प्रत्येक मनुष्यका यह धर्म है, कि किसी कार्य्यके करनेमें लज्जाको न खोवे । जिस कार्य्यसे अपना कुल, जाति, अवस्था वा विद्या नष्ट होती हो ऐसा कार्य्य न करे । क्योंकि इनके नष्ट होनेसे लज्जित होना पड़ता है । लज्जा खोदेनेसे अपने तेजकी हानि होती है—

प्रमा०— " ह्री परिगतः प्रभ्रंश्यते तेजसः " लज्जा मिटजानेसे तेजका नाश होता है ।

⊛ मन और बुद्धिको परमात्मामें निरन्तर लगा रखनेको "भक्ति " कहते हैं । अर्थात् जिस किसी विशेष रीतिसे गुरु-देवने ईश्वर-भजनका मार्ग बतादिया उसी रीतिको पालन करते हुए ईश्वरका भजन करते रहना । " मम तु मति-

१९. ❀'जप'के स्थानमें ईश्वरनामकी विस्मृति फैलजावेगी। २०. ÷ 'हवन'

नै मनागप्येतु धर्मात् " (भामिनीविलास नाम ग्रंथमें देखो) इस धर्मके नष्ट होनेपर " कुमति " रूप अधर्मकी वृद्धि होजावेगी।

❀ " तज्जपस्तदर्थ–भावनम् " (पतंज० स० प० सूत्र २८)

अर्थ— प्रणव अथवा किसी नामके साथ–साथ नामीके स्वरूप, गुण, कीर्त्ति इत्यादिकी भावना करना " जप " कहलाता है । (इस विषयका विस्तार-पूर्वक वर्णन इस अध्यायके नवें श्लोकमें किया गया है)

÷ पंच-महा-यज्ञके वर्णनमें इसे पीछे दिखला आये हैं। नाजप्तः सिध्यते मंत्रो नाहुतश्च फलप्रदः। नानिष्टो यच्छते कामान् तस्मात् त्रितयमर्चयेत्। पूजया लभते पूजां जपात् सीद्धर्न संशयः। विभूतिं चाग्निकार्येण सर्वसिद्धिं च विन्दति।। (नीलतंत्र देखो)

अर्थ— विना जपके मंत्रकी सिद्धि नहीं होती है और विना हवनके उस का कुछ फल भी नहीं होता है तथा विना इष्टके कामनाओंकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये जप, हवन और इष्टदेवकी पूजा. इन तीनों धर्म्मोंका अवश्य आचरण करे। क्योंकि पूजा करते करते मनुष्य स्वयम् पूजाके योग्य होजाता है और जपसे सिद्धि अवश्य होती है इसमें सन्देह नहीं। फिर अग्निकार्य्य अर्थात् हवनसे ऐश्वर्य्यकी प्राप्ति होती है तथा जितनी प्रकारकी सिद्धियां हैं सब हवनसे प्राप्त होती हैं।

तंत्रसार नामक ग्रंथमें तथा आह्निक सूत्रमें वृहद्धोमका प्रयोग पूर्ण-रीतिसे वर्णित है। विस्तारके भयसे यहां नहीं लिखागया। तहां स्मृतिका वचन है, कि अन्यैः शतहुताद्धोमादेकदा स्वहुतो वरम्। शिष्यैः शतहुताद्धोमादेकः पुत्रहुतो वरम्॥ पुत्रैः शतहुताद्धोमादेक आत्महुतो वरम्। तस्मात् सदैव होमन्तु

के स्थानपर 'अग्न्युत्पात'। २१. '※आसन' के स्थानपर 'कोकासन'।

प्रकुर्वीत स्वयं द्विजः॥ अर्थ— दूसरोंसे करायी हुई सौ आहुतियोंसे अपनी एक आहुति भी श्रेष्ठ है। अपने शिष्यकी सौ आहुतियोंसे अपने पुत्रकी एक आहुति श्रेष्ठ है और पुत्रकी सौ आहुतियोंसे अपनी एक आहुति श्रेष्ठ है। फिर कात्यायनका वचन है, कि " यावन्नापैति लौहित्यं तावत्सायन्तु हूयते। प्रातः सूर्य्योदयात्पूर्वम्प्रायश्चित्तमतः परम्॥ अर्थ— सायंकालका हवन तबतक करना चाहिये जब तक सन्ध्या कालकी लाली न प्राप्त हो। इसी प्रकार प्रातःकालका हवन सूर्य्योदयसे पहले ही होना चाहिये। इससे अधिक समय होनेपर हवन करनेसे प्रायश्चित्त होता है। यदि नित्य हवन न होसके तो पौर्णमासी और अमावस्या में तो अवश्य करना चाहिये। मरीचिः— शरीरार्तिर्भवेद्यत्र द्रव्यार्तिर्वा प्रजायते। तथान्यास्वपि चापत्सु पद्माहोमो विधीयते॥ अर्थ— शरीरमें रोग हो अथवा द्रव्यका दुःख हो तथा और दूसरे प्रकारकी आपत्ति आनपड़े तो यह पद्माहोम अवश्य करना चाहिये। (तंत्रसार नामक ग्रंथमें तथा आह्निकसूत्रमें इस हवनका पूर्ण प्रकार वर्णन किया गया है। जिसको हवन सम्पादन करना हो इन पुस्तकोंकी रीति के अनुसार करे) अग्न्युत्पात- अग्निको भडकानेवाले द्रव्योंको मिलाकर पराये की हत्या करनेमें तत्पर होना अग्निष्टोम-रूप धर्मके स्थानपर इसी अग्न्युत्पात नाम अधर्मकी वृद्धि होती है। जैसे दुर्य्योधनने लाक्षा-गृह रचकर कैसा भीषण कार्य्य किया?

" ※स्थिरसुखमासनम् " (पतं० अ० २ सू० ४६) जिन उपायोंसे स्थिरता और सुख हो उसे आसन कहते हैं। सो श्रीशिवभगवान्ने संसारके कल्याण-निमित्त अनेक प्रकारके आसन कहे हैं। बिना आसन पूजा, पाठ, योग, तप इत्यादि कोई क्रिया स्थिरता-पूर्वक नहीं होसकती। इस आसनके ह्रास होने पर " कोकासन " रूप अधर्म की वृद्धि होगी। अर्थात् जिन आसनोंसे ईश्वर-पद-प्राप्ति हो उसे छोड मनुष्य स्त्रीसंभोगके निमित्त कोकासनों का अभ्यास करने लगजावेंगे।

२२. ⊛'प्राणायाम' के स्थान पर ' उर्द्ध्वश्वास ' | २३. +' प्रत्याहार ' के स्थान पर 'इन्द्रियसुख'। २४. ÷ 'धारणा ' के स्थान पर वेश्यादि की मूर्तिपर 'आसक्ति'। २५. ×'ध्यान' के स्थान पर 'अनवधानता'।

⊛ तस्मिन् सति श्वासप्रश्वायोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः "

(पतं० अध्याय २ सूत्र ४८)

अर्थ — आसनके स्थिर होजानेसे श्वासप्रश्वासकी गति विच्छेद करदेनेको प्राणायाम कहते हैं।

+"स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकारइवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" ॥

अर्थ—विषयोंसे चित्तके निवृत्त होनेमें जब चित्त स्थिर होजाता है तिसी अस्थिरताके अनुकार (समानाकार) में जब इन्द्रियां भी स्थिर होजाती हैं अर्थात् चित्तके अधीन होजाती हैं तब उसी अवस्थाको प्रत्यहार कहते हैं।

÷ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (पतं ० अध्या ० ३ सूत्र १)

अर्थ—चित्तको किसी एक देशमें बांधनेका नाम धारणा है। तिसका भाष्य व्यासदेव यों कहते हैं, कि— देशे नाभिचक्रादौ चित्तस्य वन्धो विषयान्तरपरिहारेण यत् स्थिरीकरणं सा चितस्य धारणेत्युच्यते।

अर्थ—विषयोंका संग छोड नाभिचक्र, विशुद्धाख्यचक्र (हृदयपर) इत्यादिपर चित्तको स्थिर करनेका अथवा श्रीराम, कृष्ण इत्यादि अपने इष्टदेव की शृंगारयुक्त मधुर-मूर्तिपर चित्त जमानेका नाम " धारणा " है।

षट्चक्र निरूपणचित्र नाम ग्रन्थमें चक्रोंका विस्तारपूर्वक वर्णन है।

×" तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् " वहां प्रत्ययैकतानताको ध्यान कहते हैं।

" व्यासकृत भाष्य "— तत्र तस्मिन् देशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य या एकतानता विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणामावलम्बनीकृतं तदालम्बत सैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते।

२६ ❀' समाधि ' के स्थानपर महामारी इत्यादि भयंकर रोगोंसे मृत्युकी वृद्धि होने लगती है।

अब योगेश्वर भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे भारत! जब जब इन २६ धर्म्मोंके स्थानपर २६ अधर्मोंका उत्थान होता है तब तब मैं अवतार लेता हूं ॥ ७ ॥

अब भगवान् कहते हैं, कि मैं अन्य किन विशेष अभिप्रायोंसे अवतार लेता हूं सो भी हे अर्जुन! तू सुनले—

मू०—परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

अर्थ—धारणामें जिस लक्ष्यकी ओर चित्त लगाया गया हो अन्य सब विषयोंके आश्रयको छोड उसीमें बुद्धिका एकाग्र होजाना " ध्यान " कहलाता है, अर्थात् अन्तःकरणपर उस जगदीश्वरका नाम, रूप, गुण, लीला इत्यादिका स्वरूप जमजाना ध्यान कहाजाता है। कर्त्तव्याकरणं यत्र समर्थस्य क्वचिद्भवेत् । उच्यते द्वितयं तत्र प्रमादोऽनवधानता ॥ अर्थ— जो प्राणी किसी कार्य्यके करनेमें समर्थ हो पर उससे उस कार्यके करनेमें कुछ अकर्तव्यता होपड़े उसीको प्रमाद और अनवधानता कहते हैं । सो ध्यानके नष्ट होनेसे " अवधानता " का अभ्युत्थान होता है।

❀ " तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः "

अर्थ—ध्यानमें जब ध्येय-मात्रका ही अभ्यास रहे और अपने स्वरूपकी एकदम शून्यता होजावे उसे " समाधि " कहते हैं । व्यासदेव कहते हैं —

पदच्छेदः—साधूनाम् (वेदमार्गस्थानां भक्तानाम्) परित्राणायच, (परिरक्षणाय) दुष्कृताम (दुष्ट-कर्म कुर्वतां पापिनाम्) विनाशाय (वधाय) युगे युगे (कृतत्रेतादियुगे) सम्भवामि (अवतरामि) ॥ ८ ॥

पदार्थः—(साधूनाम्) साधुओंकी (परित्राणायच,) रक्षा करनेके लिये तथा (दुष्कृताम्) पापियोंके (विनाशाय) नाश करनेके लिये (युगे युगे) सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें बार-बार (सम्भवामि) अवतार लेता हूं अर्थात् प्रातिभासिक शरीर से इस संसारमें प्रकट होता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थः—अब श्री हरि पूर्व-श्लोकमें अपने अवतार लेनेका साधारण अभिप्राय कहकर अब विशेष अभिप्रायोंका कथन करते हुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जब मेरे पूर्व-कथनानुसार धर्मोंकी ग्लानिका समय आता है, तब नाना प्रकारके दुष्कर्मी, बंचक, चाण्डाल, राक्षस इत्यादिकी बृद्धि होने लगती है । एक संग अनेक पापात्माओंके जुटजानेसे इनकी बहुत बडी मण्डली बनजाती है और तामसी, राजसी, स्वभाववाले अधिक बढजाते हैं । तामसी समयकी सहायतासे ये बडे बलवान

" सम्यक् आधीयते एकाग्री क्रियते विक्षेपान् परिहृत्य यत्र मनः स समाधिः ॥ " अर्थ— नाना प्रकारके विक्षेपोंको छोडकर जब मन सम्यक् प्रकारसे एकाग्र करलिया जाता है, तो उस अवस्थाको " समाधि " कहते हैं ।

होजाते हैं। जैसे रावण, कुम्भकरण, हिरण्यकश्यप, हिरण्याक्ष, कंस इत्यादि। ये अधिक बलवान् होकर धर्म नष्ट करनेके तात्पर्य्यसे धर्म-मार्गपर चलनेवाले तथा वेदोक्त--कर्मोंके करनेवाले साधुओंको कष्ट देना आरम्भ कर देते हैं। जब इनके अत्याचारसे साधुजन तथा मेरे परम प्रिय भक्त अधिक कष्ट पाते हैं तब [**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय**] साधु और भक्तोंकी रक्षा करनेके लिये और पापात्माओंके नाश करनेके लिये और इन भक्तोंकी रक्षा तथा दुष्टोंके नाश करनेसे धर्मकी स्थापना करनेके लिये [**संभवामि युगे युगे**] मैं बारम्बार सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इत्यादि युगोंमें अवतार लेता रहता हूं। क्योंकि धर्महीके संस्थापनसे जगत्की स्थिति बनी रहती है नहीं तो जगत्की मर्य्यादामें न्यूनता होनेसे तिस जगत्में नाना प्रकारकी असंगति होपडती है। जगत्के नष्ट होनेका भय होता है। इसलिये तिसकी रक्षा-निमित्त दुष्टोंका नाश और धर्मात्माओंकी रक्षाकी आवश्यकता है।

जैसे कृत-युगमें जब राक्षसोंने वेदको समुद्रमें डाल दिया तब उसे समुद्रसे निकाल लानेके तात्पर्य्यसे मैंने मीन--अवतार धारण किया। क्योंकि मीनसे अतिरिक्त किसी अन्य शरीरको इतने गम्भीर जलमें डूबने तथा किसी डूबेहुए पदार्थके निकाल लानेकी शक्ति नहीं होसकती।

शंका—जलमें "वेदका" ग्रंथ गल क्यों नहीं गया?

समाधान—पहले सत्युगमें ग्रंथ इत्यादि लेखनी और मसिसे साधारणपत्रपर नहीं लिखे जाते थे। तालपत्रपर सुइयोंसे खोदकर

अक्षर बनाये जाते थे। सो तालपत्र जलमें शीघ्र गल नहीं सक्ता और सुइयोंके खुदेहुए अक्षर भी नहीं नाश होसक्ते। इसी प्रकार वेदका ग्रंथ भी जो तालपत्र पर खोदा हुआ था नष्ट नहीं हुआ। वेदके जलमें पडतेही झट भगवान्‌ने मत्स्यरूपसे प्रकट हो अपने मुंहसे पकड निकाल लिया। भगवान्‌के दश अवतारोंमें यह प्रथम अवतार सत्ययुगमें हुआ था।

अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसः।
हत्वाऽसुरं हयग्रीवं वेदान्प्रत्याहरद्धरिः॥
(श्रीमद्भा० स्क० ८ अध्या० २४ श्लो० ५७)

अर्थ— प्रथम प्रलयके अन्तमें श्री हरिने हयग्रीव नाम राक्षसको मारकर वेदोंको उससे लेकर निद्रासे जगते हुए ब्रह्माजीको दिया।

तथा= प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतम्प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद्यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिल हेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि॥
(श्रीमद्भाग० स्कं० ८ अध्या० २४ श्लो० ६७)

अर्थ—प्रलयके जलमें सृष्टिरचनेवाली शक्तिके साथ सोये हुए ब्रह्माजीके वेदोंको मुखसे छीनलेगये हुए हयग्रीव नाम राक्षसको मारकर फिर ब्रह्माजीको वेद लाकर दिया तथा सत्यव्रतादि ऋषियोंको ब्रह्मतत्त्व उपदेश किया तिस अखिल ब्रह्माण्डके कारण श्री हरिके मायामय मीनअवतारको नमता हूं।

यहां जिह्ममीन कहनेसे यही तात्पर्य्य है, कि भगवान् सच मुच प्राकृत मछलियोंके समान मछली नहीं बने वरु जिह्म कहिये कप-टरूप अर्थात् मायारूप मत्स्य बनगये। इसी प्रकार जब-जब जिस-जिस युग में धर्मकी रक्षा निमित्त जिन-जिन रूपोंकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकारके माया-रचित रूपोंको भगवान् रचलेते हैं। अष्टादश पुराणोंमें सब अवतारोंका विस्तार-पूर्वक वर्णन कियागया है।

प्रश्न—श्री हरिने जो अर्जुनके प्रति १. "साधूनाम्परित्राणाय, २. दुष्कृताम् विनाशाय ३. धर्मसंस्थापनार्थाय अर्थात् साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना ये तीन प्रयोजन अपने अवतार लेनेके बताये सो इन सबोंका एकही अवतारमें सम्पादन करजाते हैं अथवा इनके लिये विलग-विलग "अवतार" धारण करते हैं?

उत्तर—कदाचिदेकस्मै कदाचिद् द्वाभ्याम् कदाचित्सर्वस्मै प्रयोजनाय भगवदवतरणमिति ध्येयम्॥ (अभिनवगुप्ताचार्य्य)

अर्थ— किसी अवतारसे एक ही कार्य्य, किसीसे दो कार्य्य, और किसीसे तीनों कार्य्य सम्पादन होते हैं। जैसे मत्स्य, वामन, व्यास, सनत्कुमारादि जो अवतार हैं केवल धर्मके स्थापन करनेके लिये हैं। हरि, नृसिंह इत्यादि जो अवतार हैं ये दुष्टोंके नाश, साधु तथा भक्तों की रक्षा निमित्त हैं। और यह जो कृष्ण अवतार है सो तीनों अर्थों के सम्पादनके निमित्त है। जैसे इसी गीताके उपदेशसे धर्मका संस्था-पन करना। युधिष्ठिरादिकी रक्षासे साधुओंका पालन करना। और कंसादिके नाशसे दुष्टोंका संहार करना। इन तीनों प्रयोजनोंकी साधना

सिद्ध होती है। ऐसे ही अन्य सब अवतारोंको इन ही तीन प्रयोजनों की सिद्धि निमित्त जानना।

शंका—भगवान्‌के तो सब उपजाये हुए हैं। उनको तो किसीसे रागद्वेष नहीं है। फिर दुष्टोंका नाश और साधुओंकी रक्षा करते हैं ऐसा पक्षपात क्यों ?

समाधान—भगवान् अवतार लेकर दुष्टोंकी दुष्कृतिका नाश कर उन्हें भी मोक्ष ही प्रदान करते हैं। इसलिये उनका नाश करना संसारी जीवोंको उपदेश मात्र है। ऐसे नाशको नाशकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये। यहां पक्षपात तब होता, जब साधुओंको स्वर्ग और दुष्टोंको नाशकर नरक भेजा करते। ऐसा न करके दुष्ट पापियोंको भी अपने स्वरूपमें मिला लेते हैं। फिर पक्षपात कैसा ?

शंका—यदि ऐसा है, तो अन्याय क्यों नहीं कहेंगे ? पापात्मा और पुण्यात्माको समान सुख देना महा अन्याय है।

समाधान—तुमने यथार्थ मर्मको नहीं समझा है। इस कारण "अन्याय" कहते हो। देखो ! न्याय तो यही है, कि पापात्मा नरक और पुण्यात्मा स्वर्ग जाया करे। यही नियम सृष्टिके आरम्भसे प्रलय-काल पर्य्यन्त एक रस बना रहता है। इसके प्रतिकूल कभी नहीं होता पर यह भी तो न्यायही है; कि शीतकालमें ठण्डकसे थरथराता हुआ पापात्मा वा पुण्यात्मा कोई भी अग्निके समीप जावे, तो अग्निदेव द्वारा एक समान सुख पाता है। शीतल गंगाजल तृषाके समय पापात्मा और पुण्यात्माको समान आनन्द प्रदान करता है। सूर्य्यदेव पापात्मा और पुण्यात्माके घरको एक समान अपने प्रकाशसे प्रकाशित करते हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है कि समदर्शी होना महापुरुषोंका स्वाभाविक धर्म है। इसी प्रकार भगवान् जो समदर्शी कहलाते हैं सम्मुख आये हुए पापात्मा और पुण्यात्माको समान सुख प्रदान करते हैं। यह पक्षपात नहीं है! महान् पुरुषके सम्मुख होनेसे उनकी कृपाका अथाह और असीम प्रभाव है जो पक्षपात छोड समान सुख प्रदान करता है। इसी प्रकार यह भी भगवान्के सम्मुखहोनेका प्रभाव है कि पापात्माओं-को मुक्त करदेता है।

चौपाई—सन्मुख होय जीव मोहिं जबहीं।
कोटि जन्म अघ नाशौं तबहीं॥ (तुलसी)

साधारण महाराजाधिराज भी अपने कारागारमें जाकर सम्मुख आये हुए बहुतेरे बन्दीजनों (कैदियों)को छोडदेते हैं। जब साधारण महान्पुरुषोंकी कृपाका ऐसा प्रभाव है तो संपूर्ण जगतका महाराजाधि-राज जब इस संसार-रूप कारागारको देखने आता है तो अपने सम्मुख आये हुए घोर पापियोंको इस कारागारसे मुक्त क्यों नहीं करेगा? अवश्य करेगा! शंका मत करो! यदि शंका हो, कि कारागारमें जितने बंधुआ (कैदी) हैं सभी तो सम्मुख होते हैं फिर महाराधिराज इत्यादि सबोंको मुक्त क्यों नहीं करदेते? सो जाने रहो, कि साधारण महाराजाधिराजमें यह शक्ति हो वा न हो पर उस जगत्स्वामी जगदाधार महाराजाधिराज में तो यही विशेषता है, कि अपने सब सम्मुख आयेहुएको छोडदेते हैं। इसलिये राम, कृष्णादि अवतारोंके सम्मुख जो आता गया मुक्त होतागया। शंका मत करो॥ ८॥

अब श्रीगोविन्द अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि इन मेरे अवतारोंके यथार्थरूपको जाननेवालोंकी क्या गति होती है—

मू०—जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

पदच्छेदः—अर्जुन ! (हे पार्थ !) यः (पुरुषः) मे (मम) दिव्यम् (अप्राकृतम्) जन्म (उत्पत्तिम्) कर्म (जगत् परिपालनम्) च (तथा) एवम् (यथोक्तम्) तत्त्वतः (भ्रमनिवर्त्तनेन यथावत्) वेत्ति (जानाति) सः (पुरुषः) देहम् (शरीरम्) त्यक्त्वा (विहाय) पुनः, जन्म (उत्पत्तिम्) न (नहि) एति (प्राप्नोति) [किन्तु] माम (भगवन्तं । सच्चिदानन्दघनम) एति (आगच्छति । प्राप्नोति) ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अर्जुन !) हे अर्जुन ! (यः) जो प्राणी (मे) मेरे (दिव्यम्) अलौकिक (जन्म) जन्म (च) और (कर्म) कर्म को (एवम्) इस प्रकार जैसा, कि मैं पूर्व कथनकर आया हूं (तत्त्वतः) ठीक ठीक यथार्थरूपसे (वेत्ति) जानता है (सः) सो प्राणी (देहम्) अपने शरीरको (त्यक्त्वा) छोडकर अर्थात् मृत्युके पश्चात् (पुनः) फिर (जन्म) जन्मको (न) नहीं (एति) पाता है वरु (माम्) मुझ सच्चिदानन्दघनको (एति) प्राप्त होता है; अर्थात् मेरे स्वरूपमें आ मिलता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—सदासे इस संसारका नियम ऐसा ही चला आता है, कि गुणोंके विभागके कारण सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के मस्तिष्कोंकी बनावट होती है। इन मस्तिष्कोंमें जो सात्विक-मस्तिष्क वाले हैं वे तो ब्रह्मके निराकार और साकार दोनों रूपोंको भली भांति समझते हैं।

श्रु०—"ॐ द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च मर्त्यञ्चामृतञ्च स्थितं च यच्च सच्च त्यञ्च" (बृहदा० अ० २ ब्राह्म० ३ श्रुति १)

अर्थ—उस ब्रह्मके दो रूप हैं, एक मूर्तिमान् दूसरा अमूर्तिमान इत्यादि। जो विद्वान् हैं, जो गुरु द्वारा उत्तम शिक्षा पाकर श्रुतियोंका मर्म यथार्थरूपसे जानते हैं, वे तो साकार और निराकार दोनोंको मानते हैं। पर जो विद्वान् नहीं हैं, मार्ग चलते किसीके मुखसे सुनलिया है, कि ब्रह्म निराकार है, वे दिनरात निराकार-निराकार बका करते हैं। ऐसोंका बकना कैसा है, जैसे फाल्गुनमासकी होलिकाके उत्सवमें बड़े पुरुषोंको गाली देते हुए सुन छोटे छोटे बालक जिन्हें स्त्री-सुखका कुछ भी अनुभव नहीं है, गालियां बका करते हैं। इनसे गालियोंका अर्थ पूछा जावे, तो कुछ नहीं कह सकते। इसी प्रकार इस कलियुगके निराकार वादियोंको अथवा राजस औ तामस प्रकृतिवालोंको निराकार ब्रह्मके आनन्दका तो कुछ अनुभव ही नहीं है, पर निरर्थक हल्ला मचाया करते हैं। जो कोई साकारका स्नेही होता है उसे ये छोरे छापरे पागल और मूर्ख समझते हैं। कैसी उलटी बात है? सौ नकटे मिलकर नाकवाले ही की हंसी उड़ा रहे हैं। ऐसे प्राणियोंकी शिक्षा-निमित्त

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति अपने साकार विभवके जानने वालोंकी गति वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः**] हे अर्जुन ! जैसा, कि मैं तुझसे पहले कहचुका हूं, ऐसे जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मको ठीक-ठीक जानता है, उसकी क्या गति होती है ? सो सुन ! भगवानके कहने का अभिप्राय यह है, कि जैसे साधारण मनुष्योंका जन्म रज और वीर्य्यके मेलसे होता है और वह नौ या दश मास पर्य्यन्त गर्भमें क्लेशोंको सहता रहता है, फिर अपान-वायुकी प्रेरणा द्वारा गर्भसे निकल पाप-पुण्यकी बेडियोंसे बंधा हुआ संसारके कारागारमें पडता है, और कर्मोंके अनुसार दुःख सुख भोगता हुआ मृत्युके मुखमें जाता है। इस प्रकारका लौकिक—जन्म मेरा नहीं है। पांच भूतोंके मेलसे यह मेरा शरीर नहीं है। मल, मूत्र, कफ और पित्तका भण्डार मेरा शरीर नहीं है। मेरा शरीर दिव्य है।

शंका—राम, कृष्णादि अवतारोंके शरीर तो हमारे तुह्मारे शरीरोंके समान पांच—भौतिक देखेजाते हैं। इनको भगवान् दिव्य क्यों कहते हैं ?

समाधान—जैसे कोई ऐन्द्रजालिक (Magician) अपने कौतुकको कलासे भिन्न प्रकारकी ज्योतिकी पुतलियां बना कर नचाता है और उन पुतलियोंसे अनेक प्रकारके कार्य्य लेता है। वे पुतलियां बाजीगरकी कलाओं द्वारा हंसती हैं, रोती हैं, नाचती हैं, और गाती हैं। इसी प्रकार भगवान् अपनी माहेश्वरी-मायाकी कलासे ज्योतिर्मय

शरीर धारण कर हँसना, खेलना इत्यादि सर्व प्रकारके शारीरिक व्यवहारोंको संसारी जीवोंके सामने कर दिखलाता है। पर जो मूर्ख हैं, जिनको तत्त्वोंका बोध नहीं है, और सृष्टिके अलौकिक नियमोंको नहीं जानते हैं वे भगवान् के शरीरको साधारण मनुष्योंके समान पांचभौतिक देह-वाला समझते हैं। जबतक प्राणी कुछ दिन महानुभावोंका संग न करे और उनकी कृपा-दृष्टि उसपर न हो तबतक भगवान्की साकार विभूतिका अनुभव हो ही नहीं सकता। सुनो! मैं साकारके विषे तुम्हें समझा कर कहता हूं।

साकार ब्रह्मके विषे वेद कहता है, कि " **सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्** " वह परम पुरुष सहस्रों शिरवाला है, सहस्रों नेत्रवाला है और सहस्रों पांववाला है। अर्थात् इस ब्रह्माण्डमें जितने भिन्न-भिन्न प्रकारके मस्तक हैं सब उसी एकसे आये हैं। जितने नेत्र हैं सब उसी एक नेत्रके बिम्ब हैं। जितने पांव हैं सब उसी एक पांवसे उत्पन्न हैं। इसलिये यह सिद्धान्त होता है, कि उस ब्रह्मका कहीं एक शिर, एक नेत्र, एक पांव तो अवश्य ही है। भगवान्ने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि "**एकोऽहं बहुस्याम**" एक मैं हूं बहुत होजाऊं। इसी कारण एक शिर, एक नेत्र, एक पांवका पता तो अवश्य लगता है। यदि ऐसा न होता तो स्वयं निज मुखार-बिन्दसे भगवान् ऐसा कहते, कि " **शून्योऽहम्बहुस्याम** " मैं शून्य हूँ बहुत होजाऊँ। पर ऐसा न कहकर एक कहा। इससे एक साकाररूपका होना तो अवश्य सिद्ध होता ही है। सभी जानते हैं, कि कारणमें जो वस्तु नहीं होती वह कार्य्यमें भी नहीं होती है। इसलिये जगत्का

मूलकारण जो ब्रह्म वह साकार नहीं होता तो उसके कार्य्यरूप सृष्टिमें ये सुन्दर सुन्दर चित्तके मोहनेवाले आकार कहांसे आते जो नारद, विश्वामित्र, पाराशर इत्यादि माहानुभावोंको भी मोहित कर डालते हैं। उस ब्रह्मदेवमें यदि आकार न होता तो यह विराट्-मूर्त्ति कहांसे आती " विराडजायत " वेद क्यों कहता ? ये पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, गन्धर्व, सूर्य्य और चन्द्र कहांसे होते ? इसलिये सिद्ध होता है, कि ये सब आकार उस ब्रह्मदेवमें ही स्थित हैं। दूसरी बात यह है, कि जब यह प्राणी किसी सुन्दरस्वरूप की ओर देखता है तब मोहित हो एक टक लगा उसी ओर देखने लगजाता है। तहां विचारने योग्य है, कि वह कौनसा पदार्थ है ? जो एवम् प्रकार चित्तको अपनी ओर खींच लेता है। यही कहना होगा, कि यह केवल उस मनमोहनकी मोहिनी-मूर्त्तिकी कलाका एक अत्यन्त छोटा अंश है जिसका बिम्ब पंचभूतोंपर प्रतिबिम्बित होरहा है। जैसे दर्पण में अपनी मूर्ति भासती है अथवा आलोक—यंत्र (Photographic Plate) के भीतर अपना मुख ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित होजाता है। उसीप्रकार माया रचित पांचभौतिक दर्पणमें स्वयं उस मनमोहन जगत् सुन्दरकी मोहिनीमूर्त्तिका बिम्ब पडता है। इसलिये वह तेज बाहर छिटकता है। जैसे सात तह वस्त्रके भीतर किसी ज्योतिको बन्द करदो तो उसका प्रकाश सातों तहोंको वेधकर बाहर छिटकता ही है और परम सुहावना दीखने लगजाता है। इसी प्रकार रोम, चर्म इत्यादि सात धातु वाले शरीरके सातों तहोंको वेधकर ब्रह्मदेवके साकार तेजका प्रकाश बाहर देखनेमें आता है। यहां तक, कि जिधर देखो उधर साकार ही

साकार देख पडता है । नीचे दृष्टि कर देखो तो पृथ्वी साकार । ऊपर देखो तो सूर्य्य साकार । चन्द्र साकार । तारागण साकार । दायें बायें देखो तो चार खानि और चौरासी लक्ष योनीयां सब साकार । पर्वत साकार । नदी नद साकार । स्थावर जंगम साकार । हम और तुम साकार । इन्द्र, वरुण, कुबेर, ब्रह्म, विष्णु, महेश, सुरेश, और गणेश सब साकार । चौबीसों अवतार साकार । बिना साकार संसारका कोई व्यवहार ही नहीं चलसकता । इसी कारण वेद साकार विभूतियोंको नमस्कार करता है । मन्त्रः— " ॐ नमः दुन्दुभ्याय च पथ्याय च नीप्याय च **सरस्याय च नादेयाय च नमः कूप्याय च वट्याय च नमो वीध्रयाय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चाऽवर्ष्याय च** "(शुक्ल यजु० अध्याय १६ मन्त्र ३५. ३७. ३८). अर्थात् दुन्दुभी (नगारा) केलिये, पथकेलिये, वृक्षोंकेलिये, सरोवरों केलिये, नदियोंकेलिये, कूपके जलकेलिये (अवट) खड्डोंके जलके लिये, (वीध्र) निर्म्मल आकाशकेलिये (आतप) धूपकेलिये. मेघके जलकेलिये. विद्युत्केलियें, वर्षाके जलकेलिये तथा (अवर्ष्याय) नहीं वर्षे हुए जलकेलिये अर्थात् सागरोंके जलकेलिये मेरा नमस्कार है ।

सच्ची बात तो यह है, कि निराकारके आनन्दका केवल अनुभवमात्र होता है, पर उससे किसीव्यवहारका साधन तीन कालमें भी नहीं होसकता । बिना साकार कोई कार्य्य ही सिद्ध नहीं होसकता । जैसे किसी सलाईको उसके भीतरकी निराकार आगसे सैकडों बरस प्रार्थना करते रहजाइये, कि निराकार आग मेरी रोटी पकादे ! तो वह निराकार आग तुम्हारी रोटी पकानेको कभी भी समर्थ नहीं होसकती, जब तक घिस कर उसे साकार

आग न करली जावे । इसी कारण भगवान् भक्तोंके व्यवहार पूर्ण करनेके तथा धर्म संस्थापन करनेके लिये अपना दिव्य स्वरूप धारण कर साकार बन जाते हैं । जैसे दर्पणमें प्रातिभासिक स्वरूप भासता है जो देखने-मात्र है, पर उसमें रत्तीमात्र भी रुधिर वा मांस नहीं है, इसी प्रकार श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका शरीर प्रातिभासिक है, मायाके दर्पणमें माहेश्वरी कला द्वारा देखपडता है । उसमें रुधिर मांस नहीं है । यदि हमारे तुम्हारे शरीरके समान एक विशेष पांचभौतिक-मूर्ति होती तो नारद ऐसे महात्माको द्वारकामें एक ही कृष्णकी *मूर्ति १६१०८ होकर नहीं देखपडती । इन्हीं वार्त्ताओंसे सिद्ध होता है, कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर दिव्य है ।

टि०— * क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥

अश्वैर्गजै रथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।
क्वचिच्छयानं पर्यंके स्तूयमानञ्च वन्दिभिः ॥

मन्त्रयन्तञ्च कस्मिंश्चिन्मंत्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्यावलावृतम् ॥

कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलंकृताः ।
इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मंगलानि च ॥

हसन्तं हास्यकथया कदाचित्प्रियया गृहे ।
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मेरे जन्म कर्म दिव्य हैं। जब जन्म दिव्य हुआ तो कर्म भी अवश्य दिव्य ही होगा। क्योंकि जब साधारण जीवोंमें दैवीसम्पदावालोंके जन्म कर्म दिव्य

(श्रीमद्भा० स्क० १० अ० ६६ श्लो० २५, २६, २७, २८, २६,)

अर्थ— नारदने १६१०८ रानियोंके घरमें कृष्णको १६१०८ रूपसे एक ही समय लीला करतेहुए देखा। किन-किन रूपोंसे लीला करतेहुए देखा? सो शुकदेवजी राजा परीक्षितसे कहते हैं,-(क्वापिसन्ध्या०) कहीं सन्ध्या करनेको बैठेहुए, कहीं मौन होकर गायत्री मंत्र जपतेहुए, कहीं हाथोंमें ढाल तलवार लेकर तलवार चलानेकी रीति दिखलाते हुए, कहीं घोडे, कहीं हाथी, कहीं रथोंपर बैठकर विचरते हुए, कहीं पलंग पर शयन किये हुए, कहीं सूत मागध इत्यादिकोंसे स्तुति कियेजाते हुए, कहीं उद्धवादि मंत्रियोंके साथ प्रजाके कल्याणके विषय सम्मति करतेहुऐ, कहीं वारांगनाओंसे घिरेहुए जलक्रीडा करतेहुए, कहीं ब्राह्मणोंके लिये गौओंका दान करतेहुए, कहीं इतिहास पुराणादि मंगलमय बचनोंकोसुनते हुए, हसन्तम्०— किसी-किसी घरमें स्त्रीके साथ हंसी ठठ्ठेकी बात कहकर ठहाका लगाते हुए, कहीं धर्मका तथा कहीं अर्थका और कामका सेवन करते हुए देखा।

इसी प्रकार १६१०८ रानियोंके घरमें १६१०८ रूपसे भगवान्को देखकर नारद विस्मयको प्राप्त हुए। इस भागवत की कथासे सिद्ध होता है, कि भगवान् श्री कृष्णका शरीर पांचभौतिक नहीं था माति-भासिक था। इतना कहने परभी शंका करने वालेकी शंकाकी निवृत्ति दुर्लभ है। वितंडावाद मिश्रित शंकाके समाधान करनेमें ब्रह्मादि देवभी असमर्थ हैं तहां साधारण विद्वानों की क्या चल सकती है। इसलिये उस जगत्गुरु महेश्वरसे यही प्रार्थना करते रहना चाहिये, कि ऐसी शंका करने वालोंके मस्तिष्कसे मान विक्षेप और आवरणको दूरकर शुद्ध कर देवे जिससे उनको भगवत्के साकार और निराकार दोनों मूर्त्तियोंका पूर्ण बोध होजावे।

होते हैं, तो साक्षात् उस महा प्रभुके जन्म कर्म क्यों नहीं दिव्य होवेंगे? दिव्य जन्म होनेसे उनके दिव्य कर्म क्या हैं? सो सुनो! साधु, महात्मा तथा भक्तोंकी रक्षा, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका उपकार, देवताओंके दुःख की निवृत्ति, धर्मका संस्थापन तथा दुष्टोंका संहार।

शंका—सब कर्म तो उनके दिव्य हैं, पर दुष्टोंको जानसे मारडालना तो दिव्य नहीं होसकता? यह तो हिंसा है और मलीन कर्म है!

समाधान— साधारण मनुष्योंकेलिये ऐसा करना पाप-कर्म है, पर वह महा प्रभु धर्म-संस्थापन करनेके तात्पर्यसे जिसे मारता है उसे इस अपवित्र पांच-भौतिक शरीरसे छुडा दिव्यरूप प्रदान करता है। अथवा अपने स्वरूपमें मिलालेता है। जैसे हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, रावण, कुम्भकरण, शिशुपालादिकोंको मारकर अन्तमें अपना स्वरूप प्रदान किया। यदि कोई किसीके एक हाथसे काच छीन दूसरे हाथमें हीरा देदेवे तो उसे काच छीननेका दोष नहीं लगेगा। इसी कारण भगवत्के जन्म कर्म दोनों दिव्य हैं।

शंका— यदि भगवान् दुष्टोंको संहार करके दिव्य-स्वरूप तथा मुक्ति प्रदान कियाकरते हैं तो क्या अच्छी बात है, कि हम लोग भी सदा दुष्ट ही कर्म क्यों न करें?

समाधान— मुझे हँसी आती है तुम्हारी ऐसी पोच शंका पर। तुमने यथार्थ मर्मको तो समझा नहीं। थोडी विचारकी दृष्टिसे देखो तब तुम्हारी समझमें यह बात आवेगी, कि जो लोग बहुत बडे पराक्रमी हुए हैं

जिनकी दुष्टतासे सृष्टिमात्र कम्पायमान होरही थी। इन्द्र, वरुण तथा कुबेर थर्रा रहे थे। जिनके नाश करनेको देवगणभी समर्थ नहीं थे तब ऐसेके नाश करनेके लिये भगवान अवतार लेकर उनके सम्मुख हुए, और जब सम्मुख हुए तो उनका उद्धार करदिया। सो तुमको भी पहले कहचुका हूँ। यदि तुम भी ऐसे पराक्रमी होजाओ तो दुष्ट-कर्मोंसे तुम्हारा उद्धार क्यों न होगा? जब भगवान तुम्हारे सामने आजावें तबतो तुम्हारा भी बेडा पार है। पर मैं जानता हूं, कि तुम एक मक्खीकी मंडलीको भी नाश नहीं कर सकते। यदि किसी मनुष्यका घात करो तो फांसी पडो पर अपनी फांसीका बल्ला भी तुमसे टूट नहीं सकता। फिर तुम्हारे दुष्ट कर्म ही क्या होसकते हैं? जो कुछ करोगे अपने आप भोगोगे।

दूसरी बात यह है, कि भक्तिके दो भेद हैं- १. विहित। २. अविहित। इसलिये जैसे विहित भक्तिवाले जब अपनी भक्तिकी उच्च-श्रेणीतक पहुंचते हैं तब भगवान् उनके सम्मुख हो उनका उद्धार करता है। इसी प्रकार अविहित भक्तिवाले भी जब अपनी उच्च-श्रेणीपर पहुंचजाते हैं तब भगवान् अवतार ले उनके भी सम्मुख हो उनका उद्धार करता है। जैसे रावणादि उच्च--श्रेणीपर पहुंचगये थे तब भगवान्‌ने उनको अपने सम्मुखकर गति देदी। तुमसे दोनोंमें एक भी बनना कठिन है। शंका मत करो! इतना स्मरण रक्खो, कि भगवत्‌के सम्मुखजानेवालोंकी अवश्य शुभगति होगी।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि साकार-ब्रह्म अपने दिव्य जन्म कर्मसे संसारका कल्याण ही करता है। इसी कारण श्री गोलोकविहारी

जगत्-हितकारी अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो बुद्धिमान् मेरे इस प्रकारके दिव्य जन्म और कर्मोंको ठीक-ठीक यथावत् अपने अनुभव द्वारा तथा शास्त्र और गुरु द्वारा अथवा अन्य किसी उपायसे जानता है सो मेरा परम प्रिय भक्त [**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन !**] अपने शरीरको छोडकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता अर्थात् चौरासी लक्ष योनियोंके चक्रमें न पडकर केवल मेरेको प्राप्त होता है ? अर्थात् दो प्रकारकी मुक्तियोंमें किसी एक मुक्तिको लाभ करता है। "❀**मुक्तिस्तु द्विविधा साध्वि श्रुत्युक्त्वा सर्वसम्मतिः। निर्वाणपददात्री च हरिभक्तिप्रदा नृणाम्॥**" (ब्रह्मवैवर्तप्रकृतिखण्डे अ० २२ में देखो।) अर्थ— मुक्ति दो प्रकारकी है— १. **निर्वाण-पददात्री** और २. **हरिभक्तिप्रदा** । श्रीमद्भागवतमें भी पांच प्रकारकी लिखी है— **सार्ष्टि सारूप्य सालोक्य सामीप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥**

१. अर्थ— भगवत्के सर्व गुण जिसमें होवें उसे "**सार्ष्ट्य मुक्ति**" कहते हैं। यह मुक्ति जीते-जीते लाभ होती है। इसे '**जीवन्मुक्ति**' भी कहते हैं।

२. **सारूप्य**= भगवत्का स्वरूप ध्यान करता हुआ कीट भृंगीवन्न्यायसे जो भगवत् स्वरूप धारण कर अर्थात् मुकुट, कुण्डल, पीताम्बर इत्यादि धारण किये शरीर छोडता है उसे '**सारूप्य-मुक्ति**'

❀ टिप्पणी— मुक्ति दो प्रकारकी है। निर्वाण पद दात्री और हरिभक्तिप्रदा। विशेषकर निराकार उपासना वालोंको "निर्वाण पददात्री" और साकार उपासना वालोंको हरिभक्तप्रदा मुक्ति प्राप्त होती है।

कहते हैं ।

३. सारूप्य होकर जो अपने इष्टदेवके लोकमें निवास करता है उसे " सालोक्य-मुक्ति " कहते हैं । जैसे रामरूपका ध्यान करनेवाला रामरूप होकर साकेत लोकमें, शिव-स्वरूपका ध्यान करनेवाला शिव-रूप धारण कियेहुए शिवलोकमें और विष्णु-रूपका ध्यान करनेवाला विष्णुरूप धारण किये हुए विष्णुलोकमें निवास करता है । उसीको सालोक्य मुक्ति कहते हैं ।

४. सामीप्य— एवम् प्रकार अपने इष्टदेवके लोकमें सखाओंके संग कुछ दिन विहार करता हुआ जो इष्टदेवके समीप आपहुंचता है उस दशाको ' सामीप्यमुक्ति ' कहते हैं ।

५. एकत्व (सायुज्य) भक्तकी भगवत्में मिलजानेवाली अवस्थाको ' सायुज्य-मुक्ति ' कहते हैं, इसीको " निर्वाण " तथा कैवल्य परमपद भी कहते हैं ।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! मेरे दिव्य जन्म-कर्मको यथार्थ रूपसे जाननेवाला संसार-चक्रमें न पडकर मेरेमें आमिलता है । इस श्लोकमें जो भगवान्ने कहा, कि " यो वेत्ति तत्वतः " जो मेरा भक्त मुझको ' तत्त्वतः ' जानता है सो इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि मुझको बसुदेवका पुत्र जानकर उग्रसेनका अधिकारी समझता है अथवा द्वारकाधीश समझता है । वरु ' तत्त्वतः ' कहनेका यह अभिप्राय है, कि यद्यपि भगवान्का शरीर देखनेमें तो हम मनुष्योंके समान ही है, पर यथार्थमें ऐसा नहीं है । भगवान्का शरीर (जैसा कि पहले कहआये हैं देखो पृ० ८२६) प्रातिभासिक है । अर्थात्

मनुष्योंका दर्पणवाला शरीर जैसे प्रातिभासिक होता है अर्थात् यथार्थमें न उसमें रत्तीमात्र मांस रहता है और न रुधिर रहता है। इसी प्रकार भगवान्का शरीर देखनेमात्र है। इसलिये जो भगवान्को तत्त्वतः जानते हैं वे उसके शरीरको कैसा मानते हैं सो सुनो!—

"ॐ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।" (यजु० अ० ४० मं० ८) अर्थ— भगवान्का शरीर "अकायम्" (काया-रहित) है। "अव्रणम्" (फोडा फुन्सी वाला नहीं) है; "अस्नाविरम्" (नाडी वा सिराओं वाला) नहीं है, पर शुद्ध निर्मल ज्योतिर्मय है और किसी प्रकारके पापसे विधाहुआ नहीं है; अर्थात् पांचभौतिक नहीं है। जो भक्त आपके शरीरको नेत्रोंसे प्रत्यक्ष देखता हुआ इस प्रकार 'प्रातिभासिक' जानता है वही 'तत्त्वतः' जाननेवाला है। इसी कारण भगवान् कहरहे हैं, कि हे अर्जुन! जो मेरे शरीरको (तत्त्वतः) जानता है वह संसार-बन्धनसे छूट मुझको प्राप्त होता है॥ ९॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! केवल आपके साकार-स्वरूपके दिव्य जन्म-कर्मके जाननेवाले ही को ये मुक्तियां लाभ होती हैं? अथवा अन्य किसी प्रकारके मनुष्योंको भी लाभ होती हैं? सो कृपाकर कहो!

इतना सुन श्यामसुन्दर बोले हे अर्जुन ! सुन—

मू०—वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

पदच्छेदः— वीतरागभयक्रोधाः (रागश्च भयंच क्रोधश्च वीता विवेकेन विगता येभ्यस्ते शुद्ध-सत्वाः) मन्मयाः (मदेकचित्ताः । ईश्वराभेददर्शिनो वा) माम् (ईश्वरम्) उपाश्रिताः (शरणागताः) ज्ञानतपसा पूताः (ज्ञानमेव तपः तेन परांशुद्धिंगताः) बहवः (असंख्याः) मद्भावम् (मोक्षम् । मद्रूपत्वम् सायुज्यं वा) आगताः (समनुप्राप्ताः) ॥ १० ॥

पदार्थः—श्री भगवान् कहते हैं, कि (**वीतरागभयक्रोधाः**) जिन प्राणियोंके हृदयसे राग, भय और क्रोध तीनोंका नाश होगया है (**मन्मयाः**) जो मेरेमें लय होरहे हैं; अर्थात् जो एकचित्त होकर मेरेमें और अपनेमें अभेद देख रहे हैं (**मामुपाश्रिताः**) मेरी शरणमें प्राप्त हैं । (**ज्ञानतपसा पूताः**) ज्ञानरूप तप द्वारा पापोंसे छूटकर परम पवित्र होगये हैं (**बहवः**) ऐसे बहुतेरे प्राणी (**मद्भावमागताः**) मेरे भावको प्राप्त होगये हैं; अर्थात् मुझमें आमिले हैं ॥ १० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे यह पूछा है, कि केवल तुम्हारे साकार-स्वरूपकी उपासना करनेवाले ही तुमको प्राप्त होते हैं, अथवा अन्य दिव्य आचरणोंके करनेवालेभी प्राप्त होते हैं ? इसके उत्तरमें श्री गोविन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**वीतरागभयक्रोधा-**

मन्मया मामुपाश्रिताः] जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं, जो मेरे स्वरूपमें मय होरहे हैं, और जो मेरी शरण होरहे हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं। मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब गुरुदेवका संग होता है, तब भगवत्-कृपा प्राणियोंपर होती है; बिना उनकी कृपा-दृष्टि के इन दुर्निवार्य्य विकारोंसे पार होना दुस्तर है। सो भगवत्-कृपा तब ही होती है जब प्रपंच उपशम होकर हृदयमें प्रेमका दीपक बल उठता है। जब प्रेमका दीपक जलने लगा तब अविद्याके अन्धकारकी निवृत्ति होते ही उपर्य्युक्त तीनों विकारोंका नाश होजाता है। तिसका कारण केवल भगवत्-कृपा है। क्योंकि जैसे कोई अनेक घरवाली बस्ती अंधेली पडी हो केवल एक ही घरपर दीपक जलरहा हो, उस समय यदि कोई बुद्धिमान उस बस्तीके समीपवाले पर्वतके शिखरपर जा बैठा हो। जब वह पर्वतके शिखरसे अपनी दृष्टि नीचेको पात करेगा तो सबसे पहले उसकी दृष्टि बस्तीके उसी घरपर पडेगी जिस घरपर दीपक जल रहा है। इसी प्रकार भगवान् जब इस सृष्टिरूप अँधेली बस्तीकी ओर देखता है तब उसकी दृष्टि उसी प्राणी पर पडती है जिसके हृदयरूप घरमें प्रेमका दीपक जलरहा है। फिरतो क्या कहना है? भगवान्‌की दृष्टि पडनेकी देर थी। जब ही दृष्टि पडी उसका बेडा पार होगया।

मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है जब भगवत्‌के चरण-कमलोंका प्रेम हृदयमें अंकुर देने लगता है तब सर्व प्रकारकी संसृत-प्रीतिकी निवृत्ति होजाती है। प्रेम-रसके सामने सब विषय-रस फीके पडजाते हैं। ऐसे पुरुषोंके

+ राग, भय और क्रोध सब भगवत्-कृपासे छूट जाते हैं।

सबसे कठिन "राग" का छूटना है। जब जिस महापुरुषसे यह "राग" छूटजावे उसे वीतराग कहते हैं। फिर तो उसमें भय और क्रोधका लेशमात्र भी नहीं रहता। क्योंकि ऐसा पुरुष मुझमें पूर्ण विश्वास रखने तथा मुझे अपना रक्षक जाननेके कारण किसी प्रकारका भय नहीं करता। सबसे अधिक मृत्युका भय होता है सो मेरा भक्त मृत्युसे भी नहीं डरता। क्योंकि जब उसको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होगयी तो फिर उसे भय कहां? श्रु०— "ॐ आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" जो विद्वान् ब्रह्मानन्दमें मग्न है वह किसीसे डरता नहीं। क्योंकि ब्रह्मानन्दमें अर्थात् भगवत्-स्वरूपमें मग्न होनेसे "मर्त्योऽमृतो भवति" इस श्रुतिके बचनानुसार यह पुरुष मृत्युके भयसे छूट अमृत होजाता है, अर्थात् अमर होजाता है।

+ पाठकोंके बोधार्थ रागका स्वरूप निश्चयकर बताया जाता है—

"सुखानुशयी रागः" (पतं० सा० पा० २ सूत्र ७)

जिसका भाष्य श्री व्यासदेव यों करते हैं, कि (सुखमनुशेत इति सुखानुशायी। सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्द्धोत्संगः क्लेशः) अर्थात् सुख पाकर जो मनुष्यका चित्त उस सुखमें लिपटकर छोड़ता नहीं उसीको सुखानुशायी कहते हैं। जैसे भ्रमर कमलके मकरन्दको पान करतेहुए उसीमें चिपटकर रहजाता है इसीको सुखानुशायी कहते हैं। सो इस जीवका स्वभाव है, कि जब किसी प्रकारके सुखको जान लेता है अर्थात् उस सुखका सुखज्ञ होजाता है तब उसे उस सुखकी स्मृति बनी रहती है फिर उस जीवमें उस सुखकी पूर्वस्मृतिके कारण फिर सुख प्राप्तिकी अभिलाषा उत्पन्न होती है उसीको राग कहते

श्रु०— " अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः "
(श्वेता० अ० ५ श्रु० १३)

अर्थ— " कलिलस्य मध्ये " इस गहन गम्भीर संसारके मध्य प्राणी इस अनादि अनन्त विश्वकी रचना करनेवाले, अनेक रूपके धारण करनेवाले और सम्पूर्ण विश्वको अकेला परिवेष्टन करनेवाले सर्व व्यापकको जानकर " मुच्यते सर्वपाशैः " सर्व-प्रकारके जन्म-मरणके फांससे छूटजाता है । फिर भय किसका रहा ?

भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी राग, भय और क्रोध इन तीनों विकारोंसे रहित होता है वह (मामेति) मुझको प्राप्त होता है । यह वार्त्ता भगवान् पहले भी कहचुके हैं— वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते " (अ० २ श्लो० ५६)

भगवान्ने जो इस श्लोकमें मन्मयाः और मामुपाश्रिताः कहा है इन दोनोंका वर्णन सुनो ! भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह

हैं । सो राग पांच प्रकारके क्लेशोंके अन्तर्गत एक महाघोर क्लेश है । वे पांच क्लेश कौन हैं ? सो सुनो ! " अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः" (पतं० पा० २ सूत्र ३) अर्थात् १. अविद्या २. अस्मिता (कर्तृत्वाभिमान) ३. राग ४. द्वेष ५. अभिनिवेश (गृहकार्य्यमें, नाना प्रकारके जंजालमें तथा अपने धन, सम्पत्ति इत्यादिमें फँस जाना) ये पांच क्लेश है इन क्लेशोंका वर्णन विस्तार-पूर्वक आगे अपने स्थानपर कियाजावेगा ।

है, कि जो प्राणी राग, भय और क्रोधसे रहित होकर मन्मय और मामुपाश्रित हैं वे मुझमें आमिलते हैं। तहां जो प्राणी भगवत्में एक-चित्त हो सर्वत्र उसीको देखता हुआ अभेददर्शी होरहा है और मैं, मेरा, तू, तेरा इन विकारोंको त्याग भगवत-स्वरूपमें दिवा-रात्रि मनको प्रवेश कररखा है उसे भगवान् "×मन्मय" कहते हैं।

जो लोग अपने सब कर्म-धर्मको भगवत्में अर्पण करके उसकी शरण आये हुए हैं अर्थात जिनको दूसरा कोई आश्रय वा भरोसा नहीं है अनन्यताको प्राप्त हैं अर्थात् "सर्वाश्रयाणां त्यागोऽनन्यता तथा तस्मै अनन्यता तद्विरोधिषूदासीनता" इन नारद भक्तिसूत्रोंके वचनानुसार जिसने सब देवता, देवी इत्यादिके आश्रयको परित्याग कर वासुदेवहीमें अनन्य-गति प्राप्तकी है और भगवत्से विमुख करनेवाले विषयोंसे जिनको उदासीनता प्राप्त है, उनको भगवान मामुपाश्रिताः कहते हैं। भगवान्के कहनेका तत्पर्य्य यह है, कि जो प्राणी मन्मय और मामुपाश्रित हैं वे मुझको प्राप्त होते हैं।

अब भगवन् कहते हैं, कि [बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः] बहुतेरे प्राणी जो ज्ञान रूप तपसे पवित्र होरहे हैं। वे ही मेरे भावमें समाये हुए हैं अर्थात मेरा ही स्वरूप होरहे

× इसका विस्तार पूर्वक वर्णन बारहवें अध्यायके दूसरे और आठवें श्लोकमें किया गया है।

हैं। तात्पर्य्य यह है, कि प्रत्येक प्राणी शुभाऽशुभ कर्मकी बेडीमें फँसाहुआ है। जबतक **प्रारब्ध, संचित** और **आगामी** तीनों प्रकारके कर्मोंका नाश न हो तबतक वह इस बेडीसे छूट नहीं सकता। तिनमें **प्रारब्ध** भोगसे नाश होजाता है, **आगामी** निष्काम कर्मोंके करनेसे रुकजाता है और "**संचित**" ज्ञानरूप तपसे नाश होजाता है। इसी कारण कहते हैं, कि ज्ञानाग्निसे जिनका संचित भस्म होगया है, वे "**ज्ञानतपसा पूताः**" कहे जाते हैं। क्योंकि जब संचितका नाश होगया तो फिर उनका जन्म नहीं होसकता। पाप-पुण्यके क्षय होजानेसे वे परम पवित्र मुक्तात्मा होजाते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ऐसे पुरुष मेरे स्वरूपको आ प्राप्तहोते हैं।

अर्जुनने जो प्रश्न कियाथा, कि हे भगवन्! आपके दिव्य जन्म कर्म जानने वालोंसे इतर कौन-कौन प्राणी तुममें आमिलते हैं? भगवान्‌ने इस श्लोकमें तिनकी गणना करदी। अर्थात् पहले वे जो **वितरागभयक्रोध** हैं। दूसरे वे जो **मन्मय** हैं। तीसरे वे जो **मामुपाश्रित** हैं और चौथे वे जो **ज्ञानतपसा पूता** होरहे हैं ॥ १० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! उपर्युक्त जो कई प्रकारके प्राणी आपके चरणोंकी शरणमें आ पहुंचते हैं उन सबोंपर आपकी समान कृपा होती है? अथवा कुछ न्यूनाधिक्यके कारण विषमता रह जाती है?

इतना सुन भगवान् बोले हे, अर्जुन ! सुन—

मू०— ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥ ११

पदच्छेदः— पार्थ ! (हे पृथाहृदयानन्दवर्द्धन !) ये (मद्भक्ताः) यथा (येन प्रकारेण । यदर्थं मोक्षार्थमर्थार्थमार्त्तिनिवृत्त्यर्थं ज्ञानार्थं वा) माम् (वासुदेवम्) प्रपद्यन्ते (भजन्ति) अहम् (महेश्वरः) तान् (भक्तान्) तथैव (तत्तत्फलप्रदानेन) भजामि (अनुगृह्णामि) [तस्मात्] मनुष्याः (मद्भक्ताः) सर्वशः (सर्वप्रकारैः) मम, वर्त्म (भक्तिध्यानप्रणिधानात्मकम्मार्गम्) अनुवर्त्तन्ते (सेवन्ते) ॥ ११ ॥

पदार्थः— (पार्थ !) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (ये) जो मेरे भक्त (यथा) जिस अर्थसे (मां प्रपद्यन्ते) मेरी शरण आकर प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझको भजते हैं (अहम्) मैं भी (तान्) तिन पुरुषोंको (तथैव) तिसी प्रकारसे (भजामि) भजता हूं । अर्थात् भिन्न-भिन्न फल मांगनेवालोंको भिन्न-भिन्न फल देकर प्रसन्न करता हूं । इस कारण (मनुष्याः) जितने मनुष्य इस संसारमें हैं सब (सर्वशः) सर्व्व प्रकारसे (मम) मेरे (वर्त्म) मार्गका ही (अनुवर्त्तन्ते) अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः— पूर्वमें जो अर्जुनने प्रश्न किया है, कि सर्व प्रकारके भक्तोंपर समान कृपा होती है अथवा कुछ न्यूनाधिकका भेद रहता

है ? इसका उत्तर भक्तवत्सल भगवान् इस श्लोकमें स्वच्छ-रूपसे यों देते हैं, कि [ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्] जो मनुष्य मुझे जिस भाव वा रुचिसे भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूं। तात्पर्य्य यह है, कि "रुचीनां वैचित्र्यात्" इस संसारमें अपनी-अपनी रुचिकी विचित्रतासे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार मनुष्योंने अपने-अपने भजनका भिन्न-भिन्न मार्ग दृढ करलिया है। इस कारण बहुतेरे मतवाले होगये हैं। उनमें भी आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकारके अधिकारी हैं। जिनका वर्णन अध्याय ७ के श्लोक १६ में भगवान्ने किया है। अर्थात् "आर्त" जो नाना प्रकारके आध्यात्मिकादि दुःखोंसे परिपीडित हैं, केवल अपने दुःखोंकी निवृत्तिके तात्पर्यसे भगवानको भजते हैं। २. 'जिज्ञासु' जो केवल आत्मज्ञानकी इच्छासे भगवत्-भजन करते हैं। ३. जो 'अर्थार्थी' हैं अर्थात् धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र इत्यादिकी इच्छा रखते हैं। ४. जो ज्ञानी हैं, प्रपंच उपशम होजानेसे जिनको सर्वत्र सच्चिदानन्दमय देख-पडता है।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! अपने-अपने अर्थसे ये सब मुझको भजते हैं तिनको मैं भी तिसी प्रकार भजता हूं अर्थात् पीडितकी पीडा दूरकर देता हूं। मोक्षकी इच्छावालेको मोक्ष देताहूं। धन-सम्पत्तिचाहनेवालेको धन-सम्पत्ति देता हूं। और जो ज्ञानी हैं, कुछ नहीं चाहते उनको मैं अपने हृदयमें लगालेता हूं। उनका सदा मुंह जोहता रहता हूं। उनकी रक्षा सदा करता हूं। यही चाहता हूं, कि कभी ये कुछ मुझसे मांगें तो मैं इनसे उऋण होजाऊं। क्योंकि बिना किसी कामनाके जो मेरेलिये

सर्व-प्रकारके सुखोंका तिरस्कार कर वर्षा, आतप, वात, क्षुधा, पिपासा इत्यादिका क्लेश सहन कर केवल मेरेहीको सर्वत्र देखते हैं मैं उनका ऋणी बनारहता हूं। प्रमाण—

समचित्तः समग्रीवः समलोष्टाश्मकांचनः ।
शाकाशी फलमूलाशी शत्रुमित्रविवर्जितः ॥

अर्थ—जो प्राणी समचित्त है, सर्वत्र सबको समान रूपसे देखता है, समग्रीव है अर्थात् आसनादि लगाकर समान ग्रीव करके जो मुझको ध्यान करता है, जो लोहा, पत्थर, सोना इत्यादिको समान जानता है, जो शाक अथवा कन्द, मूल-फल खाकर निर्वाह करलेता है और जो शत्रु-मित्रको समान समझता है, वह मेरा परम प्रिय कहलाता है । हे अर्जुन ! यदि तुझे शंका हो, कि जो प्राणी मेरी भक्ति न करके इन्द्र, वरुणादि अन्य देवताओंकी भक्ति करता है उससे मैं द्वेष करता होऊंगा ? सो ऐसा नहीं । मैं सर्वेश्वर हूं । इसलिये मैं जानता हूं, कि [**मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः**] हे पार्थ ! सब मनुष्य चाहे किसी देव देवीकी उपासना क्यों न करें पर सब मेरेही मार्गपर चलते हैं। भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुरेश, गणेश, दिनेश और निशेश किसी भी देवताका जो भजन करते हैं वे सब भगवान् ही के मार्गपर चलनेवाले हैं। इसलिये जो जिस प्रकारके रूपसे ध्यान करता है भगवान् उसी रूपसे उसे मिलता है और उसी रूपमें वह सारूप्यादि पांचों प्रकारकी मुक्तियोंको जिनका वर्णन पृ० ८३२ में होचुका है

प्राप्त करता है। स्मार्त्त-मतके अनुसार कोई "शैव" है, कोई "वैष्णव" है, कोई "शाक्त" है, कोई सौर्य्य है, और कोई गाणपत्य है। चाहे किसी भी उपासनावाला क्यों न हो सब उसी वासुदेवके ही उपासक हैं। क्योंकि ये सब रूप उसीके हैं और सब उसीके मार्गपर चल रहे हैं। इसलिये किसी भी देवता देवीकी उपासना सकाम हों वा निष्काम सबका लक्ष्य एक वही वासुदेव महेश्वर है। फिर इन भिन्न उपासनाओंकी सिद्धिकेलिये जो भिन्न-भिन्न कर्म कियेजाते हैं उन कर्मोंका फल देनेवाला भी वही एक वासुदेव ही है। क्योंकि कर्म स्वयं जड है फल-देनेको समर्थ नहीं है। प्रमाण— "फलमत उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र० अ० ३ पा० २ सूत्र १८) जिसका भाष्यकारने यों अर्थ किया है, कि "फल-मतः ईश्वराद्भवितुमर्हति कुत उपपत्तेः । सहि सर्वाध्यक्षः सृष्टि-स्थिति संहारान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरू-पं फलं सम्पादयतीत्युपपद्यते ॥ अर्थ—सर्व प्रकारके ÷कर्मोंके फलकी प्राप्ति ईश्वरहीसे होती है। "कुतः" इस सिद्धान्तको कैसे कहांसे सिद्ध करते हो ! तो "उपपत्तेः" उपपत्तिसे। अर्थात् वही ईश्वर जो

÷ शुभ, अशुभ और व्यामिश्र (शुभाशुभ दोनों मिलेहुए) ये तीन प्रकारके कर्म हैं। सुख दुःख और व्यामिश्र ये तीन प्रकारके फल भी हैं। शुभसे देवयोनि अशुभ से नारकी अथवा राक्षसादि योनि और व्यामिश्रसे मनुष्य योनिकी प्राप्ति होती है। तहां तीनों प्रकारके फल भोगने पडते हैं। यहां बहुतेरों को यह भी शंका होती है, कि इन तीन प्रकारके फलोंका भुगाने वाला स्वयं कर्म है वा ईश्वर है ? तिसके विषे ब्रह्मसूत्र यों कहता है, कि "फलमत उपपत्तेः।"

सर्वाध्यक्ष है।' सबके कर्मोंका देखनेवाला है। सृष्टि, स्थिति, और संहार करता हुआ देश-कालको जानकर प्राणियोंको उनके कर्मानुसार फल देता है। यह वचन "श्रुतत्वाच्च" (ब्रह्म सूत्र अ० ३ सू० ३६) श्रुतियोंसे भी सिद्ध है। श्रु०— " ॐ स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद " (बृह० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० २४)

अर्थ— सो जो यह महान् अज, आत्मा है अर्थात् जो अजन्मा है, सो कैसा है? तो ×अन्नाद है अर्थात् जगदात्मक-रूप अन्नका खानेवाला अर्थात् संहार करनेवाला है अथवा " यद्वाऽन्नमासमन्ताद्दातीत्यन्नादः " जो सर्व प्रकारसे अपने उपजाये हुए जीवोंको अन्नका देनेवाला है तथा 'वसुदानः' जो प्राणीके कर्म-फल-रूप भोग-साधन निमित्त धनको प्रदान करता है। जो ऐसा जानता है सो सब प्रकारके धनको प्राप्त करता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो मुझको जिस प्रकार भजता है मैं भी उसको वैसा ही भजता हूं। अर्थात् उसको उस की इच्छानुसार ही फल देता हूं। चाहे वह किसी भी देवताको भजे, पर वह देवता मैं ही हूं मुझसे इतर कोई देवता देवी नहीं है।

प्रमाण श्रु०— ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमोनमः ॥ ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमोनमः ॥ ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चेन्द्रस्तस्मै वै नमोनमः ॥ ॐ यो वै

× (जगदात्मकस्यान्नस्यात्ता संहारकः)

रुद्रः स भगवान्यश्चाग्निस्तस्मै वै नमोनमः ॥ ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमोनमः ॥ ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सर्वं तस्मै वै नमोनमः ॥ (अथर्व शिरउप० श्रुति २ देखो)

अर्थ— स्पष्ट है ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, इत्यादि सब वही *रुद्र भगवान् है, जो सबोंको उनके पाप-कर्मके बदले रुलानेवाला है तथा पुण्यके बदले स्वर्गका देनेवाला है । फिर यजुर्वेदका प्रमाण है—

"ॐ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा। तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः" अर्थ— वही महेश्वर अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही जल है और वही प्रजापति है । इन प्रमाणोंसे पूर्ण-प्रकार सिद्ध होता है, कि जो प्राणी जिस रूप, गुणसे तथा जिस अभिलाषासे भगवत्की उपासना करता है भगवान् तदाकार ही उसे प्राप्त होते हैं । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे पार्थ ! सब मनुष्य मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! जब तुम ही सब हो और तुम सबको फल देनेवाले हो, तो क्या कारण, कि बहुतेरे प्राणी तुमको छोड अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं ?

---

* रुद्र- रूप होकर भगवान्ने पहले भी देवताओंसे कहा है, कि "नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति" (देखो पृ०) मुझसे भिन्न कोई देव देवी नहीं है ।

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२ ॥

पदच्छेदः— इह (अस्मिन् लोके) **कर्मणां, सिद्धिम्** (कर्मफलम् । फलनिष्पत्तिम्) **कांक्षन्तः** (अभीप्सन्तः । प्रार्थयन्तो वा) **देवताः** (देवान्) **यजन्ते** (पूजयन्ते) **हि** (यस्मात्) **मानुषे, लोके** (मर्त्यलोके) **कर्मजा** (काम्यकर्मजा) **सिद्धिः** (फलम्) **क्षिप्रम्** (शीघ्रम्) **भवति** (उत्पद्यते) ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**इह**) इस संसारमें (**कर्मणां सिद्धिम्**) कर्मोंके फलको (**कांक्षन्तः**) मांगते हुए प्राणी (**देवताः**) इन्द्रादि देवताओंको (**यजन्ते**) पूजते हैं (**हि**) क्योंकि इन देवताओंके पूजनेसे (**मानुषे, लोके**) इस मनुष्य-लोकमें (**कर्मजा**)सकाम-कर्मोंसे उत्पन्न जो (**सिद्धिः**) फल वह (**क्षिप्रम्**) बहुत ही शीघ्र (**भवति**) प्राप्त होती है अर्थात् वित्तैषणा, लोकैषणा और पुत्रैषणाकी सिद्धि शीघ्र ही होजाती है ॥ १२ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया था, कि हे भगवन्! सब प्राणी तुम त्रिलोकीनाथको ही क्यों नहीं भजते ? अन्य देवताओंको क्यों भजते हैं ? तिसका उत्तर श्री हरि इस श्लोकमें यों देते हैं, कि [**कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः**] इस संसारमें कामनावाले प्राणी कर्म-फलकी इच्छासे इन्द्रादि देव-

ताओंकी पूजा करते हैं। तात्पर्य यह है, कि मायामें फँसे रहनेके कारण इस संसारमें अधिकांश प्राणी कामना वाले हैं। निष्काम तो कोई-कोई होता है। सो जितने प्राणी सकाम-कर्मवाले हैं वे इस मनुष्य-लोकमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमका कर्म शास्त्र-द्वारा शिक्षापाकर करते हैं। उनके चित्तमें यह कामना बनी रहती है, कि यदि मैं इन्द्रादि देवताओंको अपने वर्ण और आश्रमके धर्मा-नुसार पूजूंगा तो मुझको धन, सम्पत्ति इत्यादि प्राप्त होंगी इसलिये कर्म-फलकी इच्छा करते हुए कभी पुत्रेष्टि यज्ञकर पुत्रकी प्रार्थना करते हैं, श्येन-यज्ञ करके शत्रुओंके नाशकी इच्छा करते हैं, इन्द्रकी पूजा कर पुष्कल-वृष्टिकी इच्छा करते हैं, कुवेरकी पूजाकर पुष्कल धन की इच्छा करते हैं और सूर्य्य देवकी पूजा कर सुन्दर शरीरकी इच्छा करते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देव-ताओंकी पूजा करते हैं। इन साधारण प्राणियोंको प्रारब्धकी प्रेरणा से चिरकाल पर्य्यन्त इस संसार-चक्रमें भरमना पडता है। मृत्यु-लोकसे स्वर्ग-लोक, फिर स्वर्गसे मृत्यु-लोक वारंवार आना-जाना पडता है। इसलिये इनको इतनी बुद्धि नहीं होती, कि संसारी कामनाओंको छोड केवल भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति निमित्त अन्तःकरण शुद्ध करनेके तात्पर्यसे निष्काम-कर्म करनेकी इच्छा करें। ये विचारे तो यह भी नहीं जानते, कि निष्काम-कर्म किसे कहते हैं? अन्तःकरण क्या है? अन्तःकरणकी शुद्धि किस पशुका नाम है और अन्तःकरणकी शुद्धिसे क्या फल लोभ होता है। ये तो केवल कामना ही कामनाके फन्देमें पडे रहते हैं और कर्म-फल भोगते रहना अपना कर्तव्य समझते हैं।

इसी कारण अन्य देवताओंकी पूजा करते रहते हैं।

भगवान् कहते हैं, कि इसका मुख्य कारण यही है, कि [**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा**] इन देवताओंके पूजनेसे उनके सकाम-कर्मोंकी सिद्धि बहुत ही शीघ्र इस मनुष्य-लोकमें होती है। अर्थात् जिस देवताके अधिकारमें जिस विशेष कामनाकी पूर्त्ति करदेनेकी शक्ति दीहुई है उसके पूजनेसे वह कामना शीघ्र प्राप्त होजाती है।

ऐसी कामनावाले तीन प्रकारके उपासकोंमें अविशुद्ध-चित्त कहलाते हैं—

प्रमाण— त्रिविधा ह्यधिकारिणः= अविशुद्धचित्ताः। विशुद्धचित्ताः। अतिविशुद्धचित्ताश्चेति। आद्याः अक्रममुक्तिमिच्छन्ति। द्वितीयाः क्रममुक्तिमिच्छन्ति। तृतीयाः साक्षान्मुक्तिमिच्छन्ति।

(तात्पर्य्यदीपिका)

अर्थ— तीन प्रकारके अधिकारी होते हैं—

१. **अविशुद्धचित्ताः** (जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है)।

२. **विशुद्धचित्ताः** (जिनका अन्तःकरण शुद्ध होगया है)।

३. **अतिविशुद्धचित्ताः** (जिनका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है अर्थात् जिनके चित्तसे संसारमात्रकी स्मृति दूर होगयी है)।

इनमें प्रथम अधिकारी "÷भ्रममुक्ति" चाहते हैं। दूसरे "+क्रममुक्ति" और तीसरे "⊛साक्षान्मुक्ति" चाहते हैं।

भगवान्‌ने यह श्लोक उन प्रथम अविशुद्धचित्त-अधिकारियोंके लिये कहा है। अर्थात् अर्जुनको यह उपदेश किया, कि जिन प्राणियोंका अन्तःकरण नाना प्रकारकी कामनाओंसे मलीन होरहा है, वे ही अन्य देवताओंकी पूजा करके शीघ्र अपनी मनोकामना प्राप्त करते हैं। इसी कारण चारों वर्ण अपना—अपना धर्म्म प्रतिपाल करतेहुए भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी पूजा करते हैं ॥ १२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! ये चार वर्ण किसने किये? और इनके धर्म्म वा इनकी उपासना विलग-विलग क्यों बनी? सबके सब एक मोक्ष ही की अभिलाषा क्यों नहीं करते ?

÷ भ्रममुक्तिः— बार-बार स्वर्ग जाना फिर लौट लौटकर मर्त्यलोकादि लोकोंमें भ्रमणकरना।

+ क्रममुक्तिः— मर्त्यलोकसे गन्धर्वलोक, तहांसे देवलोक, तहांसे बृहस्पतिलोक, तहांसे प्रजापतिलोक और तहांसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होताहुआ परम पदको प्राप्त होजाना।

⊛ साक्षान्मुक्तिः— जहां शरीर-त्याग हो तहां ही उसी समय ब्रह्मसे मिलजाना। क्योंकि जिसे आत्माकी व्यापकताका बोध है वह सर्वत्र सर्वठौर ब्रह्ममय जानता है। इसलिये जहां ही उसका शरीर छूटता है तहां ही ब्रह्मसे मिलजाता है उसे कहीं जाना—आना नहीं पड़ता।

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥
॥ १३ ॥

पदच्छेदः—मया (महेश्वरेण) गुणकर्मविभागशः (गुण-विभागशः कर्मविभागशश्च) चातुर्वर्ण्यम् (ब्राह्मणक्षत्रियादिकम्) सृष्टम (उत्पादितम) तस्य (विषमस्वभावस्य चातुर्वर्ण्यस्य) कर्तारम् (मायायोगात्तथा व्यवहारदृष्ट्या स्रष्टारम्) अपि, माम् (ईश्वरम) अकर्तारम् (परमार्थदृष्ट्या कर्तृत्वाहंकाररहितम्) अव्ययम् (निरहंकारत्वेनाक्षीणमहिमानम) विद्धि (जानीहि) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (गुणकर्मविभागशः) रजसत्वादि गुण तथा शम, दम, युद्धादि कर्मोंके विभागानुसार (चातुर्वर्ण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रियादि चारों वर्ण (मया) मेरे द्वारा (सृष्टम्) रचेगये हैं (तस्य) तिस कर्मका (कर्तारम्) कर्ता (अपि) भी (माम्) मुझ ही (अकर्तारम) अकर्ता और (अव्ययम) नाशरहितको (विद्धि) जान ! अर्थात् माया तथा व्यवहार-दृष्टिसे तिसका कर्ता और परमार्थ दृष्टिसे वस्तुतः मुझे अकर्ता, सब कर्मोंसे रहित तथा अविनाशी जान !
॥ १३ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो पहले यह प्रश्न किया है, कि ये चारों वर्ण किसने रचे ? ये चारों एक स्वभावसे एक ही कर्मको करके एक ही मोक्ष क्यों नहीं मांगते ? तिसका उत्तर योगेश्वर भगवान् यों

देते हैं, कि हे अर्जुन ! [**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**] गुण और कर्मके विभागानुसार मेरे ही द्वारा चारों वर्णोंकी रचना हुई है। तात्पर्य्य यह है, कि भिन्न-भिन्न स्वभाववालोंसे भिन्न-भिन्न कर्मोंके सम्पादन किये जानेका मुख्य कारण यही गुण और कर्मोंका विभाग है। अर्थात् सत्वादि जो तीन गुण हैं इनही तीन गुणोंको लेकर मैंने इस सृष्टिकी रचना की है। भूरादि ऊपरके सातों लोकोंमें, अतलादि नीचेके सातों लोकोंमें और इन्द्र, वरुण, कुबेरादि लोकोंमें भी गुण-कर्मोंका विभाग करके सृष्टिकी रचना कीहै। इन लोकोंसे इतर अन्य लोकोंमें भी वर्णोंकी रचना कीगयी है।

प्रमा०— आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा।
अश्विनौ च स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समस्थिता॥
स्मृतास्त्वाङ्गिरसा देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः।
इत्येतत्सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यम् प्रकीर्त्तितम्॥

अर्थ—बारहों "आदित्य" क्षत्रिय वर्ण हैं। उनचासों "मरुत" वैश्य वर्ण हैं। "अश्विनी" और "कुमार" दोनों शूद्र वर्ण हैं। उग्रतपमें स्थित "अङ्गिरा, पुलस्त्य" इत्यादि ब्राह्मण वर्ण हैं। इस भूलोकमें भी भिन्न-भिन्न गुण और कर्मके विभागसे ये चारों वर्ण बनायेगये हैं। प्रमाण— "**सात्विकस्य सत्वप्रधानस्य ब्राह्मणस्य शमोदमस्तप इत्यादीनि कर्माणि**" अर्थात् सत्व-गुणकी प्रधानतासे सात्विक-स्वभाव वाले ब्राह्मणोंके कर्म केवल शम, दम, तितिक्षादि बनाये गये हैं। इसी प्रकार "**सत्वोपसर्जनरजःप्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्य्यं, तेजः**

प्रभृतीनि कर्म्माणि" सत्व-गुणकी अप्रधानता और रजो-गुणकी प्रधानतासे क्षत्रियका स्वाभाविक-कर्म शौर्य्य और तेज इत्यादि द्वारा युद्धादिका सम्पादन करना और अपने तेजसे प्रजाको वशीभूत रखना इत्यादि क्षात्र-कर्म हैं । इसी प्रकार "तमउपसर्जनरजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्माणि" तमोगुणकी अप्रधानता और रजकी प्रधानतासे वैश्यके कृषि, गोरक्षा, वाणिज्यादि स्वाभाविक कर्म हैं । "रज उपसर्जनतमःप्रधानस्य शूद्रस्य शुश्रूषैव" रजोगुणकी अप्रधानता और तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रोंके स्वाभाविक कर्म शेष तीन वर्णोंकी सेवा ही करना है । इन चारोंकी रचना नवीन नहीं है । सृष्टिकी आदिसे है । इसलिये वेदोंमें भी इन चारोंका वर्णन है ।

प्रमाण०—"ॐब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳪ शूद्रोऽजायत ॥

(ऋग्वे० अध्या० ४ व० १६ मंत्र १२)

अर्थ—उस पर-पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, बाहूसे क्षत्रिय, ऊरू (जंघा) से वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए । मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मुख सब अंगोमें श्रेष्ठ है क्योंकि सर्व प्रकारके अध्ययन, वेद मंत्रोच्चारण, भगवतकी स्तुति इत्यादि सर्व लौकिक पारलौकिक श्रेष्ठ-कर्म मुखसे ही किये जाते हैं । इसलिये ब्राह्मण चारों वर्णोंमें श्रेष्ठ समझा गया । इन ब्राह्मणोंकी तथा सृष्टिके सब वर्णोंकी रक्षा केवल क्षत्रियों से ही होती है सो बिना बलके हो नहीं सकती और इस शरीरमें बलका स्थान भुजा ही है इसी कारण उस पर-पुरुषकी भुजाओंसे क्षत्रिय उत्पन्न

कियागया । बिना अन्नादिके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा किसी भी वर्णके जीवनका निर्वाह नहीं होसकता । तिस अन्नकेलिये हल इत्यादि जोतना जंघाओंके बलसे होता है इसलिये उस ब्रह्मकी जंघासे वैश्य कहा और कृषि गोरक्षा इत्यादि करना वैश्योंका धर्म कहागया। फिर पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुआ अर्थात् सेवा करना शूद्रका कर्म कहागया । सेवा करनेवालोंको पैरोंसे दौडना पडता है ।

अब भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! [**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्**] तिन चारों वर्णोंकी चौकडीका कर्ता भी तू मुझ ही अकर्त्ता और अव्ययको जान ! मैंने सृष्टिका व्यवहार-मात्र चलानेकेलिये ऐसी रचना की और गुणोंके विभागसे इनके मस्तिष्क बनाकर सृष्टि चलायी। यदि इन चारों वर्णोंका विभाग न हो, तो संसृत-व्यवहारके साधनमें और चलनेमें बडी कठिनता आनपडे । क्योंकि वर्णाश्रम बनादेनेसे प्रत्येक प्राणी सन्तोष—पूर्वक अपना-अपना कर्म करना अपने वर्णका धर्म जानता है । जैसे वस्त्रोंका मल धोना धोबी अपना धर्म जानता है। घरसे मल-मूत्र उठाकर दूर फेंकआना '*खलपू'

* प्रिय पाठको ! आजकल नई रोशनीके समय जो लोग यह कहाकरते हैं, कि वर्णाश्रमके विभेदकी क्या आवश्यकता है ? उनसे कहदेना चाहिये, कि यदि वर्णाश्रम पहलेसे बनाया हुआ न होता तो उनके घरसे मलमूत्र उठाकर कौन बाहर फेंकदेता ? फिर तो ऐसी दुर्दशा होती, कि उनको अपने हाथसे उठाकर फेंकना पडता अथवा मलोंके भण्डारमें बैठकर नये प्रकारके गन्धका आनन्द लेना पडता । यदि यों कहें, कि किसीसे फिकवा देते, तो यह ऐसा कर्म है, कि सहस्रों मुद्रा देनेपर भी कोई मनुष्य ऐसा करना स्वीकार नहीं करता, सो वर्णाश्रमके नियमके अनुसार खलपू आनन्द-पूर्वक एक पैसे पर करदिया करता है ।

(भंगी) अपना धर्म जानता है । इसी प्रकार ऐसे बहुतेरे नीच-कर्म हैं जिनके करनेका अधिकार उन्हीं विशेष जातियोंको है, जो वर्णाश्रम धर्मके अनुसार अपना जातीय-कार्य समझते हैं और बिना किसी प्रकारकी घृणा वा बाधाके आनन्द-पूर्वक सम्पादन करदेते हैं ।

इतना सुन अर्जुनने यह शंका की—भगवन् ! तुम अपने रचे और बनाये हुएकी चिन्ता तो अवश्य करते होगे ? सो तुमने अपनेको ऐसे बन्धनमें क्यों डाला ?

इसके उत्तरमें भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यद्यपि मैं ही सब कुछ करने वाला हूं तथापि "अकर्तारमव्ययम" मुझको तू अकर्ता और अव्यय जान ! क्योंकि मैं किसी कर्ममें लिप्त नहीं होता । जैसे साधारण जीव अपने कर्मोंमें फंसजाते हैं, ऐसे मैं सब कुछ करता हुआ भी किसी कर्मके बन्धनमें नहीं पडता । क्योंकि मैं तुझसे पहले कहचुका हूं, कि मैं केवल अपनी मायासे सब कुछ करता हुआ देख पडता हूं । जैसे बाजीगर (नट) खेलते-खेलते अपना गला काटकर फेंक देता है, अपनी आंखें निकालकर कांटेके नोकपर फिराता है तथा मस्तकपर चूल्हा बाल कर पूरियां पकालेता है । पर यथार्थमें उसे गला काटनेका, आंख निकालनेका तथा सिर पकनेका कष्ट कुछ भी नहीं होता । इसी प्रकार मैं अपनी मायासे सब कुछ करता हुआ भी किसी कर्मके दुखसुखका भागी नहीं होता हूं । फिर तू मुझे " अव्ययम् "संसारके बिकारोंसे भी बाहर जान !

भगवानके कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि जायते, अस्ति, वर्द्धते, परिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति । अर्थात् जनमता है, रहता है, बढता

है, घटता है, छीजता है तथा नाश होजाता है । ये जो छओं बिकार मानुषी-शरीरके कहेगये हैं इनसे भगवान् रहित हैं । फिर षड़ूर्मियोंसे भी रहित हैं ।

शोकमोहौ जरामृत्यू चुत्पिपासे षडूर्मयः ।

शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा और पिपासा ये छओं ऊर्मियां जो पांचभौतिकशरीर-धारियोंका होती हैं, भगवान् इनसे रहित हैं । इसलिये अव्यय कहेजाते हैं ।

श्रु०—" योऽशनापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति " । (वृहदा ० अ ० ३ ब्रा ० ५ श्रुति ३ में देखो) अर्थात् जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, और मृत्युसे पार हुआ है वही परमात्मा सर्वान्तर्यामी है । भगवान् इसी सिद्धान्त को इस श्लोक में कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू मुझे " अकर्ता " और " अव्यय " जानकर केवल, मेरी मायाद्वारा इन वर्णोंका कर्ता मुझे जान ! तत्वतः नहीं ॥ १३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! तुम अपनेको कर्ता और अकर्ता दोनों कहते हो ये दोनों विरुद्ध-धर्म एक ही ठौर कैसे होसकते हैं ? जल और अग्नि तथा अन्धकार और प्रकाशका एक संग समावेश होना कैसे संभव होसकता है ?

इसके उत्तरमें भगवान् बोले हे अर्जुन ! सुन—

मू०— न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४

पदच्छेदः— माम् (कर्तृत्वाऽभिमानहीनम्भगवन्तम) कर्माणि (शुभाऽशुभाचरणानि । विश्वसृष्ट्यादीनि) न (नहि) लिम्पन्ति (आसक्तं कुर्वन्ति । देहारम्भकत्वेन बध्नन्ति) [तथा] कर्मफले (कर्मसिद्धौ) मे (पूर्णमनोरथस्य भगवतः । प्राप्तकामस्य) स्पृहा (तृष्णा) न (नैव) इति (अनेन प्रकारेण) यः (पुरुषः) माम् (अकर्तारमभोक्तारम) अभिजानाति (आत्मत्वेन जानाति) सः (पुरुषः) कर्मभिः (शुभाऽशुभैः) न (नैव) बध्यते (बद्धो भवति ॥ १४ ॥

पदार्थः— (माम्) मुझको (कर्माणि) शुभाशुभ कर्म (न लिम्पन्ति) नहीं लपेट सकते हैं क्योंकि (कर्मफले) उन कर्मोंके शुभाशुभ फलोंमें (मे स्पृहा) मेरी आसक्ति (न) नहीं है (इति) इस प्रकारसे (यः) जो (माम्) मुझको (अभिजानाति) आत्मज्ञान द्वारा जानता है (सः) सो (कर्मभिः) शुभाशुभ कर्मोंसे (न बध्यते) नहीं बांधाजाता है ॥ १४ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों गुणोंका समावेश एक व्यक्तिमें कैसे सम्भव होसकता है ? इसका उत्तर भगवान् यों देते हैं, कि [**न मां कर्माणि लि-**

स्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा] मुझको शुभाशुभ-कर्म अपने बन्धनमें नहीं लपेट सकते । क्योंकि कर्म-फलोंकी चाहना मुझमें नहीं है, इसीलिये मेरा करना और न करना दोनों एक समान हैं। अतएव मुझमें कर्त्ता अकर्त्ता दोनों धर्म्मोंका लक्ष्य होरहा है । तात्पर्य यह है, कि साधारण मनुष्योंको पाप-पुण्य अपने फल दुःख-सुखमें लपेट लेते हैं । क्योंकि उन कर्मोंके फलोंमें उनकी चाहना बनी रहती है । इसलिये कूपघटिका-यंत्रके समान नीचे ऊपर आते जाते हुए आवागमनके फंदेमें पडेरहते हैं ।

जो कर्ता अपनी मूर्खता-वश कर्मोंके करनेमें कर्तृत्वाभिमान करके फलकी इच्छा करता है वही कर्मोंसे बांधाजाता है ।

भगवान् पहले कह भी चुके हैं, कि "अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते " जो मूर्ख है वह कर्तृत्वाभिमान-वश अपनेको कर्ता मानता है । ऐसा कर्तृत्वाभिमान करनेसे, कि मैंने यह कार्य किया प्राणी झट बांधलिया जाता है ।

मूर्ख प्राणी कर्तृत्वाभिमान द्वारा फलकी इच्छा करता हुआ कैसे बांधाजाता है ? सो यहां एक दृष्टान्तसे स्पष्ट करदिया जाता है ।

चार चोरोंने मिलकर किसी राजाके कोषागारमें चोरी की और पुष्कल द्रव्य लेचले । आगे जाकर तीनने आपसमें यह सम्मति की, कि यदि हम तीनों मिलकर इस चौथेको जो अत्यन्त दुर्बल है निकाल देवें तो परस्पर तीन भाग करलेनेसे एक-एकको कुछ अधिक द्रव्य मिलजावेगा । ऐसा विचार तीनोंने उस चौथेसे कहा, कि मूर्ख!

हम तीनोंने तो दीवाल खोदने, द्रव्य ढूंढने इत्यादि कार्योंमें अधिक परिश्रम किया। तूने क्या किया? तू तो चुपचाप देखता था। इसलिये भागजा! तेरा भाग इस द्रव्यमें कुछ नहीं होता है। यदि नहीं भागेगा तो देख हम तीनों मिलकर तुझे इसी खड्गसे दो टुकडे करदेवेंगे। इतना सुन प्राणके भयसे वह चोर भागगया। थोडी दूर आगे जाकर जो दो बलवान् थे उन दोनोंने भी ऐसा ही किया। उस तीसरेसे कहा, कि तूने क्या किया है? हम दोनोंने तो द्रव्यके निकालनेमें अधिक परिश्रम किया है इसलिये तू भी भागजा नहीं तो माराजावेगा। वह बिचारा तीसरा भी इन दोनोंसे भय खाकर भागगया। फिर दोनोंमें जो एक अधिक बलिष्ट था उक्त प्रकार भय दिखलाकर निर्बलको भी भगादिया और अकेला द्रव्यका बोझ पीठपर रख आनन्द-पूर्वक चलनिकला। इनके इस झगडेमें रात्रि तो समाप्त हो ही चुकी थी। जब कोषागारके पहरुओंने देखा, कि दीवार टूटगई है। देखते ही धूम मचायी। सभी जगपडे नगरके चारों ओर घुडसवार छूटे। जाते-जाते एक गलीमें इस चोरको पकडा। राज्याधिकारीके समीप ला खडा किया न्यायसे उसे कारागारका दण्ड दियागया।

इस दृष्टान्तसे तात्पर्य्य यह है, कि इसी प्रकार जीव, ईश्वर, इन्द्रिय, और प्रारब्ध इन चारोंके संयोग और चारोंकी सहायतासे कर्म सम्पादन होते हैं, अर्थात् जब यह जीव कुछ करना आरंभ करता है तो इसे पहले इन्द्रियोंकी सहायता मिलती है। अर्थात् आंख, नाक, कान, इत्यादि इन्द्रियां साथ देती हैं। पश्चात् प्रारब्धकी सहायता मिलती है, अर्थात् प्रारब्धानुसार थोडी वा बहुत सामग्री उस कर्मके सम्पादनके

लिये प्राप्त रहती है। जैसे बडे—बडे अश्वमेधादि यज्ञ विना पुष्कल द्रव्यके सम्पादन नहीं होसकते। तत्पश्चात् ईश्वरकी भी सहायता मिलती है क्योंकि उसके विशाल यज्ञादिकी पूर्ति विना ईश्वरकी सहायताके नहीं होसकती। यज्ञ ही में नहीं वरु सर्वप्रकारके कार्य्योंमें साथ देता है। केवल शुभ ही में नहीं वरु अशुभमें भी संगी बना रहता है। क्योंकि ईश्वर यदि जीवका संग छोडदे तो इससे कोई भी कर्म सम्पादित नहीं होसकता। इसलिये ईश्वर सर्व-कर्मोंमें इस जीवका साथी है। जैसे कल्पवृक्षसे बुरी बस्तु मांगो तो बुरी वस्तु देवे। भली मांगो तो भली देवे। इसी प्रकार ईश्वर दोनोंमें संगी है वह संग नहीं छोडता। पर यह जीव यह नहीं कहता, कि मैंने अमुक कार्य्य चारकी सहायतासे किया है, मारे मूर्खताके अहंकारवश अपने ही को कर्ता मानता है। इसी कारण पीठपर सर्व-कर्म-फल अकेला ही लादनेसे चोरके समान अकेला ही दण्ड पाता है। अर्थात् कर्मका अहंकार करनेसे बांधा जाता है। इसी तात्पर्य्य से भगवान् कहते हैं, कि निरहंकार होकर कर्म करने वाला बांधा नहीं जाता। भगवान् पहले भी अर्जुनको कह चुके हैं, कि "**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**" (अ० २ श्लो० ४७) कर्म करनेमें तेरा अधिकार है पर फलमें नहीं। "**विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः**" (अ० २ श्लो० ७१) जो प्राणी सब कामनाओंको छोड तृष्णासे रहित होकर आचरण करता है वही जीवन्मुक्त है।

इन्हीं सिद्धान्तोंसे भगवान् कहते हैं, कि मैं सबकुछ करता हुआ भी फलकी इच्छा न रखनेसे अकर्ता ही रहता हूं। क्योंकि मुझे

कुछ भी कामना नहीं है। मैं सदा आप्तकाम (सर्वेच्छापूर्ण) हूं। सो तू अभी मुझसे सुनचुका है, कि "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन" (अ० ३ श्लो० २७) फिर जब मुझे कुछ कामना ही नहीं तो मैं कर्मके फंदे कैसे पड़ूं ?

अर्जुनने जो यह शंका कीहै, कि कर्ता और अकर्ता दोनोंका समावेश एक जगह कैसे होसकता है तिसका एक उत्तर तो होचुका। अब दूसरा उत्तर यों भी देना उचित होगा, कि जितने विरुद्ध-धर्म हैं वे केवल उस ब्रह्म ही में पायेजाते हैं। ये विरुद्ध धर्म दूसरे किसीमें नहीं होसकते। जिसमें सकल विरुद्धधर्म एक ठौर पायेजावें वही ब्रह्म है। क्योंकि ब्रह्मका जो विराट्-रूप है तिससे विलग तो कुछ है नहीं— गुण, अवगुण, पाप, पुण्य दुःख सुख, स्वर्ग, नरक, विष, अमृत, हानि, लाभ देवता, राक्षस, ब्राह्मण, कसाई, सुरूप और कुरूप सब उसके विराट्-रूपमें भासरहे हैं।

प्रमाण श्रुतिः— " सोऽहं नित्याऽनित्यो व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्मा-ब्रह्माहम् " अर्थ— मैं नित्य भी हूं, अनित्य भी हूं, व्यक्त भी हूं अव्यक्त भी हूं ब्रह्म भी हूं, अब्रह्म भी हूं तथा अणोरणीयान् महतो महीयान् " अर्थ— वह ब्रह्म छोटेसे छोटा और बडेसे बडा है अर्थात् बडा तो इतना है, कि सारा ब्रह्मांड जिसके एक रोममें है और छोटा इतना है, कि एक अदृश्य कीटमें भी है। इससे सिद्ध होता है, कि सब विरुद्ध-धर्म उस महाप्रभुमें ही हैं इसलिये यह सिद्ध होता है, कि कर्ता भी वही और अकर्ता भी वही है इसमें तनक भी सन्देह नहीं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न

स बध्यते] जो मुझको इस प्रकार कर्ता, अकर्ता, भोक्ता, अभोक्ता, छोटेसे छोटा, बडेसे बडा और फलोंकी स्पृहासे रहित मानता है वह प्राणी कर्मोंसे नहीं बांधाजाता । अर्थात कर्मोंके फलकी अभिलाषासे दुःखके कारागारमें नहीं पडता। क्योंकि कर्मोंके बन्धनमें पडनेका कारण केवल फलकी कामना ही है सो हे अर्जुन ! इसी प्रकार तू भी लाभ, अलाभ, जय और अजय जो तेरे युद्धकर्मके फल हैं उनकी आशा छोड निरहंकार हो युद्धकर्मका सम्पादन करले ! ॥ १४ ॥

फिर मैं तुझसे कहता हूं— सुन !

मू०— एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पदच्छेदः— एवम् (अनेन प्रकारेण) ज्ञात्वा (बुध्वा) पूर्वैः (अश्वपति, ययाति, जनक, प्रभृतिभिः) मुमुक्षुभिः (आत्मानन्देच्छुभिः) अपि, कर्म, कृतम् (निष्कामकर्म सम्पादितम्) [तथा] पूर्वैः (नारदवशिष्ठसनकप्रभृतिभिः) पूर्वतरम् (युगान्तरेषु । अति पूर्वम) अपि, कृतम् (सम्पादितम्) तस्मात (अतो हेतोः) त्वम् [अपि] एव (निश्चयेन) कर्म कुरु ! (सम्पादय !) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (एवम्) मैं कर्ता नहीं तथा मुझे कर्मफलकी इच्छा नहीं ऐसे (ज्ञात्वा) जानकर (पूर्वैः) तुझसे पहले अश्वपति, ययाति, जनकादिक (मुमुक्षुभिः) मोक्षाभिलाषी नरेशोंसे (अपि) भी लोकसंग्रहार्थ वा अन्तःकरणकी शुद्धिनिमित्त (कर्म कृतम्) कर्मोंका

सम्पादन कियागया । तथा (पूर्वैः) इनसे भी पहले नारद, वशिष्ठ, विश्वामित्रादि (मुमुक्षुभिः) मोक्षाभिलाषी महर्षियोंसे (अपि) भी (पूर्वतरम्) बहुत पहले कृतयुगमें लोकसंग्रहार्थ (कृतम्) कर्म कियागया है (तस्मात्) इसलिये (त्वमपि) तू भी (कर्म) अहंकार तथा फलकी इच्छासे रहित होकर कर्मोंको (कुरु) कर ! ॥ १५ ॥

भावार्थः—अब आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि हे अर्जुन ! देख ! हमलोग इस समय द्वापर-युगमें इस कर्मके विषय बातें कररहे हैं । तू ऐसा न समझ, कि इसी समयमें इस कर्मका वर्णन वा उपदेश कररहा हूं । वरु [**एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः**] ऐसा कामकर, कि निरहंकार और निस्पृह होकर कर्म करना बन्धनका कारण नहीं होता पूर्वके युगोंमें मोक्षकी इच्छा करने वाले अश्वपति, ययाति इत्यादि राजर्षियोंसे तथा भारद्वाज, याज्ञवल्क्य इत्यादि ब्रह्मर्षियोंसे भी सन्ध्या, हवन, तर्पण, दान तथा अश्वमेध इत्यादि यज्ञोंका सम्पादन कियागया है । ये कर्म करनेवाले जिनके नाम मैंने तुझसे कहे कर्तृत्वाऽभिमान छोडकर तथा फलोंको त्यागकर कर्म करते चलेआये हैं । तथा [**कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**] कृतयुग इत्यादि वा सृष्टिके आरम्भमें जो सनत्कुमार, नारदादि तथा मनु इत्यादि हुए हैं उनके द्वारा भी इसी प्रकार निरहंकार होकर कर्मोंके फलकी आशा छोड (**कर्म कृतम्**) निष्काम--कर्मोंका सम्पादन किया जाचुका है । (तस्मात्) इसलिये मेरे सिद्धान्तको मानकर तू भी कर्म कर ! अर्थात् युद्धका सम्पादन कर ! ऐसा मत कर, कि रण-भूमि छोड चुप बैठारहे

अथवा सन्यासी बनजावे । यहां "पूर्वतरम्" कहनेसे भगवान्का यह अभिप्राय है, कि " वेदोक्तत्वान्नत्वधुना केनचित्कल्पितम्" वेदोंमें कर्म करनेकी आज्ञा पहले ही दीगई है किसीसे इस समय कल्पित नहीं है अर्थात वेदका आरंभ कर्महीसे है सो वेद सनातन है इसलिये सदासे कर्म करनेका अधिकार प्राणियोंको चला आया है। यह कोई नवीन उपदेश वर्तमान ही कालके लिये नहीं है । कर्मका उपदेश सनातन है इसमें वेदका प्रमाण —

" कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समा एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे " (शु० य० अ० ४० मं०२)

अर्थात वेदमें मनुष्यकेलिये सौ वर्षकी आयु लिखी है इसलिये इस मंत्रमें कहते हैं, कि (इह) इस मनुष्य-लोकमें पंचमहायज्ञ, दर्श, पौर्णमास, वाजपेय इत्यादि कर्मोंको करता हुआ, कर्मफलकी इच्छा न करता हुआ पूर्ण सौ वर्ष जीना चाहे तो फलकी इच्छासे रहित होकर निष्काम-कर्मका अनुष्ठान करनेसे तुझ नर-रूपमें अर्थात् तेरे शरीरमें कर्म नहीं लिपट सकता इससे भिन्न और कोई उपाय अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मोक्ष प्राप्तिके लिये नहीं है । इस वार्त्ताको नैष्कर्म्यसिद्धिके २१वें सूत्रमें कहा है, कि " अतः सर्वाश्रमाणां हि वाङ्मनः कायकर्मभिः स्वनुष्ठितैर्यथाशक्ति मुक्तिः स्यान्नान्यसाधनात् " इसलिये सर्व आश्रम वालोंको वचन, मन और कायासे यथाशक्ति निस्पृह होकर कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। दूसरे किसी प्रकारके साधनसे नहीं होती । अर्थात् सकाम यज्ञादि साधन से नहीं होती । इस सूत्रसे भी यही सिद्ध होता है, कि निरहंकार

होकर कर्मोंके फलकी इच्छा छोड कर्म करनेसे मुक्तिलाभ होती है। दूसरा प्रमाण "न च क्रियात्मप्रतिलम्भकाल एव स्वर्गादि फलेन कर्तारं सम्बध्नाति" (नैष्कर्म सि० अ० १ सूत्र ३६) क्योंकि निष्कामकर्म करते—करते जब अन्तःकरणकी शुद्धिसे आत्माका उपलम्भन होता है, अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त होने लगता है तब क्रियाके फल जो स्वर्गादि हैं वे उसे ×बाधा नहीं करते। इसलिये भगवान् कहते हैं; कि पूर्वके राजर्षि तथा महर्षियोंने जिस प्रकार कर्मोंका सम्पादन किया है तू भी कर! ॥ १५ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन्! तुम्हारे कहने मात्रसे मैं कर्म करनेको उद्यत हूँ फिर तुमने इस कर्मके विषय नाना प्रकारके सिद्धान्तोंको दिखलाते हुए पूर्वैः पूर्वतरंका नाम लिया सो इतना बढाकर कहनेका क्या कारण है ? क्या इस कर्मके साधनमें कुछ विशेष

× यह वार्ता स्वाभाविक है, कि जब कोई प्राणी किसी राजा महाराजाके सम्मुख पहुंच जाता है तब उसे मंत्री, आमात्य वा कोतवाल इत्यादि नहीं सताते। जैसा, कि महात्मा नानकका वचन है—

तव गुण कहा जगत्गुरो जो कर्म न नाशै।
सिंह शरण कत जाइये जो जम्बुक त्रासै॥

अर्थ— हे जगत्गुरो! तुम्हारी शरण जानेका गुण ही क्या होगा जो शुभाशुभ कर्म नाश न होगये। यदि गीदडोंका भय लगाही रहा तो सिंहकी शरण जानेका फल ही क्या हुआ?

इसी प्रकार जब मनुष्य कर्म करते—करते आत्मज्ञानके सम्मुख होता है और भगवत्स्वरूपका उपलंभन होने लगता है तो अपने फलोंके सहित जितने उसके शुभा—शुभ कर्म हैं उसे छोडदेते हैं तथा आत्मज्ञानके उच्च शिखरपर चढनेमें नहीं रोकते।

रहस्य है ? यदि है तो मुझे समझाकर कहो, कि मैं भी विचार-पूर्वक कर्मोंका साधन करूं।

इतना सुन श्यामसुन्दर बोले अर्जुन! सुन —

मू०—किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
॥ १६ ॥

पदच्छेदः— किम् (कीदृशम्) कर्म (कर्मकरणम्) किम् (कीदृशम्) अकर्म (कर्माकरणम्) इति (एवम्) अत्र (अस्मिन् कर्मादि विषये) कवयः (मेधाविनः विवेकिनः ।) अपि, मोहिताः (अत्यन्त दुर्निरूपत्वान्निर्णयासामर्थ्यं प्राप्ताः । शंसयं-गताः) तत् कर्म (कर्माकर्मनिर्णयम्) ते (तुभ्यम्) प्रवक्ष्यामि (कथयिष्यामि) यत् (कर्माकर्मरहस्यं । स्वरूपं वा) ज्ञात्वा (विदित्वा । लब्ध्वा) अशुभात् (संसारात् । बन्धनात्) मोक्ष्यसे (मुक्तो भविष्यसि) ॥ १६ ॥

पदार्थः—(किं कर्म) कर्म क्या है (इति, अत्र) इस इतनेके विचारसे (कवयः) ज्ञानी लोग (अपि) भी (मोहिताः) संशयमें पडकर निर्णय करनेमें असमर्थ हैं (तत्कर्म) तिस कर्मको (ते) तेरेलिये (प्रवक्ष्यामि) मैं स्वच्छ रीतिसे कहूंगा (यत्) जिस कर्म और अकर्मके भेद वा स्वरूपको (ज्ञात्वा) जानकर तथा विधिपूर्वक जिसका अनुष्ठान करके (अशुभात्) संसार-बन्धनसे (मोक्ष्यसे) तू छूट जावेगा ॥ १६ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, उसके उत्तरमें श्री हरि अर्जुनसे बोले, कि हे अर्जुन ! मैंने जो पूर्वैः तथा पूर्वतरं पुरुषों की तुझे उपमा दी इससे तेरा चित्त संदिग्ध होगया और इसी कारण तू ऐसा समझ रहा है, कि कर्ममें कुछ न कुछ विशेषता या गुप्त-रहस्य अवश्य है । सो हे अर्जुन ! तेरी समझ ठीक है तूने जैसा समझा है ठीक-ठीक वैसी ही बात है । क्योंकि यह कर्म-कथा इतनी उलझाऊ है, कि [**किं कर्म किमकर्म्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः**] क्या कर्म है ? और क्या अकर्म है ? यह जानना अति ही कठिन है बडे-बडे बुद्धिमान ज्ञानी भी इसके निरूपण करनेमें असमर्थ हैं । इसी कर्म और अकर्मके समझानेके लिये श्रुति और स्मृतियोंने अनेक प्रकारके यत्न किये हैं । देखो ! यजुर्वेद, मीमांसा, नैष्कर्म्यसिद्धि इत्यादि ग्रथोंमें, अष्टादश स्मृतियोंमें तथा अष्टादश पुराणोंमें नाना प्रकारके विचार कियेगये । तथापि इसके अनुष्ठानके लिये भिन्न-भिन्न बुद्धिमानों की सम्मतिकी एकता न हुई । एक ही कर्मको कोई विहित कहता है और कोई अविहित कहता है । कृत-युगसे आजतक देश-कालके भेदसे कर्मोंके अनुष्ठानमें भिन्नता प्रवेश करती चली आई है । पर ऐसा ही होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये इसके निर्णय करनेमें बडे-बडे ज्ञानी, महात्मा, विद्वान् तथा तत्त्वदर्शी भी संशय ही में पडे रहे । कभी-कभी ऐसी उलझाऊ बातें विचारके संमुख आन पडती हैं, कि चुप होजाना पडता है । हे अर्जुन ! इस विषयमें तेरा चित्त सन्दिग्ध होगया तो आश्चर्य्य क्या है ? पर हे अर्जुन ! तू व्याकुल मत हो ! तू मुझसे कहचुका है, कि " **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** "

(अ० २ श्लो० ७) और फिर मैं तेरे साथ वचन हारचुका हूं और कहचुका हूं, कि " भक्तोऽसि मे सखा चेति " तू मेरा भक्त है और सखा है इसलिये मैं इस समय [तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि] तिस कर्म-कथाको तेरे लिये अवश्य कहूँगा। और इसके रहस्योंको स्वच्छ-रूपसे बताऊंगा। देख! केवल लोक-प्रसिद्ध परंपरा मात्र करके यह कर्म मुक्तिका साधन नहीं होसकता, अर्थात् केवल शास्त्रोंसे पढकर और इधर-उधरकी प्रसिद्ध बातोंको सुनकर कर्म करना कल्याण कारक नहीं है। जब तक देश-काल-वस्तुका विचार स्थिर न करलिया जावे तबतक कर्मका आरंभ करदेना उचित नहीं है। मिष्टान्न अत्यन्त स्वादु और गुणकारक है। दूध, मलाई, घृत इत्यादि पौष्टिक पदार्थ हैं। पर ज्वरीको ज्वर चढीहुई अवस्थामें देना विषके तुल्य हैं। इसीके प्रतिकूल संखिया विष है पर नपुंसकताके रोगको दूर करनेके लिये रोगीको मात्राका विचारकर देनेसे अमृतका गुण करती है। इसीलिये ये जो मूर्ख हैं वे एक समयकी खाई हुई औषधिको दूसरे समय भी आरंभ करदेते हैं। देश कालका विचार नहीं करते। पर जो बुद्धिमान् है वह चतुर वैद्योंसे पूछकर औषधिका प्रयोग करता है और रोगोंसे मुक्त होजाता है। कोई औषधि किसी देशमें लाभदायक है वही दूसरे देशमें हानि कारक है। वही औषधि जो शीतकालमें लाभदायक है ग्रीष्म ऋतुमें दुःखदायी होजाती है। वही एक औषधि किसी व्यक्तिको रोगोंसे मुक्त करदेती है और वही दूसरेको अधिक रुग्ण बनादेती है। इसी दृष्टान्तके अनुसार कर्मोंका भी भेद जानना। ये कर्म देश, काल और वस्तुके भेदसे श्रेय और अश्रेयके

करनेवाले होते हैं । इसलिये बुद्धिमान्‌को गुरुद्वारा उपदेश पाकर कर्मोंका अनुष्ठान करना उचित है । इसी तात्पर्य्यसे चारों युगोंसे गुरु-प्रणाली चली आई है और वेदोंकी भी आज्ञा है, कि " **प्राप्य वरान्निबोधत** " जिन लोगोंने अपने तपो-बलसे कर्मों का रहस्य जानकर अनुष्ठान करते हुए अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर ब्रह्मानन्द लाभ करलिया है तिनको प्राप्त करके अर्थात् तिनकी शरण जाकर आत्मज्ञानका उपाय जो कर्म तिसे प्राप्त करो । अर्थात् गुरु प्राप्त कर कर्मका साधन करो ! जैसे अग्निमें सुगन्ध और स्निग्ध द्रव्योंके साथ अन्नोंका हवन करना तथा घृतकी आहुति देना शुभ-कर्म है, स्वर्ग प्रदान करता है पर किसी प्राणीके गृहमें अग्नि लगी हुई देख घृतकी आहुति देवे तो महान् पापका भागी होगा। तथा वही काम-क्रीडा अपनी स्त्रीके साथ धर्म है और पराई स्त्रीके साथ महान् पाप है । इसी विषय पर पहले भी कहा जाचुका है।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! मैं तुझसे अवश्य इस रहस्यको कहूंगा [**यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्**] जिसको जानकर अनुष्ठान करनेसे तू अशुभ जो संसार-बन्धन तिससे छूटजावेगा ।

इस संसारको भगवानने अशुभ क्यों कहा ? सो यहां दिखलाया जाता है—

(आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्ते घोरे दुःखमहोदधौ घटीयंत्रवदारोहावरोहन्न्यायेनाधममध्यमोत्तमसुख-दुःखमोहविद्युच्चपलसंपातदायिनी विचित्रयोनिश्चण्डोर्मिजलकश्वसन वेगाभिहतांऽभोनिधि मध्यवर्तिशुष्कालाबुवच्छुभाशुभव्यामिश्रकर्मवायुसमीरितः)

श्लोक— एवं चङ्क्रम्यमाणोऽयम् विद्यया कामकर्मभिः।
पाशितो जायते कामी म्रियते चासुखावृतः॥

(नैष्कर्म सि० अ० १ सूत्र ४२)

अर्थात् (आब्रह्म) प्रजापतिसे लेकर (स्तम्ब) छोटे गुल्म (बनस्पतिकी कली) पर्यन्त घोर दुःखके महासागरमें घटीयंत्रके समान ऊपर नीचे करते हुए, अधम, मध्यम और उत्तम योनियोंको धारण करते-हुए सुख-दुःख और मोह रूप चंचल विजलीके संपात-रूप क्लेशको सहन करते हुए परम प्रचण्ड चारों ओर भ्रमानेवाली प्रलयकालकी वायु समान इस संसार-रूप महा घोर सागरके मध्य सूखी तूंबीके समान प्रचण्ड वायुसे धक्का पाकर लुढकते पुढकते हुए, दायें बायें होते हुए तथा ऊब डूब करते हुए क्षणमात्र भी कहीं स्थिति और शान्तिको नहीं पाते हुए, शुभ अशुभ कर्म-रूप प्रचण्ड वायुके वेगसे व्याकुलताको प्राप्त होतेहुए इधर उधर बहरहे हैं। तहां श्लोकका प्रमाण देते हैं, कि " एवम् चंक्रम्यमाणो ...." इस प्रकार अविद्या द्वारा यह जीव सूखी तूंबीके समान सकाम-कर्म-रूप प्रचण्ड वायुके वेगसे मारा हुआ उन्हीं सकाम-कर्मोंसे " पाशितो जायते " बांधा जाता है। कामी पुरुष कैसे मरजाता है? " असुखावृतः " दुःखात्मक-रूप कर्मोंसे घेरा हुआ मर-जाता है। इसी कारण भगवान्ने इसे अशुभ कहा और अर्जुनसे कहा, कि तू कर्मोंका रहस्य जानकर इस अशुभ अर्थात् संसार-बन्धनसे छुटजावेगा॥ १६॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन्! मैं तो मोटा-मोटी कर्म और

अकर्मको यों समझ रहा हूं, कि श्रुति स्मृतियोंकी आज्ञाको नेत्र, कर्ण, हस्त, पादादि इन्द्रियोंसे तथा मन, बुद्धि और वाणीसे प्रतिपाल करनेका नाम कर्म है और इसके प्रतिकूल सब छोड छाड चुप बैठ रहनेका नाम अकर्म है। पर यथार्थ क्या है? यह मुझे बताओ

इतना सुन योगेश्वर भगवान् बोले—

मू०— कर्मणो ह्यपि वोद्धव्यं वोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च वोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

पदच्छेदः— कर्मणः (शास्त्रविहितस्य आचारस्य) [तत्त्वम्] अपि, वोद्धव्यम् (ज्ञातव्यम्) विकर्मणः (निषिद्धस्य) [तत्त्वम्] च, वोद्धव्यम् (ज्ञातुं योग्यम्) [तथा] अकर्मणः (तूष्णीं भावस्य) [तत्त्वम्] च वोधव्यम् [अस्ति] हि (यस्मात्) कर्मणः (कर्म-विकर्माकर्मणाम्) गतिः (तत्त्वम्) गहना (दुर्विज्ञेया) ॥१७॥

पदार्थः— (कर्मणः) श्रुतिस्मृतिकी आज्ञानुसार जो विहित कर्म है उसका यथार्थ तत्त्व (अपि) भी (वोद्धव्यम्) जानने योग्य है। (विकर्मणः) शास्त्रोंसे निषिद्ध जो कर्मका तत्त्व है (च) वह भी (वोद्धव्यम्) जानने योग्य है तथा (अकर्मणः) कुछ न कर चुप बैठ रहना (च) वह भी (वोद्धव्यम्) जानने योग्य है (हि) क्योंकि (कर्मणः, गतिः) इन तीनों प्रकारके कर्मोंकी गति (गहना) अत्यन्त दुर्विज्ञेय है बडे कष्टसे भी इनका बोध नहीं होता ॥ १७ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो भगवानसे कर्मोंका यथार्थ तत्त्व पूछा है उसके उत्तरमें योगेश्वर भगवान् कर्म, अकर्म इत्यादिका विचार करतेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! **[कर्मणोह्यपि वोद्धव्यं वोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च वोद्धव्यम्]** कर्मके यथार्थ तत्त्वको भी जानना चाहिये क्योंकि यह तत्त्व जानने योग्य है तथा विकर्म जो निषिद्ध-कर्म वह भी जानने योग्य है तथा अकर्म जो कुछ न कर चुप बैठ रहना अथवा नहीं करने योग्य करना वह भी जानने योग्य है । वेदोंमें इनको बहुत ही विस्तार-रूपसे कहा है । पर इनका ज्ञान ठीक-ठीक होना दुस्तर है । देश, काल और वस्तुओंके भेदसे इनमें बखेडा पडजाता है । मैं तुझसे पहले ही कहआया हूं, कि यह बात बहुत ही उलझाऊ है । इसलिये इनका विचार सुन ! अब अनेक बुद्धिमान् शास्त्रज्ञों ने अपनी-अपनी बुद्धिद्वारा निर्णय करके कर्मोंके अनेक भेद कथन किये हैं सो यहां वर्णन कियेजाते हैं।

बहुतेरे शास्त्र कर्मके चार भेद कहते हैं- १. **निर्वर्त्यम्**, २. **विकार्य्यम्**, ३. **प्राप्यम्**, ४. **अनीप्सितम्**, तहां " **निर्वर्त्यकर्म** " वह है जिसमें कर्ताका अनायास कुछ व्यापार होवे जैसे " पुत्रम् प्रसुते " पुत्रको उत्पन्न करता है । २. " **विकार्य्य** " वह है जिसमें करनेवाला

टिप्पणी—कर्म (यत्क्रियते तत्) (कृ + मनिन) " कर्तुः क्रियया यद्व्याप्यते तद्वा क्रियाव्याप्यं कर्मेति " अर्थात् जो कुछ कियाजावे उसे कर्म कहते हैं । कर्ताकी क्रियाओंसे जो कुछ व्यापक है अथवा जो कर्ताकी क्रियामें व्याप्यं रहता है उसका नाम कर्म है । जैसे गान करना कर्म है सो जबतक गानेवाला अपना मुंह खोलकर सातों स्वरोंको भिन्न-भिन्न राग रागनियोंके साथ अलापता रहता है तब तक गान-कर्म उसमें व्याप रहा है ।

अपनी क्रियासे विकृत करदेवे। उसके और भी दो भेद हैं—

(क) "+प्रकृतेरुच्छेदकः" जैसे काष्ठको मोहन भस्म करता है और (ख) "प्रकृतेर्गुणान्तराधायकः" जैसे स्वर्णकार सोनेका कुण्डल बनाता है। ३. प्राप्य= वह है, जिसमें कर्ता कुछ प्राप्त करे जैसे ग्रामं गच्छति। चन्द्रम्पश्यति। ४. अनीप्सित= वह है जिसकी इच्छा न होनेसे छोड देवे। जैसे "पापन्त्यजति" वह पाप छोड देता है।

न्यायके मतसे कर्म्मके पांच भेद हैं १. उत्क्षेपणम्। २. अवक्षेपणम्। ३. आकुञ्चनम। ४. प्रसारणम। ५. गमनम। (भाषापरिच्छेद ६, ७) वेदान्तके मतसे उन्ही कर्म्मोंके तीन भेद हैं सात्विक, राजस, और तामस जिनका वर्णन विधिपूर्वक इसी गीताके अठारहवें अध्यायमें श्लो० २३, २४, २५ में किया गया है। फिर सञ्चित, प्रारब्ध, और क्रियमाण ये भी तीन भेद कहे गये हैं। फिर स्मृतियोंके मतसे कर्मके पांच भेद हैं नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त, और निषिद्ध तहां चारों वर्ण और आश्रमोंके भेदसे इनमें कई प्रकारके भेद हैं। तिनमें प्रथमके चार तो धर्म-मय हैं और पांचवां अधर्म-मय है। मीमांसाके मतसे चार प्रकारके कर्म हैं। इन्हीं कर्मोंमें कर्म, विकर्म, और अकर्म तीनों मिश्रित हैं। इसी कारण भगवान्

+ सदसज्जायते पूर्वं जन्मना यत् प्रकाशते। तन्निर्वर्त्यं विकार्य्यं च कर्म द्वेधा व्यवस्थितम्॥ प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं विकार्य्यं काष्ठभस्मवत्। अन्यद्गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादि विकारवत्॥ (भर्तृहरिः)

अर्जुनसे कहते हैं, कि **कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम**···· विधि जो करने योग्य कर्म हैं, वेद-शास्त्र द्वारा जिनके सम्पादनकी आज्ञा दीगई है तिनका यथार्थ तत्त्व जानने योग्य है। फिर विकर्मोंका भी तत्त्व जानने योग्य है। जितने कर्म श्रुति स्मृतियोंसे निषेध कियेगये हैं अर्थात् जिनके करनेकी आज्ञा नहीं दीगई है वे सब विकर्म कहेजाते हैं, तिनका तत्त्व भी जानने योग्य है। फिर तीसरा अकर्म है (**अकर्मणीयं कार्यं**) जो कार्य किसी विशेष अवस्थामें करनेयोग्य नहीं है, जैसे मृतक-शरीर के दाह करते समय गान करना अकर्म है। किसीके मतसे सब छोड छोड चुप बैठ रहना अर्थात उदासीन हो तूष्णीभाव होजाना भी अकर्म कहा जाता है। पर इस अर्थका समावेश सर्वत्र नहीं होसक्ता यह एकदेशिक अर्थ है। क्योंकि भगवान् पहले कहचुके हैं, कि "न हि कश्चित क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्" अर्थात् क्षणभर भी कोई प्राणी बिना कुछ कर्म किये नहीं रहसकता। इसलिये अकर्म अर्थात् कर्माभाव तो कभी हो ही नहीं सकता। यदि कोई पंडित अकर्म शब्दका यहां सन्न्यास अर्थ करलेवे तो थोडी देरके लिये मानने योग्य है, पर यह अर्थ भी एकदेशिक ही होगा क्योंकि सन्न्यासी जिस समय तक समाधिस्थ हो बैठा है, संभव है, कि उस समय तक कुछ न करे, पर समाधिके उत्थान होनेके पश्चात् तो उसे भी शारीरिक भोजन इत्यादिके करनेकी आवश्यक्ता हो ही गी। इसलिये अकर्म शब्दका यही अर्थ करना योग्य है, कि जो कार्य उत्तम हो वा निकृष्ट पर जिस समय करने योग्य नहीं उस समय करना अकर्म है। इसलिये भगवान कहते हैं, कि बुद्धिमानुको चाहिये, कि कर्म, विकर्म और

अकर्म इन तीनोंका विचार पूर्ण-प्रकार करे। क्योंकि [**गहना कर्मणो गतिः**] कर्मकी गति अत्यन्त दुर्विज्ञेय है, बहुत विचार करनेसे समझमें आती है। पूर्वमें महर्षियोंने बारम्बार इसपर विचार किया है। इसी कारण देश, काल और वस्तुके भेदसे इनके विचारोंमें भेद देखाजाता है। बहुतेरे प्राणी तो ऐसा समझते हैं, कि महात्माओंके वाक्योंमें परस्पर विरोध है, पर वह विरोध नहीं है, देश, काल और वस्तुके भेदसे विकल्प है ॥ १७ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन् ! इस समय तुमने नाना प्रकारके कर्मोंके नाम कथन किये और कहा, कि इन कर्मोंका निर्णय जानने योग्य है पर किसी प्रकारके कर्मका कुछ निर्णय नहीं कियागया । केवल तुमने इतना कहकर छोडदिया, कि " गहना कर्मणो गतिः " कर्मकी गति अत्यन्त कठिन है । तो हे दयासागर ! हमलोगोंको इन कर्मोंका बोध कैसे होगा ? इनके तत्व विधिपूर्वक कैसे जानेजावेंगे ? इसलिये कृपा कर इनका भेद पूर्ण-रीतिसे बतादो ! जिसे सुन मैं कर्मोंका अनुष्ठान करूं, विकर्मोंका त्याग करूं और सुकर्मोंका भी पूर्ण-विचार रक्खूं ।

यह सुन श्री गोविन्द बोले हे अर्जुन ! कर्मोंका स्वरूप तो मैं पीछे बताऊंगा पर पहले तुझे यह बताता हूं, कि कौन पुरुष इन कर्मोंको यथार्थरूपसे समझ सकता है । सुन !

मू०—कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्
॥ १८ ॥

पदच्छेदः — यः (पुरुषः) कर्मणि (देहेन्द्रियादि व्यापारे) अकर्म (कर्माभावम्) पश्येत (अवलोकयेत्) यः, च, अकर्मणि (कर्माभावे) कर्म (देहादि व्यापारम्) [पश्येत] सः (विवेकी) मनुष्येषु (नरेषु) बुद्धिमान् (तत्त्वदर्शी) [तथा] सः, युक्तः (योगी) [तथा] कृत्स्न-कर्मकृत (समस्त-कर्मकृत) [मन्तव्यः] ॥ १८ ॥

पदार्थः— (यः) जो पुरुष (कर्मणि) कर्ममें (अकर्म) अर्थात् कर्मका अभाव (पश्येत्) देखे (यः, च) और जो (अकर्मणि) कर्माभावमें (कर्म) कर्मको देखे (सः) सो ही पुरुष (मनुष्येषु) सब मनुष्योंमें (बुद्धिमान) विवेकी और तत्वदर्शी है, (सः) सो ही (युक्तः) योगी है सो ही (कृत्स्नकर्मकृत्) समस्त कर्मोंको पूर्ण किये हुये है ॥ १८ ॥

भावार्थः— श्री जगत्हितकारी गोलोकविहारीने जो अर्जुनके प्रति कर्मोंकी कठिन गतिके समझानेकी प्रतिज्ञा की है उस प्रतिज्ञाके आरम्भकेलिये इस श्लोककी रचना कर कहते हैं। इसके कहनेमें एक अद्भुत युक्ति दृष्टिमें आरही है । भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि यह विषय अत्यन्त गम्भीर है । इसके समझनेके लिये

प्राणियोंको सर्व विद्या सम्पन्न होना चाहिये । क्योंकि **कर्म, विकर्म** और **अकर्म** इन तीनोंका समाहार (एकता) कर्म ही में है । अर्थात् कर्म ही के प्रकरणमें इनकी गणना है । इसलिये इनका समझनेवाला कौन है ? उसके विषय भगवान् कहते हैं, कि [**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः**] कर्ममें जो अकर्म देखे और अकर्ममें जो कर्म देखे वही यथार्थ देखनेवाला है । तात्पर्य यह है, कि श्रुति-स्मृतियोंके वचनानुसार इस देह और इन्द्रियोंके तथा अन्तःकरणके जितने व्यापार हैं, चाहे वे जागरितमें हों वा स्वप्नमें हों वा सुषुप्तिमें हों, विहित हों वा अविहित हों, नित्य हों वा अनित्य हों, काम्य हों वा निषिद्ध हों, राग द्वेष लेकर हों अथवा परमार्थ-बुद्धि से हों, लौकिक हों वा पारलौकिक हों, स्वयम् अपनी इच्छासे कियेगये हों अथवा किसी अन्य प्राणीकी प्रेरणासे कियेगये हों, शुद्धात्मक हों वा भ्रमात्मक हों, निष्कृत्य हों, वा विकार्य्य हों, प्राप्य हों वा अनीप्सित हों, तथा सात्विक हों, राजस हों वा तामस हों । किसी प्रकारके व्यवहार क्यों न हों, सब कर्म ही के अन्तर्गत कहेजावेंगे । क्योंकि ये जितने कर्म कहेगये हैं इन्हींके अन्तर्गत जो विहित हैं वे सुकर्म और जो अविहित हैं वे विकर्म अर्थात् निषिद्ध कहेगये हैं । इसलिये इन दोनोंको पहले समाहारकरके भगवान्ने **कर्म** नाम रखा। और इन्हीं **कर्मोंमें** जो **अकर्म** देखे वही यथार्थ देखनेवाला है । अब यह जानना चाहिये, कि " **अकर्म** " कहनेसे भगवान्के तीन मुख्य अभिप्राय हैं:- प्रथम तो **कर्माभाव** अर्थात् कर्मोंका एकबारगी नहीं होना, दूसरा यह, कि जो कर्म जिस देश वा कालमें एक बारगी करने योग्य नहीं है उस

देशकालमें करना और तीसरा जो किसी भी कालमें करने योग्य नहीं है उसे करना ।

यहां पहले कर्मके अभावका अर्थ लेकर विचार कियाजाता है- यद्यपि अकर्मसे भगवान् एक बारगी कर्माभाव नहीं लेते क्योंकि पहले कहचुके हैं, कि "**न हि कश्चित्त्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**" कोई प्राणी एक क्षण भी बिना कुछ किये नहीं रह सकता। तथापि जिज्ञासुओंके समझानेके तात्पर्यसे थोडी देरके लिये **अकर्म**का अर्थ कर्माभाव करके दिखलाया जाता है । सो सुनो !

कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखना साधारण पुरुषोंका काम नहीं है वरु बडे बुद्धिमानोंका काम है ।उसे यहां दृष्टान्त देकर दिखलाते हैं । जब मनुष्य नदीके पार जानेके तात्पर्यसे नौकापर चढता है और नदीके एक किनारेसे जब नौका चलपडती है तो पार जानेवालेको ऐसा भ्रम होता है, कि मैं तो स्थिर खडा हूं और नदीके तटके पर्वत, वृक्ष और ग्राम सब चलरहे हैं । अर्थात् पारजानेवाला अपने गमन-रूप कर्ममें अगमन और ग्रामोंके **अगमन**-रूप कर्ममें **गमन** क्रियाका भ्रम करता है सो ऐसा भ्रम बाल-बुद्धिवालोंका है पर जो बुद्धिमान् नौकापर चढनेवाला है वह उन ग्रामोंके गमन-रूप कर्ममें अगमन और अपने अगमन-रूप कर्ममें गमन देखता है इसीको कर्ममें अकर्म और

टिप्प०— नौस्थस्य नावि गच्छन्त्यां तटस्थेष्वगतिषु नगेषु प्रतिकूलगतिदर्शनात् ।

अकर्ममें कर्मका देखना समझो । इसीको यथार्थ देखना बुद्धिमानोंका काम है। जैसे आकाशके सूर्य, चन्द्र, तारागण, तथा दूरस्थ प्राणीगण देखनेमें स्थिर और अचल चुपचाप एक ठौरमें स्थित देख पडते हैं, पर विचारकी दृष्टि द्वारा देखनेसे वे बडे बेगसे दौडे चले जारहे हैं । केवल दूरदर्शन दोषसे सबके-सब स्थिर देख पडते हैं । बुद्धिमान् इनको अकर्ममें कर्म देखता है । जो बुद्धिमान् तत्वदर्शी हैं वे तत्व-साक्षात्कार दर्शन बुद्धिसे इन सब कर्मोंकायथार्थ तत्व देखते हैं ।

अब अकर्ममें कर्मका एक दृष्टान्त और भी सुनिये—

एक साधु किसी स्थानमें चुप बैठे थे । एक मृगा व्याधाके बाण से घायल हो उनके सम्मुख होकर निकलगया । व्याधा बाण अनुसन्धान किये जब उनके समीप आया तब वह नेत्र बन्द कर चुप बैठ रहे। व्याधाने पूछा भगवन्! मेरा मृग इधर आपने देखा है ? महात्मा आंखें बन्द कियेरहे कुछ न बोले । अब बुद्धिमान विचारेंगे, कि महात्माका चुप बैठरहना अकर्म नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्षमें तो कर्माभाव देखा जाता है पर यथार्थमें यह एक बहुत बडा श्रेष्ठ कर्म हुआ, जिससे मृगका प्राण बचा । इसी प्रकार जो बुद्धिमान हैं वे अकर्ममें कर्म देखते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि तत्वदर्शियोंकी दृष्टिमें सकामकर्म अकर्मके समान हैं और निष्काम-अकर्म कर्मके समान हैं। अब बुद्धिमानोंको यों विचारना है, कि कर्मोंके साधनका मुख्य तात्पर्य्य क्या है ?

तो इस गीता-शास्त्रमें श्यामसुन्दर बार-बार अर्जुनके प्रति यही कहते हैं, कि कर्मोंको निष्काम करना चाहिये जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होकर मोक्षकी प्राप्ति होवे । जो बुद्धिमान् है वह अकर्ममें कर्म और कर्ममें अकर्म देखता है । इस श्लोकका आध्यात्मिक अर्थ यों होगा, कि अकर्ममें जो ब्रह्म सर्व प्रकारके कर्मोंसे रहित है, अज्ञानी उसे सम्पूर्ण प्रपंचमें क्रियायुक्त देखता है । पर जो ज्ञानी है वह उस ब्रह्मको सदा निर्विकार निर्लेप और निष्क्रिय देखता है । यद्यपि यह ब्रह्म ही सब कुछ करता हुआ देखपडता है, तथापि बुद्धिमान् तथा युक्त (योगी) और कृत्स्नकर्मकृत् प्राणीकी दृष्टिमें सदा अक्रिय है । कुछ भी नहीं करता ।

शंका— कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मदर्शन असम्भव है ? क्योंकि पहले श्यामसुन्दर कहआये हैं, कि "**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**" (देखो अ० २ श्लो० १६) भावमें असत् और असत् में भाव नहीं होसकता । इसी प्रकार जो कर्म है उसमें कर्मका अभाव कैसे होसकता है ? और जो अकर्म जहां कर्मका अभाव है वहां कर्मकी प्रतीति कैसे होसकती है ?

समाधान— मूढ पुरुषोंमें उलटी दशा होती है देखो मृगतृष्णा में जहां जलका अभाव है जलकी प्रतीति होती है पर जो ज्ञानी तत्वसाक्षात्कारवाले हैं उनकी दृष्टिमें तो यथार्थ मृगतृष्णा मृगतृष्णा ही दीखपडती है । इसी प्रकार अज्ञानियोंकी दृष्टिमें यह पृथ्वी, जो गेंदके

समान लुढकती हुई चलती है, सो स्थिर देखपडती है पर ज्ञानी ज्योतिर्विद् पृथ्वीको चलती हुई जानते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी, बुद्धिमान् और तत्वदर्शी जानते हैं, कि प्रकृतिके तीनों गुण सर्व व्यवहारोंको कराहे हैं। मैं जो आनन्दस्वरूप नित्यसत्वस्थ, निर्द्वन्द्व आत्मा हूं सो सदा इन सांसारिक क्रियाओंसे रहित हूँ। कुछ नहीं करता। अज्ञानियोंको भी यदि ऐसा वोध होजावे तो फिर वे अज्ञानी क्यों कहेजावें? वे तो ज्ञानी होकर मुक्त होजावें। इसी कारण मूढ और अज्ञानी कर्मोंका रहस्य नहीं जानते, वे तो जो कुछ प्रत्यक्ष देखते हैं उसीको सत्य मानते हैं " अकर्मको अकर्म " और " कर्मको कर्म " पर जो तत्वदर्शी हैं वे कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखते हैं क्योंकि तत्वदर्शियोंकी दृष्टिमें अन्तर्मुख-बुद्धिसे कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखपडता है। इस वार्तासे यह सिद्ध होता है, कि अज्ञानियोंका अकर्म बुद्धिमानोंका कर्म है और बुद्धिमानोंका कर्म अज्ञानियोंका अकर्म है। दोनोंकी दृष्टिमें एक दूसरेके प्रतिकूल भासता है। इसलिये भगवान् पहले कहआये हैं, कि ज्ञानियोंकी रात्रि अज्ञानियोंका दिन है और अज्ञानियोंका दिन ज्ञानियोंकी रात्रि है (देखो अ० २ श्लो० ६९)

अब एक दूसरा रहस्य इस कर्म और अकर्मके विषयमें यह है, कि कर्म कहते हैं " देहेन्द्रियादिके व्यापारोंको " जब ये सब अपने-अपने स्थानमें प्रपंच वा परलोकके साधन निमित्त साधन किये जाते हैं तबतक इनका नाम कर्म है। पर जब इन कर्मोंसे कोई भी तात्पर्य्य नहीं रहता अर्थात् किसी भी फलकी इच्छा नहीं रहती तब इन्हीं कर्मोंका नाम अकर्म है। अर्थात् कर्म कहिये वन्धनको और अकर्म कहिये मोक्ष (छुटकारा) को। जो प्राणी इतना समझलेता है, कि एवम् प्रकार विधि और

निषेधका व्यवहार करनेसे किसी प्रकारका बन्धन नहीं होगा वही प्राणी बुद्धिमान् है।

तीसरा रहस्य कर्म-अकर्मका यह भी है, कि—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

(अध्याय १७ श्लोक २८)

अर्थात् श्रद्धारहित होकर जो होम, दान, तप अथवा और कुछ कर्म किया जाता है वह असत् कहलाता है उसका फल न परलोकमें होता है न इसी लोकमें कुछ होता है। इसलिये श्रद्धा-रहित-कर्मको भी अकर्म ही कहना चाहिये। बुद्धिमानोंके विचारसे यह भी सिद्धान्त कियागया है, कि किसी किसी दशामें अकर्म (कर्म नहीं करना) विकर्मके समान है, घोर पाप लगता है। जैसेगैया पंकमें फंसगई हो अथवा किसीका घर जलरहा हो उस समय जो त्यागी सब कर्मोंके त्यागका अभिमान किये हुए उस गैयाको पंकसे न निकाले अथवा उस घरकी आग बुझानेकेलिये जल लेकर न दौडे तो ऐसे पुरुषका कर्म-रहित होना मोक्षका कारण नहीं होसकता। ऐसा अकर्म विकर्मके समान है। उसको गोवध तथा घरमें आग लगानेका पाप लग सकता है। इसीके प्रतिकूल मानलियाजावे कि गंगास्नानके पर्वमें एक प्राणी स्नानको न जाकर केवल श्यामसुन्दरके स्वरूपमें मग्न है, तो ऐसे प्राणीका गंगास्नान न करना यद्यपि अकर्म है पर

अकर्ममें उसकी गणना नहीं कीजासकती । क्योंकि गंगा जिसके चरणकी धोयन है वह स्वयं जिसके हृदयमें विराजरहा है, तो ऐसा अकर्म करोडों सुकर्मोंके समान है।

इसी प्रकार यदि चोर, डाकू, लुटेरे, चाण्डाल, हत्यारे इत्यादिका दण्ड राजा न करे तो यद्यपि यह अकर्म है पर यह विकर्मके तुल्य है। क्योंकि ऐसा न करनेसे प्रजाको घोर कष्टकी प्राप्ति होगी। सत्य बोलना कर्म है, पर जिस सत्यसे हिंसा हो वह विकर्म है। मिथ्या-भाषण विकर्म है पर जिस मिथ्यासे सहस्रों, लाखों प्राणियोंका उपकार होना सम्भव हो तो वह कर्म ही है। ऐसे ऐसे सहस्रों उदाहरण मिलेंगे जिनसे यह सिद्ध होगा, कि बहुतेरे विकर्मोंमें अकर्म अथवा +कर्म सिद्ध होते हैं। तथा बहुतेरे अकर्ममें कर्म वा विकर्म सिद्ध होता है। इसका विचार कठिन है इसी कारण भगवानने पहले कहा, कि " गहनाकर्मणो गतिः " कर्मकी गति कठिन है। जो इनको वास्तवरूपसे देखता है वही बुद्धिमान् है।

+ " द्विविधं कर्मणि कर्मदर्शनं परोक्षमपरोक्षं च " कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखना दो प्रकारसे होता है। परोक्ष-दर्शन और अपरोक्ष-दर्शन तहां परोक्ष दर्शनका अर्थ यह है, कि जिस कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म गुप्तरूपसे स्थित हों, अर्थात् जो बाहरसे देखनेमें कुछ और हो पर भीतरसे मुख्य अभिप्राय कुछ अन्य प्रकारका हो, कि केवल देखने ही से वा झट करदेने ही से सर्व साधारणको यह पता न लगे, कि यह यथार्थमें कर्म है वा अकर्म है। पर जो बुद्धिमान् है, गुरुद्वारा मीमांसा करचुका है वही समझ सकता है।

अब सुकर्ममें विकर्मका संश्लेष दिखलाते हैं, जैसे कृषिकार जब अन्नका बीज अपने क्षेतमें डालता है, तो अन्न उत्पन्न होनेसे पहले ही निरर्थक घास इत्यादिका वन उपज जाता है। इसी प्रकार कर्मोंके अनुष्ठानकी पूर्ति तथा उनके फलके उदय होनेसे पूर्व नाना प्रकारके * अकर्म अर्थात् अविहित कर्म प्रकट होजाते हैं जिनको केवल बुद्धिमान् अनुभव करते हैं। जैसे × अश्वमेधयज्ञ जो उत्तम कर्म है उसमें पशुओंको मारकर मज्जा और मेदसे हवन करना अविहित कर्म देखा जाता है। अर्थात् घोर हिंसा जो वेद शास्त्रोंने भी रोकी है सो देखी जाती है, पर ऐसा जानना चाहिये, कि यह यज्ञवाली हिंसा केवल अज्ञानियोंकी दृष्टिमें देख पडती है, ज्ञानियोंकी दृष्टिमें नहीं। क्योंकि यह हिंसा, हिंसा नहीं वरु पशुओंको मारकर उनके अनेक जन्मोंके आवागमनको बचाकर मुक्तकर देना है जिसे केवल बुद्धिमान् ही समझ सकते हैं अन्य प्राणी नहीं।

---

* यहां अकर्मका अर्थ विकर्म लेना।

× यही अश्वमेधयज्ञकी विधि है। यह अत्यन्त श्रेष्ठकर्म है। जिसका फल अपनी-अपनी कामनानुसार किसीको मोक्ष, किसीको ब्रह्महत्या पापकी निवृत्ति और किसीको स्वर्गलाभ होता है। तहां आपस्तम्भका प्रमाण है, कि " राजा सार्वभौमो अश्वमेधेन यजेत् " जो राजा चक्रवर्ती है वह अश्वमेध द्वारा यजन करे। फिर विष्णुपुराणका वचन है, " कि अनुपपातकिनः सर्वेते महापातकिनो यथा। अश्वमेधेन शुद्ध्यन्ति तीर्थाटनेरेण वा। " अर्थात् अश्वमेधसे अथवा तीर्थाटनसे उपपातकी और महापातकी शुद्ध होजाते हैं। इन पातक और महापातकोंका वर्णन पृष्ठ ८९६ में देखो।

" प्राणवियोगानुकूलव्यापारो हिंसा " शरीरसे प्राण वियोग होनेके अनुकूल व्यापार करनेका नाम हिंसाहै। क्योंकि प्राण-वियोग होते समय प्राणीको घोर क्लेश होता है इसका कारण यह है, कि प्राणी जागरित, स्वप्न वा सुषुप्तिमें मारे जानेसे अनेक प्रकारके कष्ट पाता है। यदि जागरितमें प्राणका वियोग हुआ तो न जाने कितने कालतक कष्ट सहन करता हुआ फिर मनुष्य योनिमें आता है। स्वप्न-में मारे जानेसे पशु पक्षीकी योनि पाता है। और सुषुप्तिमें मारेजानेसे वृक्षादि स्थावर-शरीर पाता है। इसलिये इन तीनों अवस्थाओंमें जीवोंका मारना हिंसा है पर तुरीय अवस्थामें मारे जानेसे मुक्त होजाता है। इसलिये अश्वमेधादि यज्ञोंमें पशुओंको तुरीय अवस्थामें लाकर इनके प्राणका वियोग कराते हैं जिससे वह प्राणी तनक भी कष्ट न पाकर एक बारगी शान्तस्वरूप हो मुक्ति लाभ करता है। सो तुरीय क्या है ? तहां श्रुतिका प्रमाण सुनो !

श्रु०— ॐ नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञा-नघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् .... (माण्डू० श्रु० ७ में देखो)

अर्थ— जिस अवस्थामें न 'अन्तःप्रज्ञ' हो अर्थात् स्वप्न न हो। न 'बहिःप्रज्ञ' हो अर्थात् जागरित भी न हो। न 'उभयतःप्रज्ञ' हो अर्थात् स्वप्न और जागरित दोनोंकी मिलीहुई अवस्था भी न हो। न 'प्रज्ञानघन' हो अर्थात् सुषुप्ति भी नहीं हो। तात्पर्य्य यह है, कि न 'प्रज्ञ' हो और न 'अप्रज्ञ' हो अर्थात् जिस समय न तो किसी बस्तुका जाननेवाला हो न नहीं जाननेवाला हो। केवल शान्तस्वरूप हो

और शिवस्वरूप हो अर्थात् परम मंगलस्वरूप हो । सब विकारोंसे रहित आत्मानन्द-मय हो । उसी अवस्थाको तुरीयावस्था कहते हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें तो सब प्राणियोंपर बीतती हैं, पर यह चौथी तुरीयावस्थाका केवल योगियोंको अनुभव होती है। इस चौथी अवस्थामें प्रज्ञा ब्रह्मानन्दमें लय होकर परमानन्द-स्वरूप होजाती है प्रपंचका तनक भी लेश नहीं रहता है। जीवन्मुक्त होजाता है। (देखो अध्याय २ श्लो १८)

अनेक सिद्धान्तोंसे यह सिद्ध कियागया है, कि राग-रागनीद्वारा सप्त-स्वरोंके अलाप करनेसे पशुओंमें भी तुरीयावस्थाकी प्राप्ति होती है। इसी कारण गोमेध अथवा अश्वमेध इत्यादिमें गऊ अथवा अश्व जब यज्ञशालामें बलिदानके निमित्त लाये जाते थे तब उनपर तुरीयावस्था प्रकट करनेकी आवश्यकता होती थी । क्योंकि जबतक उनपर तुरीयावस्था न आवे तब तक उनको वध करना महा घोर पाप है। और हिंसाका दोष लगता है । इसलिये तिन पशुओंपर तुरीयावस्था प्रकट करनेके लिये उनकी चारों ओर यज्ञशालामें विप्रवृन्द सामवेदको सप्त स्वरोंसे अलापते थे। तथा भिन्न-भिन्न मंत्रोंद्वारा वे पशु मंत्रित किये जाते थे जिससे उनमें शीघ्र तुरीयावस्था आजावे। खड्ग छोडने वाला खड्ग लिये उस पशुकी दाईं ओर खडा होता था और तुरीयावस्थाको जाननेवाले महात्माओंमें से कोई एक महापुरुष उस पशुका साक्षी होकर अपनी तर्जनी सीधी आकाशकी ओर उठाये रहता था। और खड्ग छोडने वाला उस साक्षीसे पूछता जाता था, कि बता उस

पशुपर वह अवस्था आई ? जिसमें इसपर खड्ग छोड़ूं । जब साक्षीने देखा, कि अब इस पशुपर तुरीयावस्था आगई, झट वह अपनी सीधी अंगुलीको नीचे मुंह गिरा देता था जिससे यह संकेत समझाजाता था, कि इसपर तुरीयावस्था आगई फिर तो जैसे उसपर तुरीया आई, खड्ग वालेने झट उसके गलेपर तलवार डाली। पशु तो मुक्त होगया और उसके मेद और मज्जासे हवन सम्पादन हुआ ।

ऐसा करनेसे गऊ और अश्व अज इत्यादि सभी मुक्त होजाते थे । यदि उस पशुपर तुरीयावस्था न आई तो छै छै महीने तक यज्ञ पड़ा रहता था । पशुको बध नहीं करते थे क्योंकि जबतक तुरीया नहीं आवेगी तबतक बध करना घोर पाप है ।

पशुओंपर इस तुरीयाके प्रकट होनेकी पहचान यह है, कि पशुकी दोनों पुतलियां भउहोंके भीतर प्रवेश करजाती हैं । मस्तक कुछ नीचे झुकजाता है और रोंगटे खड़े होजाते हैं । पशुओंको अनेक जन्मोंके बन्धनोंसे छुडाना परम उपकार है सो इन यज्ञोंसे होता है ।

बुद्धिमान् विचार करसकते हैं, कि इस हिंसारूप अकर्ममें सुकर्म देखा जाता है जिसे देख महात्माओंने अश्वमेधादि निकाला और वेदोंसे सिद्ध किया । अब यहां प्रत्यक्ष अश्वमेधरूप कर्ममें हिंसारूप अकर्म देखा गया फिर उस हिंसारूप अकर्ममें पशुओंका परम उपकार रूप कर्म देखा गया है । इसलिये महात्माओंने सर्वप्रकार प्रत्यक्षमें अकर्म देखते हुए भी इस कर्मको विहित किया। क्योंकि यद्यपि प्रत्यक्षमें अकर्म है पर यथार्थमें बुद्धिकी दृष्टिद्वारा देखनेसे अकर्म नहीं ।

दूसरी बात यह है, कि जितने जीव श्राद्धमें वा यज्ञोंमें लायेजाते हैं सबोंको सोमरस पिलाया जाता है इस सोम रसके पिला देनेसे कीट पतंग भी तुरीयावस्थित होसकते हैं। फिर मत्स्य, कच्छ, वाराह, मृग इत्यादिके तुरीयावस्थित होनेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये। इसलिये यज्ञोंमें सोमरसकी प्रधानता है। अब इस तुरीय-विद्याके अभावके कारण ये सब यज्ञ रोके गये। सो भगवान् स्वयं कहते हैं, कि "**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप**" (देखो श्लोक २) अर्थात् बहुत कालसे योगके नष्ट होजानेसे तुरीयावस्थाका तथा इस अवस्थाके जाननेवालेका अभाव होगया है। क्योंकि यह तुरीयां योग ही द्वारा योगियोंको प्राप्त होती थी।

कलियुगमें कौन-कौनसे कर्म रोक दिये गये सो दिखलाते हैं-

दीर्घकालं ब्रह्मचर्य्यं नरमेधाश्वमेधकौ।
महाप्रस्थान गमनं गोमेधं च तथा मखम्।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥

(बृहन्नारदीये)

अर्थात् ३६, ४८ वा ६० वर्षका ब्रह्मचर्य तथा नरमेध, अश्वमेध महाप्रस्थानगमन (दूरदेशका जाना) फिर गोमेध ऐसे-ऐसे अनेक प्रकारके कर्म जिनके अन्तर्गत नाना प्रकारके गूढ रहस्य थे बुद्धिमानोंने कलिके लिये वरज रक्खे हैं। तिसका मुख्य कारण यही हैं, कि कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मका विचार उठगया।

प्रिय पाठको ! यह अर्थ केवल अभिनवगुप्ताचार्यके मतानुसार है क्योंकि अकर्म शब्दका अर्थ उन्होंने "अविहितकर्म" किया है और उनका तात्पर्य यही है, कि कर्ममें जो अविहित कर्म है उसका विचार करना बुद्धिमानोंको उचित है। उन्होंने अपने भाष्यमें लिखा है, कि "**कर्माकर्मणोर्विभागो दुष्परिज्ञानः । तथा कर्मण्यपि मध्ये दुष्टम् कर्मास्ति अग्निष्टोमेहनि पशुबधः** "। **विरुद्धेपि च कर्मणि शुभमस्ति यथा हिंस्र प्राणिबधे प्रजोपतापाभावः** । अर्थात् कर्म और अकर्मके विभागका ज्ञान अत्यन्त कठिन है क्योंकि कर्ममें भी दुष्कर्म अर्थात् नहीं करने योग्य जो कर्म सो देखा जाता है। जैसे अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञमें पशुबध। फिर इसके प्रतिकूल **शास्त्र-विरुद्ध** कर्मोंमें अर्थात् अकर्मोंमें शुभ-कर्म देखेजाते हैं। जैसे डाकू, लुटेरे इत्यादि के दण्ड करनेमें प्रजागणके दुःखोंका नाश होता है। यह "**परोक्ष-कर्मदर्शन**" का दृष्टान्त दिखलाया गया। इसी प्रकार अन्य कर्मोंमें भी समझलेना।

अब "अपरोक्षदर्शन" का दृष्टान्त दिखलाते हैं —

अर्थात जिसको प्रत्यक्ष देख रहे हैं, कि कर्म है, वा अकर्म जो प्रत्यक्षमें **कर्म** है तो यथार्थमें भी कर्म है और जो प्रत्यक्षमें **अकर्म** है तो यथार्थमें भी अकर्म है। तिसके दो भेद हैं **उपास्यसाक्षात्‌रूप** और **तत्त्वसाक्षात्काररूप** । उपास्य साक्षात्‌रूप उसे कहते हैं, कि जिसमें उस क्रियासे जिस अभिप्रायका तात्पर्य्य रहता है वही अभि-

प्राय साक्षात्कार हो। क्योंकि जो उपासना किया जावे उसे उपास्य कहते हैं। सो प्रत्येक प्राणीके हृदयमें अपने—अपने कर्मद्वारा किसी विशेष फलकी उपासना रहती है। तिसके फिर दो भेद हैं "व्याकृत" और "अव्याकृत" व्याकृत उसे कहते हैं जो कार्य्य-रूप सूत्रात्मासे सम्बन्ध रखता हो। जैसे धारणा, ध्यान इत्यादि जिनके द्वारा केवल आत्मिक उन्नतिका साक्षात्कार होता है, और "अव्याकृत" उसे कहते हैं जिसका फल जगत्के कारणरूप प्रकृतिके साक्षात्कारसे सम्बन्ध रखता हो। जैसे "पुत्रेष्टियज्ञ" इत्यादि जिसका फल पुत्रका होना है जो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इसी प्रकार भोजनसे क्षुधाकी शान्ति और जलसे पिपासाकी शान्ति। पर इस "उपासनासाक्षात्काररूप" कर्ममें जो अहंकारने प्रवेश किया तो उसे अकर्म ही कहना चाहिये। इसलिये जो विद्वान् है वह चाहे व्याकृत हो वा अव्याकृत हो दोनों दशाओंमें अहंकार-रहित होकर कर्म करता है और उन कर्मोंके फलसे निरहंकार होकर केवल अपने अन्तःकरणकी शुद्धि-निमित्त कर्म करता है।

यहां तक उपासनासाक्षात्काररूपदर्शन कर्मका वर्णन हुआ। अब तत्त्वसाक्षात्काररूपदर्शनका वर्णन सुनो—

"तत्त्वसाक्षात्काररूपकर्म" के जाननेवाले वे हैं जिन लोगोंने कर्मके केवल फल ही की इच्छा नहीं रक्खी है वरु उस यथार्थ कर्मसे क्या सच्चा तात्पर्य्य है ? उसके जाननेमें अपनी बुद्धि लगादी है। भगवान् कहते हैं, कि इस प्रकार जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मको

देखनेवाला है [**स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्** । सो ही मनुष्योंमें बुद्धिमान है । सो ही युक्त है । अर्थात् ब्रह्मका साक्षात्कार किये हुए एक ध्यानमें स्थित है । वही "कृत्स्नकर्मकृत है । कृत्स्नकर्मकृत् उसीको कहना चाहिये जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके कर्म और अकर्म तथा विकर्म को भली भांति जानता हुआ सबकुछ करता है । पर कहीं से किसी कर्ममें लिप्त नहीं होता ।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर ! तू भी अपने वंशजोंके साथ युद्धका सम्पादन कर ! इस अकर्ममें तू कर्मका विचार कर ! क्योंकि युद्धमें जितने प्राणी तेरे हाथसे मारे जावेंगे उनके सम्मुख मेरी मूर्त्ति मरणके समय तैयार मिलेगी। दूसरी बात यह है, कि इनमें अन्यायी नरेशोंकी वृद्धि होगई है, जिनके अन्यायसे प्रजा दुखी होरही है । इनके बध होनेसे प्रजा सुखी होगी । अन्यायी, पापी और कुमार्गी पृथ्वीके बोझ होते हैं । सो इस रण-भूमिमें अनगिनत एकत्र होगये हैं उनके नष्ट होजानेसे पृथ्वीका बोझ कम होगा । इसी प्रकारके अनेक विहितकर्म इस अकर्ममें देखे जाते हैं । इनमें "अपरोक्ष" और "परोक्षदर्शन" दोनों प्रकारके कर्म-दर्शनका संयोग आन पड़ा है । सो विचारकी दृष्टिसे देखनेसे तू धीरे-धीरे समझता चला जावेगा । धीरे—धीरे मेरे इन उपदेशोंको विचारतेहुए तू "कृत्स्नकर्मकृत् " होजावेगा । क्योंकि जो लोग "तत्त्वसाक्षात्काररूपकर्मदर्शन" के अधिकारी हैं वे ही "कृत्स्नकर्मकृत्" कहे जाते हैं ।

प्रश्न—तत्त्वसाक्षात्काररूप कर्मदर्शनका मुख्य अभिप्राय क्या है ?

उत्तर— जितनेकर्म हैं अर्थात् देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणके जितने व्यापार हैं सबोंमें दो गुप्त शक्तियां हैं । एकतो मांगीहुई कामनाकी पूर्ण करदेनेवाली शक्ति । और दूसरी आपसे आप बिना मांगे फल उत्पन्न करनेवाली शक्ति । जैसे जलपानरूप कर्ममें मांगीहुई कामना जो पिपासाकी शान्ति है तिसकी पूर्ण करनेवाली शक्ति वर्त्तमान है । और इसीके प्रतिकूल विषपानरूप कर्ममें जो प्राण-घातरूप बिना मांगाहुआ फल है तिसकी पूर्ण करदेनेवाली शक्ति वर्त्तमान है ।

एवम् प्रकार कर्म अथवा विकर्म दोनों प्रकारकी शक्तियोंको पूर्ण-प्रकार जान यथार्थ तत्त्वका समझजाना तत्त्वसाक्षात्काररूप कर्मदर्शनका मुख्य अभिप्राय है । इसके जाननेवाले कृत-कृत्य इसलिये कहेजाते हैं, कि उनको फिर किसी कर्मके साधनकी आवश्यकता नहीं रहती, पर वे जो कुछ करते हैं लोकसंग्रहार्थ करते हैं ।

अब यहां एक उदाहरण देकर " उपास्यसाक्षात्कार " और " तत्त्वसाक्षात्कार " दोनोंके स्वरूप दिखलाये जाते हैं— ब्राह्मण-भोजन कराना एक शास्त्रोक्त विहित-कर्म है । जिसे आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और मुक्त चारों प्रकारके प्राणी अपने-अपने घरमें कराते हैं । इनमें प्रथमके तीन " उपास्यसाक्षात्कारदर्शन वाले हैं । जिनमें

आर्त और अर्थार्थी तो " × अव्याकृत " वाले हैं । और जिज्ञासु व्याकृत वाला है। और चौथा जो मुक्त-जीव है वह तत्वसाक्षात्कार-दर्शनका जाननेवाला है । जो कुछ भी इच्छा न करके केवल परोपकार निमित्त ब्राह्मणभोजन करवा रहा है उसकी दृष्टिमें ब्राह्मणभोजनका यथार्थ-तत्व देखपडता है । इसलिये यह " कृत्स्नकर्मकृत् " कहा-जाता है सो जो चाहे करसकता है ।

प्रिय पाठको ! आजकलके बहुतेरे ढौंगी पुरुष " कृत्स्नकर्म-कृत् " बनजाते हैं और सिद्ध कहलाकर मद्यपी, मत्स्यमांस-भोजी और वाममार्गी बनकर वेश्या-संग इत्यादि करके कहते हैं, कि हम वही "कृत्स्नकर्मकृत" हैं जिसको श्री कृष्ण भगवान्‌ने गीतामें कहा है । हँसी आती है इनकी बुद्धि पर और शोक होता है इनकी समझ पर, कि वे गीताको सुगीता न करके सर्व प्रकारके शास्त्रोंको नष्ट करते हुए गीतामें भी पलीता लगाया करते हैं । ईश्वर इनकी बुद्धिको शीघ्र फेरे ।

यहां तक जो **कर्म-अकर्म** का भेद दिखलायागया वह उस दशा में है जब, कि अकर्म शब्दका अर्थ अविहितकर्म अथवा अकरणीय-कार्य कियेजानेका किया जाता है । पर जब इसका अर्थ तूष्णीम्भाव अथवा कर्माभाव कियाजावे अर्थात् कर्मोंको छोड चुपचाप अलग

× व्याकृत और अव्याकृत दोनोंका वर्णन पृष्ठ ८६० में होचुका है देखलो ।

बैठ रहना कियाजावे तब कर्मदर्शनवालेको किस प्रकार विचार करना चाहिये ? उसका वर्णन पृष्ठ ८८१ से पृष्ठ ८८४ तक होचुका है देखलो !

मुख्य तात्पर्य यह है, कि ज्ञानी पूर्ण-प्रकार कर्म-अकर्मका विचार करके कर्मोंका सम्पादन करता है। ऐसे विचारे-शील तत्व-दर्शीकी प्रशंसा भगवान तीन शब्दोंमें करते हैं अर्थात् १. "स बुद्धिमान् मनुष्येषु" वह मनुष्योंमें बुद्धिमान है, फिर २. "स युक्तः" वही योगी है तथा वही ३. "कृत्स्नकर्मकृत्" सर्व प्रकारके कर्मोंके सम्पादन करनेको समर्थ है। उसे किसी कर्मके करनेमें रोक टोक नहीं है।

बहुतेरे विद्वानोंने अकर्मका अर्थ ब्रह्म किया है और कर्मका अर्थ प्रपंच कियाहै और यह दिखलाया है, कि जो अज्ञानी हैं वे अकर्म जो ब्रह्म उसे क्रिया-युक्त देखते हैं और क्रियायुक्त-प्रपंचको क्रिया-रहित मानते हैं। सो गोविन्द यों उपदेश करते हैं, कि जो बुद्धि-मान है और युक्त है तथा कृत्स्नकर्मकृत् है उसको चाहिये, कि यह जो कर्म-युक्त-प्रपंच तिसमें सर्वत्र अकर्म जो ब्रह्म उसे व्यापक देखे। और इसीके प्रतिकूल अकर्म जो ब्रह्म तिसमें इस क्रिया-युक्त प्रपंचको देखे सो बुद्धिमान है। इसी तात्पर्यको आगे छठवें अध्यायके श्लोक ३० में कहेंगे, कि "**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**" अर्थात् जो प्राणी मुझको सर्वत्र इस क्रियायुक्त-प्रपंचमें देखता है और इस प्रपंचको मुझमें देखता है वही बुद्धिमान है। पर यह अर्थ आध्यात्मिक है और एक दैशिक है।

शंका— श्यामसुन्दरने तो सतरहवें श्लोकमें, कर्म अकर्म और विकर्म तीनों कर्मोंके लिये कहा है, कि " बोद्धव्यम् " अर्थात् जाननेके योग्य हैं पर इस अठारहवें श्लोकमें कर्म और अकर्मका ही वर्णन किया विकर्मके विषय तो कुछ कहा ही नहीं इसका क्या कारण ?

समाधान—इस अठारहवें श्लोकमें कर्म और विकर्म दोनोंका समाहार कर्म ही में है अर्थात् कर्म कहनेसे सुकर्म और विकर्म जिस को पुण्य और पाप कहते हैं, दोनोंसे तात्पर्य है। और अकर्म तो विलग दिखलाया ही गया है।

पाठकोंके कल्याणार्थ विकर्मोंका वर्णन कियाजाता है और किस विकर्मका क्या प्रायश्चित्त है ? सो भी दिखलादिया जाता है।

जितने प्रकारके विकर्म अर्थात् पातक हैं वे केवल नव भाग में विवरण कियेगये हैं।

१. अतिपातकानि। २. महापातकानि। ३. अनुपातकानि ४. उपपातकानि। ५. जातिभ्रंशकरपातकानि। ६. शंकरीकरण-पातकानि। ७. अपात्रीकरणपातकानि। ८. मलावहपातकानि। ९. प्रकीर्णकानि पातकानि।

१. अतिपातकानि ।

पातक	प्रायश्चित्त
ब्राह्मणस्य मातृगमनं दुहितृगमनं स्नुषा गमनम् ॥ तथा क्षत्रियवैश्यशूद्राणां मातृदुहितृस्नुषा गमनम् ॥	धोखासे माता, बेटी और बहिनसे प्रसंग करे तो अग्निमें आप जल जावे । और वे स्त्रियां भी जल जावें अथवा बारहवें वर्ष चान्द्रायणव्रत करनेसे शुद्ध होसकता है यदि जानकर करे तो इससे दूना व्रत करना होगा ।

२. महापातकानि ।

अकामतो ब्राह्मणकर्तृको ब्रह्मवधः ।	यदि अज्ञानसे ब्राह्मणको बध करे तो बारह वर्षका व्रत करे । प्रमाण " ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटिं कृत्वा वने वसेत् भैक्ष्याशयात्म विशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरो ध्वजम् । भिक्षाशी विचरेद्ग्रामं वन्यैर्यदि न जीवति " (मनुः)

पातक	प्रायश्चित्त
कामतो ब्राह्मणकृतब्रह्मवधः ।	जो ब्राह्मण ब्राह्मणका बध करे तो याग्यवल्क्य स्मृतिकी आज्ञानुसार उसको मरजाना चाहिये । यदि न मरसके तो २४ वर्षका व्रत करना चाहिये ।
ज्ञानतो ब्राह्मणस्य सुरापानम् ।	जो ब्राह्मण जानकर सुरापानकरे तो सुरा, गोमूत्र, जल, दूध, घृत और गोबरके रसको गरमकर पीवे । इतना गरमकर पीवे जिससे मरजावे । यदि ऐसा न करसके तो २४ बर्षका व्रत करे । यदि अज्ञानसे यह पाप होजावे तो केवल १२वर्षका व्रत करनेसे शुद्ध होता है ।
अज्ञानतो ब्राह्मणकर्तृकसुवर्ण-स्तेयम् ॥	यदि अज्ञानसे ब्राह्मण सोना चुरा लेवे तो बारह वर्षका व्रतकरे । यदि जानकर करे तो दूना । इसी प्रकार यदि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जानबूझकर यह कर्म करे तो राजा की ओरसे मूशलाघातसे माराजाना

पातक	प्रायश्चित्त
	चाहिये। यदि ऐसा न होतो २४ वर्ष का व्रत करे। यदि अज्ञानसे ऐसा होजावे तो केवल १२ वर्षका व्रत करनेसे शुद्ध होजाता है। स्त्री, बालक और बूढेको इससे आधा।
ज्ञानतो गुर्व्वंगनागमनम् विमातृगमनम, शूद्रस्य ब्राह्मणी गमनम ॥	ज्ञानकरके जो गुरुकी स्त्रीसे भोग करे अथवा सौतेली मातासे भोगकरे वा शूद्रहोकर ब्राह्मणीसे भोगकरे तो उसकादण्ड यह है, कि अग्निसे तपायेहुए लोहेपर शयनकरे अथवा जलतीहुई लोहेकी प्रतिमा वा मट्टीकी प्रतिमासे लिपटकर मरजावे अथवा अपना लिङ्ग अण्डकोशसहित काटकर अपने हाथमें लेकर मरण पर्य्यन्त नैऋत्य कोणकी ओर खडारहे। अथवा २४ वर्ष व्रतकरे। गुरुकी स्त्रीको भी वैसाही करना चाहिये और जो अज्ञानसे ऐसा करे तो केवल १२ वर्षका व्रतकरे, पर बालकऔर वृद्धको आधाकरनाचाहिये।

पातक	प्रायश्चित्त
	" यस्य पतितस्य यत् प्रायश्चित्तं तस्य पातित्यदशायां जातस्य पुत्रस्य तत् तृतीयभागप्रायश्चित्तम् । तदानीं तज्जातायाः कन्यायाः पतितोत्पन्नपुत्रप्रायश्चित्ततृतीयभागप्रायश्चित्तम् । (स्पष्टम्) इसका अर्थ स्पष्ट है ।

३. अनुपातकानि

गर्भिणीवधः, रजस्वलावधः, शरणागतवधः, मित्रवधः ॥	गर्भवाली स्त्रीको मारडालना रजस्वलाको मारडालना तथा अपनी शरण आयेहुएको मारडालना ब्रह्महत्याके समान पातक हैं तिसीके अनुसार प्रायश्चित्त करनेसे शुद्ध होता है ।
ब्राह्मणकुमारीगमनम् ।	ब्राह्मणकी लडकीसे भोग करना ।
चाण्डालादि स्त्रीगमनम् ।	चाण्डालीसे भोग करना ।
मित्रस्त्रीगमनम् ।	मित्रकी स्त्रीसे भोग करना ।
पुत्रवधूगमनम् ।	पतोहूसे भोग करना ।

पातक	प्रायश्चित्त
पितृव्यपत्नीगमनम् ।	चचानीसे भोग करना ।
मातुलपत्नीगमनम ।	ममानीसे भोग करना ।
श्वसृगमनम् ।	बहनसे भोग करना ।
ज्येष्ठभ्रातृपत्नीगमनम् ।	बडेभाईकी स्त्रीसे भोग करना ।
राजपत्नीगमनम् ।	रानीसे भोग करना ।
श्रोत्रियपत्नीगमनम् ।	श्रोत्रिय ब्राह्मणकी स्त्रीसे भोगकरना
शिष्यपत्नीगमनम ।	चेलाकी स्त्रीसे भोग करना ।
शरणागतगमनम् ।	अपनी शरण आईहुई स्त्रीसे भोग करना ।
साध्वीगमनम् ।	साधुनीसे भोग करना ।
वर्णोत्तमागमनम् ।	अपनेसे उत्तम वर्णवाली स्त्रीसे भोग करना ।

ये सब पाप गुरुपत्नीसे भोग करने के समान हैं इसलिये तदनुसार ही इनका दण्ड होना चाहिये जैसा पहले दिखला आये हैं। ये सब महापातकके तुल्य हैं ।

वेश्यागमनम ।	प्राजापत्यव्रतकरना वा १ धेनु दान देना अथवा ३ कार्षापण दान देना तीन रात उपवासकरना अथवा प्राजापत्यव्रत करना।

पातक	प्रायश्चित्त
ऋतौभार्य्यायां नाभिगमनम् । अन्त्यजा (चर्मकारी इत्यादि) गमनम् । पर्व्वसु स्त्री गमनम्, श्राद्धदिने मैथुनम्, दिवा मैथुनम् ॥	"त्रिरात्रोपवासः ज्ञानाभावे प्राजापत्यम, चान्द्रायणम् । ज्ञानतः द्विगुणम ।" यदि भूलकर हो तो एक चान्द्रायण और जानकर हो तो २ चान्द्रायण करना । एकोपवासः १ धेनुः ।

४. अथोपपातकानि

गोवधः—	तीन मासका व्रत करे अर्थात शिखासहित मुण्डन कराकर गैयाके चर्मका वस्त्र बना एक मासतक गोमूत्रमें यवको फुलाकर यवागू बनाकर पीवे और गौशालामें निवास करे । शेष दो महीनेतक केवल गोमूत्रसे स्नानकर सन्ध्याकाल स्वल्प भोजन करे और दिवारात्रि गैयाकी सेवा करे । इसका पूर्ण विधान प्रायश्चित्ततत्वविवेकमें देखो । यथाशक्ति १ से १७ तक गोदान करे ।

पातक	प्रायश्चित्त
गवां शृंगास्थिभंगचर्म्मनिर्म्मोचनलांगूलच्छेदनम् ।	गैयाका सींग, हाड तोडदेनेसे तथा चमडा उखाड देनेसे वा पुच्छ काटदेनेसे जो पातक लगता है उससे शुद्ध होनेका उपाय यह है, कि दश रात्रि पर्य्यन्त (कृच्छ्र) व्रत करे । आधा महीना तक गोमूत्रमें यावक बनाकर पीवे । यदि इन दोषोंसे छै मासके भीतर गैया मरजावे तो गोबधके पापके समान है। इससे अधिक मास बीतने पर मरनेसे उपर्युक्त दण्ड कथन किया गया है ।
गजबधः अश्वबधः	चान्द्रायण करे । पांच नीलवृष दान करे । दो वस्त्र दान करे। साढेसात गैया दान करे । अर्थात् सात गैया और एक बछिया दान करे ।

सर्व प्रकारके जीवोंके बधमें यदि कुत्ता, बिल्ली, शूकर,शृंगाल, नकुल, सारस, हंस, मछली, चकोर, नाना प्रकारके पक्षी, कृमि, कीट,

भ्रमर, चींटी, और मक्षिकाके बधसे भिन्न प्रायश्चित्तका विधान है। प्राय-श्चित्ततत्वविवेकमें देखलेना ।

पातक	प्रायश्चित्त
देवतायाः प्रतिमाभेदनच्छेदन-दहनहरणानि ॥	देवताकी प्रतिमाके तोडने, काटने वा चुरालेनेका दोष प्राजापत्य व्रत करनेसे अथवा १ धेनु वा ३ कार्षपण दान देनेसे शुद्ध होता है।
मांस भक्षणम्	प्राजापत्य व्रत करनेसे मांस भक्षणका दोष निवृत्त होता है।
ब्रह्मचारिणा मधुमांसभोजनम् ।	ब्रह्मचारी यदि जानकर मधु और मांस भक्षण करे तो प्राजापत्य व्रत करनेसे शुद्ध होता है। अज्ञानसे करे तो इससे आधा। ऐसे पात्रमें जिसमें पहले कभी मांस रक्खा गया हो, यदि ब्रह्मचारी अन्न पकाकर खावे तो तीन दिन तक कुशके मूलसे पकाये हुये दूध का भोजन करे। यदि जानकर किया हो तो इनसे दूना।

पातक	प्रायश्चित्त
भोजनकाले गुदश्राव:	यदि भोजनके समय गुदासे वायु निकलजावे अथवा अन्न निकल जावे तो दिन रात उपवास करके पंचगव्य पानकरे, यदि ग्रास भीतर न गया हो। पर जो ग्रास भीतर जाचुका हो तो तीन रात उपवास करे।
सुराभाजनस्थजलपानम्	जिस पात्रमें कभी सुरा रक्खी होवे उसमें जल पीवे तो सात रात्रि तक यावक पीवे। यदि अज्ञानसे ऐसा किया हो तो साढे तीन रात्रि यावक पीवे।
पीतशेषपानीयपानम्, केवल बामहस्तजलपानं च।	जूठा जल पीना अथवा केवल बायें हाथसे जल पीनेका दोष तीन रात्रि उपवास करनेसे छूट-जाता है।
स्तेयम	चोरी करने का दोष १२ रात्रि कण-भक्षण करे छः दिन उपवास करे। राजदण्ड इससे विलग है।

पातक	प्रायश्चित्त
	अर्थात् कारागारादि वा हस्तच्छेदन इत्यादि चोरीके स्वरूपानुसार राजा समझकर दण्डदेवे। जिस प्रकारकी चोरी हो तदनुसार प्राजापत्य, कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादिका सम्पादन करे इसका पूर्ण विधान प्रायश्चित्त-तत्वविवेकमें देखलेना।
असत्यभाषणम्	एक बार धोखेसे झूठ बोले तो कृष्ण नाम स्मरण मात्रसे शुद्ध हो, बहुत झूठ बोलनेवाला कृच्छ्र-चान्द्रायणसे शुद्ध होता है। चार अथवा साढेसात गोदान करे। साक्षी होकर झूठ बोले तो १२ वर्ष व्रतसे शुद्ध होता है। किन्तु विवाहमें, भयके समय, मैथुन, बालप्रतारण, हंसी ठट्ठा, गो ब्राह्मणके नाश समय, प्राण जानेके समय तथा सर्वधन छीने जानेके समय मिथ्या-भाषणमें दोष नहीं है।

पातक	प्रायश्चित्त
जलाग्निविषशस्त्रघातेभ्यो भ्रंशनम् ।	जलमें डुबाकर, अग्निमें जलाकर अथवा खड्गादिसे मारडालनेका दोष चान्द्रायण और तप्तकृच्छ्र करनेसे शुद्ध होता है । यदि जानकर किया हो तो तीनगुणा होनाचाहिये ।
अनुदकमूत्रपुरीषकरणम् ।	बिना जलके लघुशंका वा पुरीष करनेका दोष स्नान करके गैयाको स्पर्श करनेसे नष्ट होजाता है । यदि बलात्कार ऐसा करे तो एक दिन उपवास करना चाहिये ।
यतीनां व्रतोपव्रतभंगः ।	यतियोंका यदि *व्रत और ×उपव्रत भंग होजावे तो दिवारात्रि उपवासके साथ चान्द्रायण करे । यदि रमणकी इच्छासे स्त्रीके समीप पहुंचगया पर रमण न किया हो तो सौ प्राणायाम करनेसे शुद्ध होता है ।

* व्रतानि— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ये यतियोंके चार व्रत हैं।

× उपव्रतानि = अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, अप्रमाद, शौच, आहारशुद्धि ये पांच यतियोंके उपव्रत हैं ।

५. जातिभ्रंशकरपातकानि ।

पातक	प्रायश्चित्त
ब्राह्मणपीडाकरणम्, मद्यलसुनादि घ्राणम्, मित्र कौटिल्यम्, पुंसि मैथुनम् ।	ब्राह्मणको पीडा देनी, लहसुन प्याज, मद्यको सूँघना, मित्रसे कुटिलता तथा पुरुषमें मैथुन, करनेका दोष । यदि जानकर अपनी इच्छा से किया हो तो सान्तपन । और बिना इच्छा हुआ हो तो प्राजापत्य व्रत करनेसे दूर होता है ।

६. अथ पात्रीकरणपातकानि

निन्दितेभ्यो धनदानम्, शूद्रसेवनम् ।	जो लोग निन्दित हैं जैसे बिना संस्कारके ब्राह्मण अथवा पतित-ब्राह्मण वा साधु इनको दानदेना दोषहै। इससे निवृत्त होनेके लिये तप्त-कृच्छ्र करे (यदि एकबार किया हो) यदि दो चार बार किया हो तो महासान्तपन करे ।

पातक	प्रायश्चित
	यदि अभ्यास हो तो चान्द्रायण करे।

७. अथ मलावहपातकानि

कृमिकीटपक्षीणां हननम्, मद्यानुगतवस्तुभोजनम्, फलद्रुमकाष्ठपुष्पाणां स्तेयम्।	कीडे, मकोडे और चिडियोंके मारनेका दोष, मद्यमें रखी हुई वस्तुका भोजन तथा फल, काठ और फूलके चुरानेके दोष तीन दिन यावक पानसे, यदि अभ्यास हो तो तप्तकृच्छ्र करनेसे, अत्यन्त अभ्यास हो तो कृच्छ्रातिकृच्छ्र करनेसे दूर होते हैं।

८. अथ प्रकीर्णपातकानि

अस्पृश्यस्पर्शनम् तच्च चांडाल रजस्वलापतितसूतिकाशवोन्मत्तासूयिकग्राम्याश्वकुक्कुटवराहादीनां स्पर्शनम्।	चाण्डाल, रजस्वला स्त्री, पतित, प्रसूतिका स्त्री, मृतक, उन्मत्त, निन्दक, गांवका कुत्ता, मुर्गा, वाराह इत्यादिके छूनेके दोष तीन दिन उपवास करनेसे नष्ट होते हैं।

ये पातक संक्षिप्त कर दिखलाये हैं। ऐसे-ऐसे सैकडों विकर्म हैं जिनका दण्ड आचार्य और महीपति तथा राज्याधिकारी गण सोच समझकर करसक्ते हैं। जो लोग उक्त प्रकार कथन कियेहुए प्रायश्चित्तोंको नहीं करेंगे उनको अपने पातकोंका फल नरकमें तो अवश्य ही भोगना पडेगा। यहांतक अकर्म-विकर्मका भेद भली भांति समझा दिया गया है ॥ १८ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! इस कर्म, अकर्म और विकर्म तीनोंके बखेडेसे प्राणी कभी छुटकारा पासकता है वा नहीं? यदि पासकता है, तो उसका क्या उपाय है? और ऐसे प्राणीका लक्षण क्या है? फिर वह अपनी आयु कैसे बिताता है? सो कृपा कर कहो!

इसका उत्तर श्री भगवान अगले ६ श्लोकोंमें देते हैं—

मू०— यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— यस्य (परमार्थदर्शिनो विदुषः) सर्वे (यावन्तः) **समारंभाः** (वैदिकलौकिककर्माणि समारंभन्त इति समारंभाः) **कामसंकल्पवर्जिताः** (कामेन फलेच्छया, संकल्पेनाहमिदम् करोमीत्यभिमानेन च वर्जिताः) [सन्ति] **तम् ज्ञानाग्निना दग्धकर्म्माणम्** (कर्मादावकर्मादि दर्शनं ज्ञानं तदेवाग्निस्तेन ज्ञानाग्निना दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य तम्) **बुधाः** (ब्रह्मविदः) **पंडितम् आहुः** (कथयन्ति) ॥ १६ ॥

पदार्थः— (**यस्य**) जिसके (**सर्वे समारम्भाः**) वैदिक लौकिक सब कर्म्मोंके आरम्भमात्र (**कामसंकल्पवर्जिताः**) कामना और संकल्पसे रहित हैं (**तम्**) तिस (**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**) ज्ञानकी अग्निसे भस्मी भूत हुए कर्म वालेको (**बुधाः**) ब्रह्मवेत्ता लोग (**पंडितम्**) पंडित (**आहुः**) कहते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः—पूर्वमें जो अर्जुनने कर्मोंके झंझटसे छूटनेका उपाय तथा छूटे हुए प्राणीका लक्षण पूछा है उसके उत्तरमें श्रीकृष्ण भगवान् बोलते हैं, कि हे अर्जुन ! जिस प्राणीने कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेका अभ्यास करलिया है, फिर अपनी अभ्यासकी दृढताके कारण जब किसी कर्मका आरम्भ करता है तो आरम्भसे पहले ही उसके यथार्थ-तत्वका अनुभव करताहुआ बिना किसी प्रकारकी द्वन्द्व-चिन्ता तथा असमंजसके बेधडक कर बैठता है, अर्थात् निर्भय होकर कर्मका सम्पादन करलेता है। चाहे काल भी उसके संमुख आकर कर्ममें बाधा क्यों न करे, उसके कर्मकी पूर्ति होनेमें सहस्रों प्रकारके उपद्रव क्यों न प्रकट होजावें, पर वह विद्वान् होनेके कारण परम-आनन्दमें मग्न होरहा है । इसलिये " **आनन्दब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन** " इस श्रुतिके वचनानुसार जो अपना प्रबल पुरुषार्थ करता हुआ, ब्रह्मानन्दमें मग्न किसीका भी भय नहीं करता। इसलिये मैं तुझसे कहता हूं, कि [**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः**] जिसके सब समारंभ अर्थात् आरंभ करनेके समय, आरंभ से पहले अथवा सब छोड चुप होजानेके समय वा चुप होनेसे पहले वा किसी विकर्मसे घृणा करनेके समय वा घृणा करनेसे पहले किसी

प्रकारकी कामना नहीं रखता न उसे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें कुछ प्राप्तिकी इच्छा है क्योंकि वह ब्रह्मानन्दमें मग्न है। जैसे गंगाजलमें डूबे रहनेवालेको प्यास नहीं सता सकती। इसी प्रकार सर्व-कामपूर्ण जो पूर्ण-परब्रह्म आनन्दसागर तिसके रूपमें मग्नको किसी भी कामनाकी पूर्तिकी अभिलाषा नहीं सताती । इसलिये कर्म-आरम्भके समय उसे कर्मकी पूर्ति अपूर्तिकी कुछ भी परवा नहीं होती । ऐसा निर्द्वन्द्व-प्राणी किसी कर्म अकर्म वा विकर्मके आरंभसे पूर्व किसी प्रकारका संकल्प नहीं करता । अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें स्वयं कुछ भी कर्म करनेकी इच्छा न हुई है; न होती है, न होने वाली है, न उसके मनमें ऐसा संकल्प उदय होता है, कि इस कर्मको इस रीतिसे करना चाहिये और इस रीतिसे नहीं करना चाहिये उसी प्राणीको [ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणम् तमाहुः पण्डितं बुधाः] विद्वान् लोग ज्ञानाग्निदग्धकर्म्मा पण्डित कहते हैं । अर्थात ज्ञानकी अग्निसे जिसके शुभाशुभ-कर्मके आरम्भ भस्म होगये हैं, ऐसा वह सर्व तत्त्ववेत्ता पण्डित है । क्योंकि जब तक प्राणीके शुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञानका उदय नहीं होता तबतक शुभाशुभ—कर्मके फन्देमें पडा हुआ, संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मोंमें लटकता हुआ कूपघटिकायंत्र-न्यायके अनुसार नीचे ऊपर करता हुआ दुःखके कूपमें ऊब डूब करता रहता है । पर जिसी समय गुरु-दयासे उसके हृदयमें ज्ञानकी ज्वाला उदय होती है, उसी समय उसके कर्म भस्म होजाते हैं । प्रमाणश्रु०—" तद्यथेषिका तूलमग्नौ ।" अर्थात् तृण और तूल जैसे अग्निमें भस्म होजाते हैं ।

प्रश्न—भगवान्‌ने ज्ञानको अग्निसे क्यों उपमादी ? यदि दी गई तो सो ज्ञान किस प्रकार कर्मोंको भस्म करता है ? स्पष्ट रूपसे दिखलाना चाहिये !

उत्तर— जितने कर्म हैं सब इन्द्रियोंके द्वारा सम्पादन होते हैं सो इन्द्रियां मनके अधीन हैं और फिर "**संकल्पो वाव मनसो भूयान्**" (छान्दो० उत्त० प्रपा० ७ खण्ड ४ श्रुतिः १) इस श्रुतिके वचनानुसार तिस मनसे संकल्प श्रेष्ठ है इसलिये सो मन संकल्पके अधीन है फिर "**चित्तं वाव संकल्पाद् भूयः**"(छां०खं५ श्रु १) इस श्रुतिके अनुसार तिस ÷संकल्पसे चित्त श्रेष्ठ है। इसलिये सो संकल्प चित्तके अधीन है फिर "**ध्यानं वाव चित्ताद् भूयः**" (छां०) इस श्रुतिके अनुसार सो ध्यान चित्तसे श्रेष्ठ है । इसलिये सो चित्त ध्यानके अधीन है । क्योंकि जब तक ध्यान एक स्थानमें न जमाया जावे चित्त चंचल रहेगा। इसलिये चित्त ध्यान द्वारा स्थिर होता है। जब चित्त स्थिर होता है तब किसी कर्मका संकल्प करता है । इसलिये सिद्धान्त है, कि चित्त ध्यानके अधीन है। फिर "**विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयः**" तिस ध्यानसे विज्ञान श्रेष्ठ है इसलिये सो ध्यान विज्ञानके अधीन है। वह विज्ञान क्या है ? सो कहते हैं- शास्त्रोंके यथार्थ तत्वका बोध अथवा अपने स्वरूपका बोध तथा आत्माका पूर्ण बोध विज्ञान कहलाता है "**विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं धर्मञ्चाधर्मञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधु चासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्चान्नञ्च रसञ्चेमञ्च लोकममुञ्च विज्ञा-**

÷ संकल्पः— कर्तृत्व सम्बन्धी अन्तःकरणकी वृत्ति ।

नेनैव विजानाति " (छां० प्रपा० ७ खण्ड ७ श्रु० १)

अर्थ— विज्ञान ध्यानसे इसलिये श्रेष्ठ है, कि ध्यान करनेकी रीति शास्त्रोंके अर्थोंके जाननेसे होती है । इसलिये विज्ञानके अधीन ध्यान है । इसी विज्ञानसे प्राणी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, धर्म, अधर्म, सच, झूठ, साधु, असाधु, परमात्मा, अन्न, रस, इस लोक तथा परलोक सबको जानता है । इन श्रुतियोंसे यह सिद्ध हुआ, कि इसी विज्ञानके अधीन ध्यान है। तिस ध्यानके अधीन चित्त है तिस चित्तके अधीन संकल्प है तिस संकल्पके अधीन मन है तिस मनके अधीन इन्द्रियां हैं और तिन इन्द्रियोंके अधीन कर्म हैं इसलिये सब कर्म पहले इन्द्रियोंमें लय होते हैं सो इंद्रियां मनमें लय होती हैं सो मन संकल्पमें लय होता है, सो संकल्प चित्तमें लय होजाता है सो चित्त ध्यानमें लय होता है और सो ध्यान विज्ञानमें लय होता है । इसलिये यह सिद्ध होगया, कि सर्व कर्म एवम्प्रकार एकसे दूसरे तत्त्व में लय होते हुए विज्ञानमें लय होजाते हैं अर्थात् ज्ञानाग्निमें भस्म होजाते हैं। विशेष कारण इसका यह है, कि विज्ञान भी प्रकाश और तेज स्वरूप है । और अग्नि भी प्रकाश और तेज-स्वरूप है । इसलिये भगवान्ने ज्ञानको अग्निसे उपमा दी ।

लो और सुनो ! श्रु०— " स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्त्तेतैव मे वैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते " जैसे कोई महाराज अपने नगरमें अपनी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न कार्योंमें वर्त्तमान होनेकी

आज्ञा अपनी प्रजाओंको देता है इसी प्रकार यह विज्ञान-रूप नरेश इस अपने शरीर-रूप नगरमें निवास करने वाले भिन्न-भिन्न प्राणों को अर्थात् आंख, नाक, कान इत्यादि इंद्रियोंको भिन्न कर्मोंमें प्रेरणा करता है। क्योंकि ये सब विज्ञानके अधीन हैं। जब इन श्रुतियोंसे यह सिद्धान्त हुआ, कि ये सबके-सब विज्ञान-रूप महाराजके अधीन हैं तो अब महाराज चाहे इनको कर्मोंमें प्रेरणा करनेवाली वा रोक-देनेवाली दोनों शक्तियोंको काममें लावे या न लावे। इसी कारण जब विज्ञानका स्फुरण होता है अर्थात कर्म, अकर्म और विकर्म तीनोंका यथार्थ बोध हृदयमें उत्पन्न होता है तब सप्त लोक ऊपर, सप्त लोक नीचे तथा इनसे भी अतिरिक्त जो कुछ रचना हो तथा मोक्ष बन्धन सबको ठीक-ठीक जाननेके कारण प्राणी शान्त-स्वरूप होजाता है।

प्रिय पाठको! आपने देखा होगा, कि जैसे रेलगाडियोंमें अगली गाडी अर्थात् एंजिनके रुकजानेसे सब गाडियां रुकजाती हैं इसी प्रकार आत्मज्ञानके स्थिर होजानेसे देह, इद्रिय और अन्तःकरण सब स्थिर होजाते हैं। अथवा यों समझलो, कि जैसे कोई राजा स्वप्नमें यों स्वप्न देखे, कि मेरा राज्य शत्रुओंने छीन लिया। मैं युद्धमें पराजित होकर देश—कोश छीनेजानेके कारण द्वार-द्वार भिक्षा मांगकर उदर-पोषण करने लगा हूँ। तो जब तक वह राजा स्वप्न देखरहा है तब ही तक उसके चित्तमें व्याकुलता और चिन्ता बनीहुई है। अत्यन्त दुःखी होरहा है। पर जब जगजानेसे उसे अपने यथार्थ स्वरूप का बोध होगया, कि मैं जैसा था वैसा ही राजा बना हुआ हूँ, तब सारे दुःखकी निवृत्ति होजाती है। फिर उस दुःखसे छूटनेका कुछ भी

यत्न नहीं करता है। इसी प्रकार प्राणी जो अपना स्वरूप भूलकर मायाकी निद्रामें सोया हुआ नाना प्रकारके दुःख सुखका स्वप्न देखते हुए कर्मोंके फन्देमें पडा हुआ है सो ज्ञानके उदय होते ही अर्थात् मायाकी निद्रासे जगते ही कर्मोंके फल भोगनेमें रुकजाता है। क्योंकि मायासे जगपडनेसे अपने स्वरूपका यथार्थ बोध होजाता है, जानजाता है, कि मैं इन विकारोंमें नहीं हूं। मेरा यह संसार नहीं है। मैं शुद्ध निर्मल निर्विकार चैतन्य आत्मा हूं। मुझे बन्ध मोक्ष नहीं। मैं निर्भय हूं। मुझे कालका भी भय नहीं है। न मुझे कुछ कर्तव्य है। न अकर्तव्य है। न कोई मेरा है। न मैं किसीका हूं। फिर मैं सबका हूं। सब मेरे हैं। मैं सबमें हूं, सब मुझमें है। मैं चिदानन्द शिव स्वरूप हूं। इसीको ज्ञानाग्नि कहते हैं। जैसे जागरितकी आगमें स्वप्न एकबारगी भस्म होजाता है। इसी प्रकार ज्ञानकी आगमें सब शुभाशुभकर्म भस्म होजाते हैं। कुछ भी कर्तव्य नहीं रेहता।

जैसे अग्निके प्रकाशसे अंधेली रातमें घरके भीतर सारी वस्तु-तत्तु सूझने लगती हैं इसी प्रकार इस विज्ञानकी ज्वालासे मोहका अंधकार दूर होकर दशों दिशाओंमें अपना स्वरूप दीखने लगजाता है। तथा जैसे आगमें स्वर्णके गलानेसे उसके मल दूर होजाते हैं इसी प्रकार विज्ञानकी आगमें सब पाप भस्म होकर प्राणी निर्मल स्वर्णसा चमकने लगजाता है। इसलिये भगवानने ज्ञानको अग्निसे उपमा दी तहां श्रुतिने भी ज्ञानको अग्निसे उपमा दी है। श्रु०—"तद्यथेषिका तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्त" इति (छा०)

अर्थ— जैसे ईषिकाकी रूई आगमें पडते ही भस्म होजाती है

इसी प्रकार ज्ञानीके पाप ज्ञानकी आगमें भस्म होजाते हैं। इसलिये ज्ञानीको ही "**ज्ञानाग्निदग्धकर्मा**" कहेंगे अन्य को नहीं।

इसी अभिप्रायसे श्यामसुन्दर कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जिस प्राणीको कर्म करते समय किसी प्रकारका संकल्प नहीं उदय होता। किसी प्रकारकी शुद्ध वा मलीन वासना जिसके हृदयमें नहीं टिकती। किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती। ज्ञानकी आगमें जिसके सब कर्म भस्म होगये हैं। उसी प्राणीको ज्ञानियों और तत्त्व-दर्शियोंने पण्डित कहा है। क्योंकि ऐसा ही प्राणी कर्मके सब झंझटोंसे छूट जाता है। अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि "कर्मा-दावकर्मादि दर्शनम् तदेवाग्निः" कर्म और अकर्मको यथार्थ रूपसे देखनेका जो ज्ञान सो ही तो अग्नि है और शुभा—शुभ--कर्म इंधन-रूप हैं सो जिसके कर्मरूप इंधन इस ज्ञानाग्निमें भस्म होगये हैं उसीको विद्वज्जन पण्डित कहते हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि परमार्थदर्शी कर्तृत्वाभिमानसे रहित होनेके कारण कृत्स्नकर्मकृत होता हुआ अर्थात् सर्व प्रकारके कर्मोंको करता हुआ भी किसी कार्य्यमें नहीं फंसता। क्योंकि ये केवल लोकसंग्रह निमित्त अथवा शरीरयात्राकी पूर्ति निमित्त वा प्रारब्ध कर्मके वेगसे जो कर्म सामने आन पडते हैं उनको समाप्त करदेनेके तात्पर्य्यसे करता है।

शंका— अनेक श्रुति और स्मृतियोंसे सिद्ध है, कि कर्मका फल तो अवश्य भोगना पडता है "**अवश्यमेव हि भोक्तव्यम् कृतं कर्म**

शुभा-शुभम् " फिर स्मृतिका वचन है, कि " **नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि** " बिना फल भोगे हुए कर्मका नाश करोडों कल्पोंमें भी नहीं होसकता । जब ऐसा है तब कर्म-फल ज्ञानसे दग्ध कैसे होसकता है ?

समाधान— हे प्रतिवादी ! तुमने इस श्लोकका तात्पर्य्य नहीं समझा इसलिये ऐसी शंका की इस श्लोकमें समारंभ-पद स्वच्छरूपसे दिखलारहा है, कि जिन कर्मोंका आरंभ काम और संकल्पसे बर्जित है । अथवा जो संचितमें पडेहुए हैं, उनही कर्मोंके नाशका तात्पर्य्य है। पर जो कर्म प्रारब्ध होकर उदय होगये हैं, जिनका आरंभ होकर जिनकी समाप्ति होगई है, जिनके भोगनेके लिये शरीर उत्पन्न होचुका है उनसे कुछ तात्पर्य्य नहीं है सुनो— " **तदधिगम उत्तरपूर्वाद्धयोरश्लेषविनाशौ तद् व्यपदेशात्** " (ब्रह्मसू० अ० ४ पा० १ सूत्र १३)

जिसकी टीका भाष्यकार श्रीशंकराचार्य अपने भाष्यमें यों करते हैं, कि " **तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेशविनाशौ भवत उत्तरस्याश्लेशः पूर्वस्य विनाशः। कस्मात् ? तद् व्यपदेशात्** "

अर्थ— "तदधिगमे" तिसब्रह्मके अधिगमसे अर्थात् ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिसे आगामी कर्मोंका श्लेष (स्पर्श) नहीं होता और पूर्व

टि०—अश्लेश नहीं स्पर्श होनेको कहते हैं और विनाश एकबारगी नाश होजानेको कहते हैं ।

(सञ्चित) कर्मोंका विनाश होजाता है । कैसे ? तो उस ब्रह्मके अधिगमसे। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ज्ञानसे उन पूर्वके कर्मोंका जिनका प्रारब्ध-रूपसे उदय नहीं हुआ है नाश होजाता है जैसे पापोंके फल-भोगसे पहले प्रायश्चित्तसे उन पापोंका नाश शास्त्रोंमें देखा जाता है। इसी प्रकार पूर्वकर्मोंके फल-भोगके आरंभसे पहले पूर्व-कर्मोंका अर्थात् संचित का नाश ज्ञानसे होजाता है ।

"अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः" (ब्रह्मसूत्र अ० ४ पा० १ सू० १५)

अर्थ— अनारब्ध कार्य्य जो है जिसका भोग प्रारब्ध होकर आरंभ नहीं हुआ है । जिसके भोगनेके लिये मनुष्य अथवा मनुष्यसे इतर योनिरूप शरीर जब तक प्राप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् कर्म प्रारब्धकी गणनामें नहीं आये हैं तब ही तक उनके फल, ज्ञानसे वा प्रायश्चित्तसे नाश होते हैं, पर यदि वे कर्म ज्ञान उदय होनेके पहले हीसे प्रारब्ध होचुके हैं और उनका भोग आरंभ होगया है तब तो " **तदवधेः** " उनको तब तक भोगना ही होगा जब तक उस भोगरूप शरीरकी अवधि है । अर्थात् शरीरके नाश होने तक भोगना ही होगा ।

शंका— ज्ञानसे केवल अगले पिछले पापों ही का नाश होता है ? अथवा पुण्यका भी नाश होता है ?

समाधान— **"इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु"** (ब्रह्मसूत्र अ० ४ पा० १ सू० १४)

अर्थ— जैसे पाप-कर्मका असंश्लेष और विनाश पहले कह आये हैं इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीके अगले पिछले पुण्य—कर्मोंके भी असंश्लेष (अस्पर्श) और विनाश दोनों होते रहते हैं। क्योंकि जैसे पाप मुक्तिका प्रतिबन्धक है । इसी प्रकार पुण्य भी मुक्तिका प्रतिबन्धक है, इसलिये इन दोनोंका असंश्लेष और विनाश होनेसे ब्रह्मज्ञानीकी मुक्ति (पाते तु) शरीरपातके अन्तर अवश्य होती है । यह निश्चय है । तहां श्रुतिका भी प्रमाण है—

श्रु०- " पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः " (बृहदा० अ० ४ ब्रा० ४ श्रुति २२ में देखो)

अर्थ— मैं पाप करता हूँ इसलिये मुझको नरक होगा । तथा मैं कल्याण-कारक-कर्म पुण्य करता हूँ इसलिये मुझे स्वर्ग होगा। इन दोनों प्रकारका निश्चय रखनेवाला नहीं तरता है । अर्थात् मुक्त नहीं होता । क्योंकि अपने शुभाशुभ-संकल्पके कारण दोनोंका कर्तृत्वाभिमान करनेसे इस संसार-सागरसे नहीं तरता । वरु जो ब्रह्मवेत्ता इन दोनों प्रकारके संकल्पोंको छोड अभिमान-रहित होता है वही इन दोनों प्रकारके कर्मोंसे पार हो अर्थात् शुभाशुभ-कर्मोंके बन्धनसे छुटकर तरजाता है । फिर वह कृत-अकृतसे तपायमान नहीं कियाजाता ।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी संकल्प और कामनाओं से रहित होकर ज्ञानकी आगमें कर्मोंको भस्म कियेहुए (मध्यैव) अनिच्छित कार्योंका सम्पादन करता रहता है तत्वदर्शी उसको **पण्डित** कहते हैं क्योंकि " पण्डा सदसद्विवेकिनी बुद्धिर्जाता यस्य स एव

× पण्डितः " पण्डा ऐसी बुद्धि जिसकी होवे उसे ही पण्डित कहते हैं और पण्डा उस बुद्धिका नाम है, जिससे चैतन्य पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वरको सर्वत्र सब ठौरमें व्यापक देखे । ऐसा प्राणी तत्त्व-दर्शी होता है। पर जो भ्रान्त है उसे ऐसा बोध हो ही नहीं सकता । क्योंकि उसकी बुद्धि पागलोंके समान ब्रह्मसे बिमुख रहती है । इसलिये उसे संसार-सागरमें मग्न रहनेके कारण ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती । अतएव वह पण्डित नहीं कहा जासकता ॥ १६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, भगवन् ! मानलो, कि कर्ता कर्म करते समय कर्मका संकल्प न करे तथा किसी प्रकारकी कामना भी नहीं रखता हो पर जब वह देहेन्द्रियादिके व्यापारोंको करेगा तो ज्ञान उत्पन्न होनेके समय भी तो उससे कुछ न कुछ कर्म होते ही रहेंगे ? फिर जो कर्म ज्ञान उत्पन्न होनेके समय उससे उदय होवेंगे उनका भी तो फल अवश्य होगा ? फिर उन फलोंकी क्या दशा होगी ? सो कृपाकर कहो !

× पण्डितः— पण्डा वेदोज्ज्वला तत्त्वविषयिणी वा बुद्धिः सा जाता ऽ स्य । पण्ड्यते तत्त्वज्ञानं प्राप्यतेऽस्मात् । यथा—

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ।

(अर्थ स्पष्ट है)

इतना सुन योगेश्वर भगवान् बोले हे अर्जुन ! सुन—

मू०— त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किंचित्करोति सः ॥
॥ २० ॥

पदच्छेदः— सः (पण्डितः) कर्मफलासंगम् (कर्मफलासक्तिम् । कृत्वाभिमानम् । भोगाभिलाषम्) त्यक्त्वा (विहाय) नित्यतृप्तः (नित्यानन्दस्वरूपलाभेन सर्वत्र निराकांक्षः) निराश्रयः (दृष्टा-दृष्टफलसाधनाश्रयरहितः । योगक्षेमार्थमाश्रयणीयरहितः) कर्मणि (स्वाभाविकविहितव्यापारे । शरीरोपयोगीन्द्रियव्यापारात्मके कर्मणि) अभिप्रवृत्तः (सर्वांगोपसंहारेण लोकदृष्ट्या सांगोपांगानुष्ठानाय-प्रवृत्तः। आभिमुख्येन प्रवृत्तः) अपि, किंचित् एव, न (नैव) करोति (सम्पादयति) ॥ २० ॥

पदार्थः— (सः) सो पण्डित (कर्मफलासंगम) कर्मोंके फलोंकी आसक्ति (त्यक्त्वा) त्यागकर (नित्यतृप्तः) नित्यानन्दस्वरूपके लाभ होनेसे सदा तृप्त (निराश्रयः) दृष्ट वा अदृष्ट फलके साधन करनेके आश्रयसे रहित अथवा योगक्षेमके आश्रयसे रहित (कर्मणि) स्वाभाविक अथवा विहित कर्मोंमें (अभिप्रवृत्तः) देखने मात्र सांगोपांग साधनमें प्रवृत्त रहनेपर (अपि) भी (किंचित् एव) कुछ भी (न) नहीं (करोति) करता है ॥ २० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया था, कि ज्ञान उदय होते-होते जो ज्ञानीसे कर्म उदय होते हैं उनके फलोंकी क्या दशा

होती है ? तिसके उत्तरमें भगवान् इस श्लोक द्वारा अर्जुनको सम॰ झाते हैं, कि हे अर्जुन ! [त्यक्त्वाकर्मफलासंगं नित्य॰ तृप्तो निराश्रयः] जो ज्ञानी, ज्ञान प्राप्त करते—करते कुछ स्वा॰ भाविक वा विहितकर्म करता रहता है उसका करना न करनेके समान है। क्योंकि जो ब्रह्मवेत्ता होनेके कारण तथा कर्म, विकर्म और अक- र्मको यथार्थ रूपसे देखनेके कारण पण्डित कहा जाता है, और जिसके सर्व प्रकारके संकल्प तथा सर्व प्रकारकी कासनायें मिट गई हैं, वह कर्मके फलोंकी आसक्ति त्याग बैठा है। अर्थात् किसी पुण्य कर्मके उदय होनेसे उसे इन्द्रलोकके सुखकी भी प्राप्ति हो तो उसे मार्गमें चलते हुए तृण वा चिथडोंके समान पैरोंके धक्केसे टालकर रंचक मात्र भी उसकी ओर दृष्टि नहीं करता है। जैसे माताके स्तनको पान करते हुए छोटे बच्चेके सम्मुख सहस्रों मन षट्-रस भोजन, नाना प्रकारके स्वादु—मिष्टान्न तथा अमृतका कुण्ड ला धरिये पर वह अपनी माताकी गोदमें आनन्द-पूर्वक लिपटा हुआ स्तन-पानमें मग्न तनक भी इनकी ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखेगा। इसी प्रकार जो प्राणी भगवत्स्वरूपको छोड अपने शुभकर्मोंके फल इन्द्रलोकादि की ओर आंख उठाकर नहीं देखता, पर अपने परमानन्दमें नित्य तृप्त रहता है; अर्थात् नित्य ब्रह्मानन्दमें मग्न रहता है वही यथार्थ ज्ञानी है। जैसे अगाध समुद्रमें रहने वाली मछलियां, क्षीर-सागरके तटके रहनेवाले हंस और कमल-दहके निवासी भ्रमर सदा तृप्त रहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी सदा भगवत् चरणारविन्दोंके मकरन्द पानसे तृप्त रहता है। अन्य किसी भी सुखकी कामना कभी नहीं करता।

क्योंकि जब उसे किसी वस्तुकी इच्छा ही नहीं रही तो वह किसी देवता, देवी वा राजा, रंकका आश्रय क्यों करे ? क्योंकि उसे तो अनन्यता प्राप्त हो ही जाती है । "अन्याश्रयाणां त्यागो अनन्यता" (नारद सूत्र) अर्थात् ब्रह्मलोकसे पाताल-लोक पर्य्यन्त जितने विषय हैं सबोंके आश्रयका त्यागहोना ही अनन्यता कहलाती है। जिससे किसीका आश्रय करना नहीं पडता। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जो प्राणी कर्मोंसे असंगति प्राप्त करचुका है, वह सदा निराश्रय रहता है । +दृष्ट वा अदृष्ट किसी भी प्रकारके फलोंकी साधनाका आश्रय नहीं रखता है।

भगवान् कहते हैं, कि [कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किंचित् करोति सः] सो प्राणी सर्व प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त रहने पर भी मानो कुछ भी नहीं करता । मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ऐसा प्राणी चाहे अपनी शरीर-यात्रा समाप्ति करनेके तात्पर्य्यसे, अथवा लोक-संग्रहके तात्पर्य्यसे, वा प्रारब्धको समाप्त करदेनेके तात्पर्य्यसे चाहे कुछ भी करता रहे पर वह केवल लोगोंको देखने ही मात्र सांगोपांग कर्मका अनुष्ठान करनेवाला देखाजाता है, यथार्थमें कुछ भी नहीं करता है । क्योंकि उसको किसी फलकी इच्छा ही नहीं रहती है । जिस आत्माको उसने पहचाना है उस आत्माको जलमें स्थित कमल—पत्रके समान कोई कर्म स्पर्श करता ही नहीं ।

टिप्पणी— दृष्ट-कर्म उन सुखावह फलोंको कहते हैं, जो प्रत्यक्ष देखनेमें आवें। जैसे संसारी सम्पत्ति, राज्य-सुख इत्यादि। और अदृष्ट वे कहलाते हैं, जो स्वर्गादिके सुख हैं जो प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आते ।

क्योंकि ऐसे पुरुषने साधु-संग करके केवल भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति की है। इसलिये सारे ब्रह्माण्डमें दिन रात दौडता हुआ भी चुप बैठा है। श्री कपिलदेवजीकी भी यही सम्मति है— " ज्ञानमोत्रण मुच्यन्ते नाना साधनवर्जिताः। साक्षात्कार परं ज्ञानं प्राप्यते गुरुराजतः "
(कपिलगीता अ० ४ श्लो० २०)

अर्थात् नाना प्रकारके अन्य साधनोंसे वर्जित होकर गुरुराजसे साक्षात्कार कर परम ज्ञानको प्राप्त करके प्राणी संसार–बन्धनसे छूट जाता है। और ऐसे प्राणीको— " शाश्वतानन्दशान्तत्वं पूर्णरूपस्वरूपकम्। तुष्टत्वम चाचलत्वं च षडैश्वर्यादि प्राप्यते ॥ "
(कपिलगीता अ०४ श्लो० २१)

अर्थ— शाश्वत-आनन्द जिसे नित्यानन्द कहते हैं, शान्ति तथा पूर्णस्वरूपकी प्राप्ति, तुष्टता, अचलता तथा षडैश्वर्यादि बिना मांगे आपसे आप प्राप्त होते हैं। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि ऐसा प्राणी नित्य तृप्त और निराश्रय रहता है तथा सबकुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

प्रिय पाठको ! इसी विषयको पंचदशी तृप्तिदीपविवेक प्रकरण के तेरहवें श्लोकमें यों वर्णन किया है— " असंगोऽहं चिदात्माहमिति शास्त्रीयदृष्टितः। अहं शब्दं प्रयुक्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥ "

अर्थ— " बुधः " (तत्ववेत्ता) जब ज्ञानदृष्टिसे देखता है तब उसे आपसे आप ऐसा अनुभव होता है, कि मैं असंग हूं। मैं

चिदात्मा अर्थात् चिदाभाससे भिन्न जो केवल कूटस्थ सदा एक रस परब्रह्म जगदीश्वर है सोई मैं हूं। इसलिये वह शास्त्रीय-दृष्टिसे कूटस्थमें अहं शब्दका प्रयोग करता है अर्थात् यों मानता है, कि मैं सदा एक रस हूं। करोडों सृष्टियां बनें वा बिगडें पर मैं सदा उसी कूटस्थमें अपनेको देखरहा हूं। अर्थात् मैं करता हूं, मैं दौडता हूं, मैं युद्ध करता हूं इत्यादि वचनोंको बोलता हुआ भी वह कुछ नहीं करता। सदा असंग है।

श्यामसुन्दर कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तुमने जो पूछा था, कि संचित, प्रारब्ध, और आगामी इत्यादिके नाश होते हुए भी जो मुमुक्षु अवस्थामें अर्थात् ज्ञान प्राप्ति करते-करते कर्म करता है उन कर्मोंके फलों की क्या दशा होती है ? इसके उत्तरमें मैंने तुझे समझा दिया, कि ऐसे मुमुक्षु प्राणी द्वारा जितने कर्म उदय होते हैं उन्हें मानो वह करता ही नहीं इसलिये ये कर्म भी उसको बाधा नहीं करेसकते ॥ २० ॥

+कूटस्थः— कूटे मायायां तिष्ठति। यद्वा कूटवत् निर्विकारेण निश्चलः सन् तिष्ठतीति। एकरूपतया यः कालव्यापी सः।

कूटस्थचैतन्यस्य अविद्याध्यस्ततयैव जीवत्वं न तु स्वरूपतः नितरां तस्मादपि निरध्यस्तत्वात् निर्मलः सच्चिदानन्दस्वरूपावस्थः पुरुषोत्तमः परमात्मेत्युच्यते।

कूटस्थका वर्णन अध्याय १५ श्लो० १६ में कियागया है। यहां विस्तारके भयसे अर्थ नहीं दियागया।

इसी तात्पर्यको श्यामसुन्दर अगले श्लोकमें
दृढ करते हुए कहते हैं—

मू०— निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
॥ २१ ॥

पदच्छेदः— निराशीः (निर्गता आशिषस्तृष्णा यस्मात सः । योगैश्वर्यमपि नाभिलषितं येन सः) यतचित्तात्मा (निगृहीतौ चित्तात्मानावन्तःकरणवाह्यकार्यकरणसंघातौ येन सः) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (त्यक्तानिभोगोपकरणानि येन सः) केवलम्, शारीरम् (शरीरस्थिति-मात्रप्रयोजनम् भिक्षाटनादि कर्म । तथा भोजनशयनादिकम् कर्म) कुर्वन (सम्पादयन सन) किल्बिषम् (प्रत्यवायम्) न (नैव) आप्नोति (प्राप्नोति) ॥ २१ ॥

पदार्थः— (निराशीः) जिस प्राणीकी सर्व प्रकारकी आशी अर्थात् कामनायें निवृत्त होगई हैं (यतचित्तात्मा) जिसनें अपने चित्त अर्थात् अन्तःकरणको और अपने आत्मा अर्थात् इन्द्रियों सहित देहको वश करलिया है (त्यक्तसर्वपरिग्रहः) जिसने सर्व-प्रकारके परिग्रहोंको अर्थात् कर्मकरनेकी सामग्रियोंको अथवा उपकरणों को वा उपायोंको त्याग दिया है, वह प्राणी (केवलम्) केवल (शारीरम्) भोजन शयनादि शारीरिक (कर्म) कर्मोंको (कुर्वन्) करता हुआ (किल्बिषम्) किसी प्रकारके प्रत्यवायको (न आप्नोति) नहीं प्राप्त होता है अर्थात् संसृत—द्वन्द्वमें फँसकर नष्ट नहीं होता है ॥ २१ ॥

भावार्थः— श्यामसुन्दर जो पहले कह आये हैं, कि ज्ञानी कर्मसंगवर्जित, नित्य—तृप्त—मानस सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। इसी अर्थको दूसरे प्रकारसे इस श्लोकमें दृढ करते हुए कहते हैं कि [निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः] जिस प्राणीकी स्वर्गसे पाताल तकके विषयोंकी कामनायें (आशीः) छूटगयी हैं वह " निराशी " कहलाता है। कारण इसका यही है, कि वह " नित्यतृप्त " है। इस प्रकार नित्यतृप्त होकर निराशी होनेके दो ही उपाय हैं— एक तो गुरु द्वारा आत्मानन्दकी प्राप्ति करना, दूसरा सर्व प्रकारके भोगोंको भोगते-भोगते उनसे उपराम होजाना अर्थात् उनका फीका पडजाना। फिर एवम् प्रकार किसी उपायसे जो प्राणी निराशी होगया है तो वह प्राणी आप्त-काम हो, कृत-कृत्य हो उसी मार्गको जाता है जिस होकर विद्वान्, आत्मज्ञानी वा ब्रह्म-वेत्ता गये हैं।

इस प्रकार तृप्त होकर सर्व कामना रहित हो परमपदकी ओर गमन करनेवालेके विषय वेदका भी बचन है—

"विप्रा अमृता ऋतज्ञाः अस्य मद्ध्वः पिवतमादयद्ध्वन्तृप्तायात-पथिभिर्देवयानैः " (शुक्ल यजुर्वेद अ० ९ मं० १८) हे (वाजिनः विप्राः) शुक्ल यजुर्वेद वाजयी संहिताके ज्ञाता ब्राह्मणो! " विप्राः " हे वेदके ज्ञाताओ! (अमृताः) जीवन्मुक्ति लाभ करनेवालो! (ऋतज्ञाः) ब्रह्मवेत्ताओ! (अस्य मद्ध्वः पिवत) इस मधु ब्राह्मणोक्त जो अमृतके तुल्य स्वादिष्ट ज्ञान है उसे पान करो और इस ब्रह्मज्ञानरूप अमृतको

पानकरके (मादयद्ध्वम्) तृप्त होजाओ ! ऐसे (तृप्ताः) तृप्त होकर "यात देवयानपथिभिः " देवयानपथसे जाओ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी लोग परम-तृप्त होकर जिस मार्गसे गये हैं उसी मार्ग होकर जाओ।

अब भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! इस प्रकार जो ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति द्वारा सर्व प्रकार तृप्त होरहा है वही निराशी है फिर जो यतचित्तात्मा भी है अर्थात् जिसने अपने चित्त तथा आत्माको अर्थात् अन्तःकरणको तथा इन्द्रिय सहित अपनी देहको दमन कर रक्खा है, इसलिये वह यथार्थ तत्वका ज्ञाता है। क्योंकि जिस प्राणीका चित्त और आत्मा अपने बश नहीं उसको वस्तुओंके यथार्थरूपका ज्ञान भी नहीं होता। उसके चित्त और आत्मा दोनोंपर मलीनता छायी रहती है। जैसे किसीकी आंखोंपर पटल बांधदेनेसे नहीं सूझता अथवा इन्द्रजालका काच आंखके सामने आनेसे सब उलटा-पुलटा सूझने लग जाता है।

वस्तुयाथात्म्यानवोधपटलावनद्धात्तः ।
सुभ्रूः सुनासा सुमुखी सुनेत्रा चारुहासिनी ।
कल्पनामात्र संमोहाद्रमन्त्यालिङ्गतेऽशुचिम् ।

(नैष्कर्म सिद्धि अ० २ श्लो० ५२)

अर्थः— आंखों पर पलट बंधजानेसे वस्तुओंकी याथात्मताका बोध नहीं होता। जैसे स्त्री जिसकी भृकुटियां सुन्दर हैं, नासिका सुडौल है, नेत्र कटीले और तिरछौंहे हैं, मन्द-मन्द मुसुकानवाली, हँसी ठठेमें चतुर, चित्तको मोहनेवाली है पर यथार्थमें ये अपवित्र मांस और रुधिरकी पोटली है। अज्ञानतावश इसके साथ जो लोग रमते हैं और

आलिंगन करते हैं वे यतचित्तात्मा नहीं हैं। यथार्थ देखनेवाले तो यों देखते हैं, कि क्षणमात्रमें प्राणके निकल जानेसे ये सारी सुन्दरताई धूलमें मिल जाती हैं। दुर्गन्ध आने लगता है। पर कैसा आश्चर्य है, कि अज्ञानी बडे स्नेहसे इनमें रमते हैं। सो केवल ब्रह्मज्ञानके अभावसे इनकी ऐसी दशा होती है। इसलिये जो **यतचित्तात्मा** हैं वे इन विकारोंसे रहित हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इस प्रकार जो " **त्यक्तसर्वपरिग्रह** " भी हैं, अर्थात् किसी कर्मके साधनके लिये उसकी सम्बन्धी सामग्रियोंको नहीं एकत्र करते हैं। जैसे तिल, यव, घृत, कस्तूरी, अगर, चन्दन, दधि, दूर्वा, रोचन, पुष्प इत्यादि जो हवन रूप कर्मके परिग्रह हैं। सेना, तोप, भिषिण्डी, धनुष, बाण, खड्ग इत्यादि जो युद्ध रूप कर्मके परिग्रह हैं। इसी प्रकार किसी कर्मके साधन निमित्त जो भिन्न-भिन्न द्रव्य होते हैं उनको परिग्रह वा उपकरण कहते हैं। जिन लोगोंने लौकिक वा पारलौकिक, पुण्य वा पाप, विहित वा अविहित, काम्य वा निषिद्ध सर्व प्रकारके कर्म-परिग्रहोंको त्यागदिये हैं, किसी कर्मके लिये किसी भी वस्तुका यत्न नहीं करते वे ही " **त्यक्तपरिग्रह** " कहे जाते हैं।

ऐसे महापुरुष [**शारीरं केवलं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**] केवल अपनी शरीरयात्राके निर्वाह निमित्त जो भोजन, शयन इत्यादि करते हैं वा सन्यासी होनेके कारण केवल सायंकालके समय भिक्षाटन इत्यादिको जाते हैं वे किसी भी प्रकारके प्रत्यवायको प्राप्त

नहीं होते । संसार बंधनमें नहीं आते तथा नरकादि अशुभ-स्थानमें नहीं पडते ।

शंका—भगवान पहले कह आये हैं, कि "नियतं कुरु कर्म त्वं" (देखो अ० ३ श्लो० ८) अर्थात् हे अर्जुन ! तू अवश्य कर्तृत्व कर्म कियाकर । जब मनुष्य कर्म करने लगेगा तो अवश्य कर्मके आरंभमें कर्मोंके सम्पादन निमित्त उनके परिग्रहोंका अर्थात् उपकरणों का संग्रह करना ही होगा । और अब कहते हैं, कि मनुष्योंको त्यक्त-सर्वपरिग्रह होना चाहिये, अर्थात् कर्म करनेके सब उपकरणोंको त्याग देना चाहिये । जब परिग्रहोंको ही त्याग देगा तब कर्मका सम्पादन कैसे करेगा ? इसलिये ये दोनों बातें एक दूसरेके विरुद्ध हैं ऐसा क्यों ?

समाधान— जो पुरुष " यतचित्तात्मा " है उसके समीप सहस्रों परिग्रह क्यों न इकठ्ठे होजावें पर वह इतने परिग्रहोंके मध्य कार्य्य करता हुआ भी " त्यक्तपरिग्रह " ही समझा जावेगा । जैसे गंभीर समुद्रको जलकी कुछ भी इच्छा नहीं है पर आपसे-आप चारों ओरसे नदियां उसमें जा मिलती हैं । समुद्रको उनके मिलने न मिलनेका कुछ भी हर्ष वा विषाद नहीं है । और जैसे कमल-पत्र अगाध जलमें डूबे रहने पर भी जलसे भिन्न ही रहता है इसी प्रकार यतचित्तात्मा लाखों परिग्रहोंके मध्य बैठा हुआ भी " त्यक्तपरिग्रह " ही समझा जाता है । अर्थात् कुछ नहीं करता, रंचक-मात्र भी परिग्रह उसे स्पर्श नहीं करता । जो अन्नका बीज

कच्चा है वह पृथ्वीके भीतर पडनेसे नाना प्रकारके पत्र, पुष्प, फलादि को देनेवाला होता है पर " **भर्जिता क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेष्यते** " जो बीज भून दिया गया है और कूट दिया गया है वह फिर पृथ्वीमें बोयेजानेपर तनक भी अंकुर, पत्र, पुष्पादि नहीं देता । इसी प्रकार " **यतचित्तात्मा** " का संकल्प-विकल्पात्मक-मन शम, दमादि द्वारा भुन जाता है, इसलिये फिर वह कर्मके क्षेत्रमें बोये जाने पर भी पत्र पुष्पादि नहीं देता । अर्थात् कर्मके परिग्रह उसमें नहीं लिपटते । स्वयं श्यामसुन्दरकी ओर देखो जो रास-क्रीडारूप कर्मके सम्पादन द्वारा प्रेमकी शिक्षा देनेके लिये सहस्रों गोपिकारूप परिग्रहके मध्य भी त्यक्तपरिग्रह रहे । यदि शंका हो, कि गोपिकाओं को अपने समीप बुलानेके लिये बंशी बजाना क्या मुरलीरूप परिग्रहका संग्रह करना नहीं है ? फिर भगवान् त्यक्तपरिग्रह कैसे हुए ? तो उत्तर इसका यह है, कि उनकी मुरली विषय-दृष्टिसे नहीं बजती थी । वह साधारण विषयियोंकी मुरली नहीं थी । इस मुरलीकी ध्वनि तो तीनों लोकमें व्याप जाती थी । ब्रह्मादि देव भी जिसकी ध्वनि सुननेकी अभिलाषा करते थे । इस मुरलीमें तो अनाहत्-ध्वनि सुननेका फल होता था जिससे योगीजन समाधिको प्राप्त होते थे । गोपिकायें तुरीयावस्थाको प्राप्त होजाया करती थीं । केवल प्रेमरूप परम तत्त्वकी शिक्षा निमित्त भगवान्के समीप दौडी चली आती थीं । इसलिये मुरली बजाना विषय सम्पादन परिग्रह नहीं कहा जासकता । इसी प्रकार जो त्यक्तपरिग्रह है वह संसारके किल्विष अर्थात् प्रत्यवायोंको नहीं प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! विषयोंका परिग्रह तो नहीं करे पर समाधि वा तुरीय साधन निमित्त जो योग मठादिका बनाना, तथा दण्ड, कौपीन, कमण्डल, भिक्षान्न इत्यादिकां संग्रह करना इत्यादि भी तो परिग्रह ही कहा जावेगा फिर जब ऐसे त्यागी भी त्यक्तसर्वपरिग्रह नहीं होसके तहां अस्मदादि गृहस्थोंकी क्या गणना ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
॥ २२ ॥

पदच्छेदः— यदृच्छालाभसंतुष्टः (स्वकीयप्रयत्नव्यतिरेकेण यल्लाभस्तेन सन्तुष्टः) द्वन्द्वातीतः (क्षुत्पिपासाशीतोष्णवर्षादिभिर्हन्यमानोऽप्यविषण्णचित्तः । बहुलाभेऽलाभे सुखदुःखाद्यतीतो वा) **विमत्सरः** (परस्य लाभं दृष्ट्वा सन्तापहीनः, निर्वैरबुद्धिर्वा) **सिद्धौ च असिद्धौ समः** (हर्षविषादवर्जितः) **कृत्वा** (कर्म कुर्वन्) **अपि, न** (नैव) **निबध्यते** (लिप्यते । बन्धं प्राप्नोति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (यदृच्छालाभसन्तुष्टः) जो पुरुष बिना किसी प्रकारकी इच्छा तथा बिना किसी प्रकारके परिश्रम किये हुए जो कुछ आपसेआप लाभ होजावे उसीमें सन्तुष्ट रहता है (द्वन्द्वातीतः) भूख, प्यास, जाडा, गरमी, वर्षा, लाभ, हानि, तथा अन्य प्रकारके द्वन्द्वोंसे विलग होनेके कारण विषाद रहित रहता है, (विमत्सरः)

परायेके लाभको देखकर जलता नहीं ऐसा जो निर्वैरबुद्धि है, (**सिद्धा-वसिद्धौ च**) किसी कार्य्यकी सिद्धि वा असिद्धिमें (**समः**) समान रहता है, हर्ष विषादको नहीं प्राप्त होता है, सो पुरुष (**कृत्वापि**) नाना प्रकारके कर्मोंको करके भी उन कर्मोंके फलसे (**न**) नहीं (**निबध्यते**) बांधा जाता ॥ २२ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो यह शंका उत्पन्न हुई, कि जो प्राणी " **यतचित्तात्मा** " है वह संसारी विषयोंके परिग्रहको तो नहीं छूता है, पर मोक्ष-प्राप्ति निमित्त योगमठिका तथा दण्ड, कमण्डल, कौपीन इत्यादिका तो ग्रहण करता ही है इसलिये वह " **त्यक्तसर्वप-रिग्रह** " क्यों कहा जावे ?

इस शंकाके निवारणार्थ श्यामसुन्दर अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च**] बिना इच्छा किये जो कुछ लाभ होजाय उसीमें सन्तुष्ट, शीत, उष्ण, दुःख, सुख, हानि और लाभसे रहित, ईर्षासे विलग, और किसी प्रकारकी सिद्धि वा असिद्धिमें समान, अर्थात् जो हर्ष और विषाद रहित है उसके लिये किसी प्रकारका परिग्रह कुछभी बाधा नहीं करसकता ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जो प्राणी " **यत-चित्तात्मा** " है अर्थात् अपने अन्तःकरण और बाह्य इन्द्रियोंको अपने वश कर रखा है उसे स्वर्ग वा मोक्ष तककी भी इच्छा नहीं होती । इसलिये वह " **त्यक्तसर्वपरिग्रह** " कहा जासकता है । यदि शंका हो, कि क्या वह मोक्षको भी नहीं चाहता ? तो इसका उत्तर यह है,

कि वह शुद्ध चैतन्य और निर्म्मलात्मा होरहा है, "मन एव मनुष्याणां कारणं मोक्षबन्धयोः" इस वचनके अनुसार मन ही मनुष्योंके मोक्ष और बन्धनका कारण है तिसे इसने वशीभूतकर शान्त करलिया। फिर जब कारणकी शान्ति होगई तो कार्य्य कहांसे हो? इसलिये "त्यक्तसर्व-परिग्रह" प्राणी मोक्षसाधनके परिग्रहोंको भी नहीं चाहता। इसलिये ऐसा यतचित्तात्मा प्राणी सदा त्यक्तसर्वपरिग्रह कहा जासकता है। और "यदृच्छालाभसन्तुष्ट" कहा जासकता है, अर्थात् विना किसी इच्छाके आपसे आप प्रारब्ध वश जो कुछ उसे लाभ होजावे उसीमें सन्तुष्ट रहता है, ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त तकके किसी पदार्थकी इच्छा कभी भी मनमें नहीं लाता है, सैकडों इन्द्रलोककी सम्पदाको तुच्छ जानता है। वही वीर यथार्थ सन्तोषी है। जब इस प्रकार सन्तोषी हुआ तो "सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः" (पतं० सू० ४२) इस वचनके अनुसार उसे उत्तमसे उत्तम सुखका लाभ होता है। इस सूत्रका अर्थ श्री व्यासदेव यों करते हैं– "सन्तोषप्रकर्षेण योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति यस्य बाह्यं विषयसुखं शतांशेनापि न समम्" अर्थात् जब योगीको सन्तोषका उच्चसे उच्च स्थान प्राप्त होता है तब उसे इस प्रकारका आन्तरिकसुख प्राप्त होता है जिसकी समता बाहरके चक्रवर्ती होनेका सुख भी नहीं कर सकता। इसलिये विना किसी इच्छाके यदि मोक्ष-साधनके परिग्रह पुरुषको प्राप्त होजावें तो उनका प्राप्त होना भी अप्राप्तके समान ही है। इसलिये वह त्यक्तसर्वपरिग्रह ही कहा जावेगा। अतएव भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी विना इच्छा के प्राप्त हुए लाभमें सन्तुष्ट है वही "द्वन्द्वातीतः" अर्थात् द्वन्द्वों

से अतीत भी अवश्य होजाता है। क्षुधा पिपासाकी भी परवाह नहीं करता है। आज कहां भोजन मिलेगा ? कहां पानी पीवेंगे ? और कहां सोजावेंगे ? इन बातोंकी तनक भी चिन्ता जिसके मनमें नहीं होती। क्योंकि भगवत्स्वरूपमें मग्नरहनेवालेके अन्तःकरणको इतनी छुट्टीही कहां है, कि वह किसी दूसरे पदार्थकी चिन्ता करे। फिर जो प्राणी एवम् प्रकार भगवत्स्वरूपमें मग्न, निश्शंक, चिन्ता रहित संसारमें बिहरता है उसके आगे पीछे भगवत् आप अपने हाथोंमें पक्वान्न और शीतल जल लिये फिरता है, कि मेरा भक्त कहीं भूखा प्यासा न रहजावे। इसी प्रकार वह प्राणी शीत, उष्ण, वर्षा इत्यादि की भी चिन्ता नहीं करता। प्रचण्ड शीतकालमें कहां कपडे मिलेंगे ? कौन कम्बल उढादेगा ? वा अग्नि तपादेगा ? वर्षा और आतपसे बचनेके लिये कहां उत्तम ठौर मिलेगी ? इन बातोंकी भी जिसे कुछ चिन्ता नहीं रहती है वही यथार्थ " द्वन्द्वातीत " है। अथवा यों कहलो, कि जिसके चित्तमें अपने चक्रवर्ती राज्यके छिनजानेका भी कोई विषाद नहीं है तथा मिलजानेका भी कोई हर्ष नहीं है, जो सहस्रों आपत्तियोंके सम्मुख आजानेपर कुछ भी चिन्ता नहीं करता तथा सहस्रों प्रकारके झंझटों के भीतर पडाहुआ भी किसी प्रकारकी हानि तथा लाभको नहीं सोचता है वही यथार्थ द्वन्द्वातीत है।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! जो प्राणी " सन्तोषी " है तथा " द्वन्द्वातीत " है वह " विमत्सर " भी अवश्य होगा। अर्थात् परायेके लाभको देखकर जलेगा नहीं। चाहे अपनी सहस्रों प्रकारकी हानियां क्यों न होजावें पर परायेके लाभको देखकर जो

प्रसन्न चित्त रहता है परायेके हर्षसे अपना भी हर्ष अनुभव करता है किसीसे बैरविरोध नहीं करता सदा निर्वैर-बुद्धि रहता है ऐसे प्राणीको यथार्थ "**विमत्सर**" कहसकते हैं। जो ऐसा विमत्सर है वही "**समः सिद्धावसिद्धौ च**" अपने कार्योंकी सिद्धि वा असिद्धिमें समान बुद्धि वाला होताहै। अर्थात् जो कार्य हाथमें आनपडा वहां सिद्धी हुई, तो कुछ हर्ष नहीं और असिद्धि हुई तो कुछ विषाद नहीं। पुत्रने घरमें जन्म लिया है तो कोई हर्ष नहीं तथा गर्भ नष्ट होगया तो कुछ विषाद नहीं। युद्ध करते शत्रुपर विजय पायी तो कुछ हर्ष नहीं वा हार होगई तो कुछ विषाद नहीं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो एवम् प्रकार "**यदृच्छालाभसन्तुष्ट**" है, "**द्वन्द्वातीत**" है, **विमत्सर** है, और जो सिद्धि असिद्धिमें सम है वही शोक, मोह, जरा-मरणसे भी रहित होकर केवल आत्मामें सन्तुष्ट रहता है।

भगवान् कहते हैं, कि ऐसा प्राणी [**कृत्वापि न निबध्यते**] कर्मोंको करते हुए भी उन कर्मोंके फल दुःख, सुख, हानि, लाभ इत्यादिसे नहीं बांधा जाता। अर्थात् वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। इसलिये किसी कर्मफलकी बेडी उसके पांवमें नहीं बांधी जाती। मुख्य अभिप्राय यह है, कि कामना रहित होकर प्राणी सहस्रों यज्ञोंका सम्पादन करताहुआ भी फलसे नहीं बांधा जाता।

किसी-किसी टीकाकारने "**यदृच्छालाभसन्तुष्टः**" का अर्थ यह भी किया है, कि जो सन्यासी केवल शरीरके निर्वाह निमित्त शारी-

रिक-कर्मोंको करता है तथा भिक्षाके समय +पांच प्रकारकी भिक्षाओंमेंसे किसी एक प्रकारकी भिक्षा जो इच्छा रहित अनायास उसे लाभ होगई है उसीमें सन्तुष्ट रहे । वही किसी कर्मके फलसे बांधा नहीं जाता । पर यह अर्थ एक देशीय है ।

इतना सुन अर्जुनने "शंका" की, कि भगवन्! यदि कर्म करनेवाला कर्म करता हुआ भी यज्ञादि कर्मोंके फलसे नहीं बांधा

माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।
तात्कालिकोपपन्नं च भैक्ष्यम्पञ्चविधं स्मृतम् ॥

अर्थ— १. मधूकर (३, ५ अथवा ७ घरोंसे जो अन्न प्राप्त होजावे) । २. प्राक्प्रणीत (शयनसे पहले ही जो भक्त भोजनकी प्रार्थना कर अन्न देवे) । ३. अयाचितम् (भिक्षाटनके यत्नसे पूर्व जो कोई भक्त अन्न देदेवे) । ४. तात्कालिक (भिक्षाटन करने पर शीघ्र जो अन्न प्राप्त हो) । ५. उपपन्न (भिक्षाके समय जो आपसे आप आसनपर बैठे-बैठे ही आजावे) । ये सब पांच प्रकारकी भिक्षायें केवल शरीर-निर्वाह निमित्त सन्यासियोंकेलिये विहित कीगयी हैं ।

इसलिये सन्यासीको चाहिये, कि भिक्षाके लिये किसी अन्य प्रकारके यत्नको न करे। यथा— "न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्रांगविद्यया । नानुशासन वादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥"

अर्थ— भूकम्प, उल्कापात, वज्रपात और अतिवृष्टि इत्यादि उत्पातोंका कथन करके नक्षत्रोंका वृत्तान्त जो सामुद्रिक-विद्या इत्यादि हैं उनसे राजनीति मार्ग उपदेश करके वा शास्त्रार्थ करके भिक्षा उपार्जन न करे ।

जाता है, तो अ० ३ श्लो० १२ में जो तुम कह चुके हो, कि " इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः " अर्थात् देवगण यज्ञसे संभावित होकर तुम लोगोंको इष्ट-फल प्रदान करेंगे। तो हे भगवन ! इन कर्म-फलोंकी क्या दशा होगी ? ये क्या हो जावेंगे ? कहां चले जावेंगे ?

इतना सुन श्याम-सुन्दर बोले अर्जुन! सुन —

मू०— गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥
॥ २३ ॥

पदच्छेदः— गतसंगस्य (निष्कामस्य । फलसंगेन शून्यस्य) **मुक्तस्य** (निवृत्तधर्म्माधर्मादिबन्धस्य। कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यध्यासशून्यस्य) **ज्ञानावस्थितचेतसः** (ज्ञान एवावस्थितं चेतो यस्य तस्य) **यज्ञायाचरतः** (लोकप्रवृत्यर्थं ज्योतिष्टोमादि आचरतः) [पुरुषस्य] **समग्रं** (समस्तम् । अग्रेण फलेन वासनया सह) **कर्म, प्रविलीयते** (प्रकर्षेण निरन्वयं विनश्यति। न कदाचिदपि प्रादुर्भवति) ॥ २३ ॥

पदार्थः— (**गतसंगस्य**) कर्मके फलोंका संग त्याग देनेवाले निष्काम पुरुषका (**मुक्तस्य**) धर्म्माधर्म्मकी निवृत्ति होकर कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे रहित मुक्त पुरुषका तथा (**ज्ञानावस्थितचेतसः**) चित्तमें सदा ज्ञान स्थिर रहनेवाले पुरुषका (**यज्ञायाचरतः**) केवल लोकोंके कल्याणार्थ वा भगवत् प्रीतिके निमित्त यज्ञ करते हुए जो कुछ (**कर्म**)

कर्म होता है (समग्रम्) वह सम्पूर्ण कर्म फलोंके साथ अथवा उनकी शुद्ध वा मलीन वासनाओंके साथ-साथ (प्रविलीयते) नष्ट होजाता है। अर्थात् कर्पूरकी डलीके समान विलाजाता है, करनेवालेको नहीं बांधता, ज्ञानाग्निमें दग्ध होजाता है ॥ २३ ॥

भावार्थः— पहले जो अर्जुनने शंका की है, कि अग्निष्टोमादि यज्ञोंके सम्पादन करनेसे गृहस्थोंको जो देवगण फल प्रदान करते हैं उन फलोंकी क्या दशा होती है ? कहां चलेजाते हैं ? तिसके उत्तरमें भगवान श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः**] जो प्राणी गतसंग है, अर्थात् कर्मोंके फल स्वर्गादिकी इच्छा नहीं करता है, इस लोकमें चक्रवर्तीका राज्य भी मिलनेपर प्रसन्न नहीं होता है तथा पुत्र, कलत्र इत्यादिकी प्राप्तिकी भी कामना नहीं रखता है फिर जो जीवन्मुक्त है अर्थात् सूर्य्य पूर्व दिशामें न उदय होकर पश्चिममें क्यों न उदय होजावें पर जिसके चित्तमें किसी प्रकारकी शुद्ध वा मलीन वासना उदय होती ही नहीं। यदि संयोग-वशात् प्रारब्ध की प्रेरणासे वा कालकी प्रेरणासे अथवा लोगोंको धर्म्म उपदेश करनेके तात्पर्य्यसे कभी कुछ कर भी बैठता है, तो गतसंग होनेके कारण जो उसके फलसे सदा मुक्त है, ऐसे मुक्त प्राणीको तथा " **ज्ञानावस्थितचेतसः** " सदा ज्ञानमें ही जिसका चित्त टिका हुआ है, जिसके रोम, चर्म, रुधिर, मज्जादि सातों धातु, दशों इन्द्रियां, चारों अन्तःकरण तथा प्राणापानादि पांचो प्राण सब ज्ञानके रंगसे रंगे हुए हैं, इसलिये उसका चित्त केवल ज्ञानमें डूबा हुआ है । क्योंकि जो " **गतसंग** " होगा वह अवश्य

मुक्त होगा और जो मुक्त होगा वह अवश्य ज्ञानी होगा और जो ज्ञानी होगा वह अवश्य कर्तृत्व और भोक्तृत्वके अभिमानसे शून्य होगा। ऐसे गत-संग, मुक्त तथा ज्ञानावस्थित चित्तवालेके [**यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते**] यज्ञादि के निमित्त जितने कर्म हैं सब नाश होजाते हैं पर अज्ञानी मूढ मायामोहित-चित्तवालेके कर्म नाश नहीं होते। क्योंकि जो मूढ है वह गतसंग, मुक्त अथवा ज्ञानावस्थितचित्त नहीं होसकता। पर जो ज्ञानी है उसीमें इतने गुण होसकते हैं। इसलिये जो मूढ है वह संसारकी उपासना करता है और जो ज्ञानी है वह भगवत्-स्वरूपकी उपासना करता है। इसलिये यज्ञार्थ कर्म करनेसे उसके कर्म नहीं रह सकते क्योंकि उसने प्रेयको त्यागकर श्रेयका ग्रहण किया है। प्रेय और श्रेय क्या हैं? सो सुनो— श्रु० ॐ **श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य-मेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥** (कठो० अ० १ वल्ली २ श्रु० २)

अर्थ — "श्रेय" कहिये मोक्षप्रद ज्ञानको और "प्रेय" कहिये संसारप्रद अज्ञानको। अर्थात् पुत्र, कलत्र इत्यादिको। परमात्म देवने मनुष्योंके आगे उनके श्रेय और प्रेय दोनों तत्वोंको एक संग दूध पानीके समान मिलाकर रखदिया है। पर जैसे हंस नीर और क्षीर दोनोंको विलग—विलग कर देता है। ऐसे जो धीर पुरुष है वह प्रेयको विलगकर (श्रेय) का ग्रहण कर लेता है। पर जो मन्द है वह प्रेयको अर्थात् संसारी विषयोंको ही प्रिय समझ कर ग्रहण करता है। इसलिये मन्दोंको गतसंग, मुक्त अथवा ज्ञानी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि मन्द प्राणियोंके कर्म उन्हें अवश्य बाधा करेंगे। इसलिये जो

धीर है, लोकसंग्रहार्थ अथवा केवल ईश्वरार्थ कर्मोंको करता है । उसके सब कर्म आपसे-आप नष्ट होजाते हैं ।

मुख्य तात्पर्य्य भगवानके कहनेका यह है, कि **त्यक्तपरिग्रह, गतसंग,** जीवन्मुक्त तथा **ज्ञानावस्थितचित्त** होनेसे कर्तृत्वाभिमान छूट जानेके कारण कर्ता चाहे जो कर्म कर डाले पर वह उसके फलों से बांधा नहीं जाता वरु वे कर्म ही स्वयं नष्ट होजाते हैं ।

शंका— जब ऐसे पुरुषके सब कर्म नष्ट ही होजाते हैं तब तो यह एक महा अनर्थ और प्रत्यवायका कारण हुआ । जैसे मान-लिया जावे, कि किसी मार्गपर एक सुन्दर युवक चलताहुआ एक सुभ्रू सुनयना, मन्दहासिनीको अपने आगेसे आते देखता है, मार्ग भी सुनसान है, तीसरा कोई नहीं है । अब उस सुमुखीने अपने कटाक्षभरे नेत्रोंसे उस युवककी ओर देख मुसकुरा दिया । युवकने मोहित होकर उससे रति करनेकी अभिलाषा की । एकान्तस्थान होनेके कारण दोनोंने परस्पर काम-क्रीडा करके अपना-अपना मार्ग लिया । अब इस अध्यायके श्लोक २१ में भगवानने कहा है, कि जो प्राणी **त्यक्तपरिग्रह** है वह कर्मको करता हुआ भी प्रत्यवायको प्राप्त नहीं हो सकता । फिर श्लोक २२ में कहा है, कि जो **यदृच्छालाभसन्तुष्ट** है तथा **द्वन्द्वातीत** है, **विमत्सर** (निर्वैर) है, कर्मोंकी सिद्धि और असिद्धिमें सम बुद्धिवाला है, वह कर्म करता हुआ भी उस कर्मसे नहीं बांधा जाता । फिर श्लोक २३ में कहा है, कि जो गतसंग है उसके कर्म आपसे-आप बिना भोगे नष्ट होजाते हैं । अब यहां

विचारने योग्य है, कि ये दोनों स्त्री, पुरुष, त्यक्तपरिग्रह हैं। क्योंकि इन दोनोंने परस्पर मिलनेके लिये किसी प्रकारके परिग्रहका ग्रहण नहीं किया है। फिर **यदृच्छालाभसन्तुष्ट** भी हैं, क्योंकि दोनों परस्पर एक ही बार बिना अपनी इच्छाके एकत्र होगये और एक ही बार परस्पर कामक्रीडासे सन्तुष्ट भी होगये हैं। इसलिये ये दोनों **यदृच्छालाभसंतुष्ट** भी हैं। फिर उस मार्गमें किसी प्रकारका द्वन्द्व भी इन दोनोंको नहीं है इसलिये निर्द्वन्द्व हैं। तथा **विमत्सर** अर्थात् निर्वैर भी हैं क्योंकि उस स्थानपर किसीसे इनको कुछ शत्रुता वा ईर्षा नहीं है, तथा इनकी कामक्रीडासे पुत्र उत्पन्न हो वा न हो इसकी इनको कुछ परवा भी नहीं है, इसलिये सिद्धा-सिद्धमें समान बुद्धि भी हैं। तो क्या इनका निषिद्ध-कर्म जो इन दोनोंने मार्गपर किया है नष्ट होजावेगा ? क्या इनको कुछ भी प्रत्यवाय नहीं होगा? क्या इन श्लोकोंका मुख्य तात्पर्य्य यही है ?

समाधान—जिन श्लोकोंमें **त्यक्तपरिग्रह, निर्द्वन्द्व, यदृच्छाला-भसन्तुष्ट** इत्यादि कर्ताके विशेषण कहे गये हैं उन्हीं श्लोकोंमें यह भी तो कहा है, कि वह कर्ता **यतचित्तात्मा**, मुक्त तथा **ज्ञानावस्थितचित्त** भी होना चाहिये। पर ये तीनों गुण इन मार्गवाले स्त्री और पुरुषमें नहीं हैं, क्योंकि ये यदि **यतचित्तात्मा** होते तो एक दूसरेको देखकर एवम् प्रकार कामातुर नहीं होते। जब इनमें **यतचित्तात्मत्व** नहीं है अर्थात् इन्द्रियोंको, अन्तःकरणको और शरीरको अपने वश करनेकी सामर्थ्य नहीं है तो ये जीवन्मुक्त भी नहीं कहे जासकते। जब ये जी-वन्मुक्त नहीं हुए तो ये **ज्ञानावस्थितचित्त** भी नहीं हुए। इसलिये

इनको इनका पाप—कर्म अवश्य बांधेगा । दूसरी बात यह भी है, कि श्लोक २३ में कहा गया है, कि **यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते** " अर्थात् यज्ञार्थ, लोकसंग्रहार्थ वा ईश्वर प्राप्ति निमित्त जो कर्म हैं वे सब ईश्वरमें अर्पण होजानेसे उनका नाश होजाता है । मार्गवाले स्त्री पुरुषका जो कर्म हुआ है वह निषिद्ध-कर्म है । ईश्वर प्राप्ति निमित्त नहीं है, न लोक संग्रहार्थ है । इसी कारण यह प्रत्यवाय नाश नहीं होगा । हां ! यदि विधिवशात् इनका यह कर्म इनके संचितमें जाजुटे और ये दोनों इस जन्ममें अथवा अगले किसी जन्ममें ज्ञान लाभ कर भगवद्भक्त होजावें, तब इस प्रत्यवायका नाश होसक्ता है । जैसा, कि बिल्वमंगल, शूर और उसकी वेश्या चिन्तामणिका वृत्तान्त भक्तमालग्रंथमें पाया जाता है । इसलिये यह सिद्ध होता है, कि गतसंग, मुक्त तथा ज्ञानीके ही पुण्य वा पाप नाश होजाते हैं अन्यके नहीं । शंका मत करो ॥ २३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! ज्ञानीके कर्म कहां जाकर लय होजाते हैं ? सो कृपा कर पूर्ण-प्रकार मुझे समझादो । मैं मन्दमति तुम्हारे समान गुरु पाकर कहां जाऊं ? मैंने तो इतना ही समझा है, कि जैसे कर्पूरकी डली बिलाकर आकाशमें परमाणु-रूपसे रहजाती है, इसी प्रकार ब्रह्मवादियोंके कर्म उनको बाधा न करके बिलाकर सूक्ष्म-शक्ति-रूपसे तो कहीं रहते ही होंगे इस कारण मुझे पूर्णप्रकार व्याख्या करके समझादो, कि उन कर्मोंका कैसा स्वरूप होजाता है ?

इतना सुन भगवान् बोले हे अर्जुन ! सुन—

मू०—ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥ २४ ॥

पदच्छेदः— अर्पणम् (हस्त, जुहू, मंत्रादिभिर्यत्समर्पणम्) [तत्] ब्रह्म, [यत्] हविः (हवनादि द्रव्यम्) [तत्] ब्रह्म] [यत्] अग्नौ (यज्ञाधिष्ठित वह्नौ) ब्रह्मणा (कर्त्रा यजमानेन वा) हुतम (दत्तम्) [तत्] ब्रह्म [यत्] तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना (ब्रह्मण्येव कर्मात्मके समाधिश्चित्तैकाग्र्यं यस्य तेन) गन्तव्यम (प्राप्तव्यम्) [तत्] ब्रह्म एव ॥ २४ ॥

पदार्थः— (अर्पणम्) " अर्प्यतेऽनेनेत्यर्पणम् " अर्थात् हाथ, जुहू और वैदिक-मंत्रोंके द्वारा जो कुछ समर्पण कियाजाता है, सो अर्पण कहलाता है, सो अर्पण-क्रिया ब्रह्म है (हविः) घृतादि जो हवनीय द्रव्य हैं वे भी (ब्रह्म) ब्रह्म ही हैं (ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्) जो ब्रह्माग्निमें ब्रह्म-रूप यजमानसे हवन कियाजाता है वह सब ब्रह्म ही है अर्थात् अग्नि भी ब्रह्म ही है और जो हवन करता है वह भी ब्रह्म ही है । फिर (तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना) तिस ब्रह्मकर्ममें समाधिस्थ होनेवालेसे जो (गन्तव्यम) प्राप्त होनेवाला फल है वह भी (ब्रह्म एव) निश्चय करके ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि ब्रह्मज्ञानीके कर्म बिलाकर क्या होजाते हैं ? उनका फल सूक्ष्म-रूपसे कहां जाता है ?

तिसके कर्मोंकी शक्ति क्या होजाती है? इसके उत्तरमें श्री आनन्द-कन्द भगवान् कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्**] हे अर्जुन! (ब्रह्मार्पणम्) हवनका करनेवाला यज्ञ करते समय जो नाना प्रकारके द्रव्योंको अपने हाथोंसे अथवा (+ जुहू) से तथा वेदोंके मंत्रोंसे आहुति डालकर अग्निदेवको अर्पण करता है सो अर्पण ब्रह्म-रूप ही है। क्योंकि इस शरीरमें जब तक आत्मा विहार कररहा है तब ही तक इस शरीरको इन्द्रियों द्वारा कार्य करनेकी शक्ति रहती है। यदि आत्माके चित् सम्वित्‌का स्फुरण होना रुकजावे, तो यह शरीर मृतक होजावे। देखना, सुनना, बोलना, करना इत्यादि किसी प्रकारका कर्म इससे सम्पादन न होसके। क्योंकि शरीर जड है इसलिये आत्मा ही सब कुछ करनेवाला है। हाथमें जुहू लेकर वेद-मंत्रको पढता हुआ आहुति डालनी इसी चैतन्य आत्माका कार्य है। सो आत्मा ब्रह्म-रूप ही है। इसी कारण इसके साथ इसके सब कर्म भी ब्रह्म-रूप ही हैं। यह वार्त्ता सर्वसम्मत है। प्रमाण श्रु०— "**स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः**"।

(बृ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० ५ में देखो)

अर्थ— यह आत्मा ब्रह्म है, सो विज्ञानमय है, मनोमय है, प्राणमय है, चक्षुमय है और श्रोत्रमय है। मुख्य तात्पर्य कहनेका यह है,

---

+ जुहूः— पलासकाष्ठनिर्मितार्द्धचन्द्राकृतियज्ञपात्रम् (यथा ऋग्वेदे अग्ने! मंतया जुह्वा यजस्व) १ । ७१ । ५ । पलासकी लकडीका बना हुआ अर्द्धचन्द्राकार यज्ञमें हवन करनेका पात्र।

कि जब यह आत्मा अपने विज्ञान, मन, प्राण, चक्षु श्रोत्र इत्यादियोंके साथ ब्रह्ममय हुआ तो जो क्रियायें इनमें सम्पादन कीजावेंगी वे भी ब्रह्ममय ही समझी जावेंगी। इसलिये यज्ञोंमें यजमानका आहुति अर्पण करना भी ब्रह्म-रूप ही समझा जाता है।

अब श्यामसुन्दर कहते हैं, कि (ब्रह्म हविः) " हवि " जो हवन करनेके निमित्त घृत, तिल, शर्करादि द्रव्य हैं वे भी ब्रह्म ही हैं " अन्नम्ब्रह्म इति श्रुतेः " " अन्नम्ब्रह्मेति व्यजानात् " इन श्रुतियोंके वचनोंसे भी अन्नका ब्रह्म होना सिद्ध है। इसलिये हवनीय द्रव्य भी ब्रह्म-रूप ही हुआ। फिर " ब्रह्माग्नौ " जिस अग्निमें हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है इसलिये ब्रह्माग्नौ कहा है। तहां यजुर्वेद का प्रमाण है, कि " ॐ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः " अर्थात् वही ब्रह्म अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है और वही चन्द्रमा है। ऋग्वेद भी " ॐ अग्निमीळे " इस मंत्रसे अग्नि-रूप ब्रह्म की स्तुति करता हुआ आरम्भ हुआ है। इसी ऋग्वेदके मंडल १ अ० १ सूक्त १ के मंत्र ७ में कहा है ॐ उपेत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्त धिया वयं नमो भरन्त एमसि ॥

अर्थ— (अग्ने!) सबसे उपासना कियेजाने योग्य हे अग्ने! (वयम्) हम लोग जो आपकी उपासना करनेवाले हैं (दिवे दिवे) नाना प्रकारके दिव्य-दिव्य ज्ञानोंकी प्राप्तिके लिये (दोषावस्त) रात्रि दिवा (धिया) अपनी बुद्धिसे (भरन्त) आपकी उपासना को धारण किये हुए (नमः) नमस्कारादि करते हुए (उप एमसि) आपकी शरण प्राप्त होते हैं।

इस वेदमंत्रसे भी अग्निका ब्रह्म होना सिद्ध है। फिर जिस प्राणी द्वारा आहुति दीजाती है वह भी ब्रह्म ही है। इसलिये भगवान्‌ने "ब्रह्मणाहुतम्" कहा। क्योंकि जिस प्राणीको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हुई है वह ब्रह्म-रूप ही है। जो प्राणी सर्वत्र ब्रह्मको ही देख रहा है, ऐसे ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्म-रूप ही समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा प्राणी जो आहुति देता है वह सकाम-कर्म करनेवालोंके समान स्वर्ग तथा राज्य-सुखादि विषयोंकी कामनासे नहीं देता है। वह तो केवल ब्रह्मको ही सर्वत्र व्यापक समझ अर्पण, हवि, अग्नि तथा अपनेको भी ब्रह्म-रूप ही देखता है।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [**ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना**] तिस ब्रह्म-कर्म-रूप समाधिसे जो गन्तव्य है अर्थात् जहा जाने योग्य है वा जो फल प्राप्त करने योग्य है वा जिस फल तक पहुंचने योग्य है वह भी ब्रह्म ही है। तात्पर्य यह है, कि जो ब्रह्मवेत्ता है वह सब कुछ करता हुआ कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण सबको ब्रह्म रूप ही देखता है अर्थात् उठना, बैठना, चलना, सोना, जागना, अहार करना, हँसना, रोना, बोलना, गाना, यज्ञ करना, अध्ययन करना कराना, सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, जप, तप, भजन, स्मरण, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इत्यादि जो कुछ करता है सब ब्रह्म-रूप ही जानता है। ब्रह्मसे इतर कोई अन्य संकल्प किसी लोक लोकान्तरकी प्राप्ति निमित्त उसके मनमें उपजता ही नहीं। ऐसे दिवा रात्रि ब्रह्म-कर्ममें मग्न रहनेवालेको ब्रह्मकर्मसमाधि कहते

हैं। तिस ब्रह्मकर्मसमाधि द्वारा ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है। क्योंकि उसकी दृष्टिमें सदा यह श्रुति नृत्य कर रही है— **ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥** (मुण्डक २ खण्ड २ श्रुति ४३)

अर्थ— ये जो नाना प्रकारके पदार्थ इस संसारमें भासमान हैं ये सब अमृत-रूप ब्रह्म ही हैं। *आगे भी ब्रह्म, पीछे भी ब्रह्म, दायें भी ब्रह्म, बायें भी ब्रह्म, नीचे भी ब्रह्म और ऊँचे भी ब्रह्म तथा सब ओरसे फैली हुई नाम-रूपवाली भासमान जो वस्तु सब ब्रह्म ही हैं। कहांतक कहाजावे यह जो संपूर्ण विश्व है सब (**वरिष्ठम्**) श्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

शंका—जब ब्रह्मज्ञानीके सब कर्म ब्रह्म-रूप ही हैं तो इनकी हिंसा चोरी, जारी इत्यादि कर्म भी तो ब्रह्म-रूप ही होंगे ?

समाधान— एक ही विषयमें बारम्बार शंका करनी तुम्हारी भूल है। बारम्बार कहाजाता है, कि जो ब्रह्मज्ञानी है वह " यतचित्तात्मा " भी अवश्य होता है। जो यतचित्तात्मा है उससे हिंसा, चोरी, जारी इत्यादि कर्म हो ही नहीं सकते। जब कर्म ही की शून्यता हुई तो उसके फल कहांसे आवेंगे ? यदि कहो, कि प्रारब्धकी बरियायीसे ऐसे यतचित्तात्मा द्वारा भी अविहित कर्मका उदय होसकता है तो होजावे पर उसके अशुभ फल ब्रह्मज्ञानके महत्व रूप सागरके प्रवाहमें ऐसे बहजाते हैं जैसे जाह्नवीके प्रवाहमें मल-मूत्र इत्यादि। परशुरामने मातृहिंसा की,

* اندرون و بیرون وازپش وازپس ، راجب وازچپ زیر و بالائی

पराशरने प्रारब्धवश कुमारी-गमन किया, विश्वामित्र अप्सरासे ठगेगये, पर इन महापुरुषोंके ये सब कर्म उनके महत्त्वके प्रवाहमें ऐसे बहगये, कि उनका कहीं पता भी न लगा । हां! यदि इनके ये कर्म अभ्यस्त होते अर्थात् बारम्बार किया करते तो ये यतचित्तात्मा नहीं कहेजाते। पापों के द्वारा नरकगामी होजाते । आज तक जो उनके नाम ब्रह्मज्ञानियों तथा महापुरुषोंकी कोटिमें गिने जाते हैं, नहीं गिनेजाते । हे बादी ! तू बारम्बार ऐसी पोच शंका न कियाकर!

इस श्लोक द्वारा भगवान्ने यज्ञके सब अंगोंको तथा यज्ञकर्ताको और यज्ञरूप कर्मको ब्रह्म + कहकर अर्जुनके प्रश्नका यों उत्तर दिया, कि ब्रह्मवेत्ता, त्यक्तसर्वपरिग्रह, द्वन्द्वातीत, निष्काम-कर्म करनेवालोंके अग्निष्टोमादि यज्ञ-कर्मोंके फल अपनी शक्ति सहित ब्रह्मरूप होजाते हैं। क्योंकि सब ब्रह्मरूप ही हैं ॥ २४ ॥

+ ब्रह्म— बृंहति वर्द्धते निरतिशयमहत्वलक्षणवृद्धिमान् भवतीत्यर्थः । बृंहि वृद्धौ 'बृहे र्नोऽच्च' उणा० ४– १४५ । मनिन् नकारस्याकारः । रत्वंचम् ।

अब जानना चाहिये, कि इस ब्रह्मके जातित्वका तो कुछ पता नहीं है क्योंकि श्रुति कहती है, कि "न विद्मो न विजानीम:" अर्थात् न तो हम उस ब्रह्मके जातित्वको जानती हैं न जनासकती हैं, क्योंकि यह ब्रह्म विदित और अविदित दोनोंसे न्यारा रहा । यथा– "अन्यदेवतद्विदितादविदितादधि" पर वह अपने दो प्रकारके गुणों से जाना जाताहै तिसके दो रूपहैं साकार और निराकार अर्थात् मूर्त्तिमान् और अमूर्त्ति-मान् । यथा श्रु०—"द्वावेव ब्रह्मणो रूपे यन्मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्चेति" । इसलिये इस श्लोकमें भगवान्ने हवि, अग्नि तथा आहुतिके सब साकार अर्थात् मूर्त्तिमान् द्रव्योंको भी ब्रह्म कहा ।

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि इन अग्निष्टोमादि यज्ञोंसे इतर और किसी प्रकारके यज्ञ हैं ? यदि हैं तो किस प्रकारके ज्ञानी किस प्रकारके यज्ञका सम्पादन किया करते हैं ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

**मू०— दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥**

पदच्छेदः—अपरे (अन्ये) योगिनः (कर्मयोगिनः । कर्म्मिणः) दैवम् (सूर्यादयो देवा इज्यन्ते येन यज्ञेन तम् दर्शपौर्णमासादिकम्) यज्ञम् (कर्म) एव (निश्चयेन) पर्युपासते (श्रद्धयाऽनुतिष्ठन्ति । सर्वदा कुर्वन्ति) अपरे (ज्ञानयोगिनः । ब्रह्मवादिनः)+ ब्रह्माग्नौ (सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपम्ब्रह्म तत्पदार्थस्तस्मिन्नग्नौ) ÷ यज्ञम् (प्रत्यगात्मानं त्वं पदार्थम् । जीवरूपामाहुतिम् । यज्ञादि सर्वकर्म-समूहम् वा) यज्ञेन (ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनरूपेण यज्ञेन) एव (निश्चयेन) उपजुह्वति (प्रदीपन्ति। बुद्ध्याद्युपाधिसंयुक्तस्यात्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेणैव यद्दर्शनं स तस्मिन् होमस्तं कुर्वन्ति । प्रविलापयन्ति) ॥ २४ ॥

पदार्थः—(अपरे) दूसरे जो कर्मयोगके साधन करनेवाले कर्मी अर्थात् कर्मयोगी हैं वे (दैवम् यज्ञम्) दैवयज्ञका सम्पादन करते

+ सर्वकर्मदग्धृत्वादग्निरिवाग्निर्ब्रह्म ।

÷ यज्ञशब्द आत्मनामसु (यास्केन पठितः) ।

हैं, अर्थात् जिससे सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्रादि देवता पूजित होकर प्रसन्न हों ऐसे दर्श-पौर्णमासादि दैवयज्ञको (पर्य्युपासते) श्रद्धा-पूर्वक करते हैं। (अपरे) दूसरे ज्ञानयोगके अनुष्ठान करनेवाले ज्ञानयोगी (ब्रह्माग्नौ) सर्व-कर्मोंको भस्म करनेवाली ब्रह्माग्निमें (यज्ञम्) अपने आत्माको (यज्ञेन) ब्रह्म और आत्माकी एकता रूप यज्ञसे अथवा नाना प्रकारके कर्मोंको ब्रह्मरूप अग्निमें भस्म करदेनेवाले यज्ञसे (एव) निश्चयकर (उपजुह्वति) हवन करडालते हैं। अर्थात् बुद्धि इत्यादि उपाधियोंसे युक्त आत्माको सर्व-उपाधियोंसे रहित कर ब्रह्माकार देखना ही जो एक विशेष प्रकारका होम है उसे करडालते हैं। अर्थात सब उपाधियोंको भस्म करके जीव-ब्रह्मके अभेद रूप ज्ञानको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया था, कि कितने प्रकारके यज्ञ हैं? और उनके सम्पादन करनेवाले कौन-कौन महापुरुष हैं ? उस के उत्तरमें श्री गोलोकविहारी इस श्लोकसे लेकर आगे श्लो० २९ तक १२ प्रकारके यज्ञोंको विलग-विलग समझावेंगे। पहले जो कहआये हैं, कि यज्ञकी श्रुवा, हवि, अग्नि इत्यादि सबको ब्रह्मरूप ही जानना ऐसे कहनेसे भगवान्‌का मुख्य अभिप्राय यही है, कि अगले सब यज्ञों के फल भी ब्रह्मरूप ही होजाते हैं।

अब भगवान् इस श्लोकमें सबसे पहले कर्मयोग और ज्ञानयोग का वर्णन करनेके अभिप्रायसे कहते हैं, कि [**दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते**] पूर्व कथन किये हुए अग्निष्टोमादि यज्ञों के सम्पादनकरनेवालोंसे इतर जो कर्मी अर्थात् कर्मयोगी हैं। वे सूर्य,

चन्द्र, इन्द्र, वरुण, कुवेर इत्यादि देवताओंको प्रसन्न करनेके तात्पर्य से " दैवयज्ञ " अर्थात् " ज्योतिष्टोम " तथा 'दर्शपौर्णमासादि' कर्मोंका सम्पादन करते हैं।

ज्योतिष्टोमः— " षोडशऋत्विक्साध्ययज्ञविशेषः " यह ज्योतिष्टोम एक विशेष यज्ञ है जो १६ ऋत्विजोंके द्वारा सम्पादन किया जाता है इसका वर्णन **मलमासतत्त्व** नामक ग्रंथमें देखो।

दर्शः— "अन्योन्यं चन्द्रसूर्य्यौ तु दर्शनाद्दर्श उच्यते " चन्द्रमा और सूर्य्य एक राशिमें होकर जिस दिन एक दूसरेको देखें उसी दिनको अर्थात् अमावस्याको "दर्श" कहते हैं। इसलिये अमावस्याके दिन जो विशेष यज्ञ सम्पादन किया जाता है उसे भी दर्श कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। (मलमासतत्वमें देखो)

पौर्णमासः—पौर्णमासीके दिन जो विशेष यज्ञ किया जाता है उसे पौर्णमास कहते हैं। (मलमासतत्वमें देखो)

एवम् प्रकार इस दैवयज्ञको कर्मयज्ञके अन्तर्गत रक्खा है क्योंकि इनसे भी इतर अग्निष्टोम, वाजपेय पितृयज्ञ, नृयज्ञ (अतिथिसत्कार) तपयज्ञ, जपयज्ञ, बलिवैश्वदेव इत्यादि अनेक प्रकारके यज्ञ कर्मयज्ञके अन्तर्गत हैं। पर ये सब अधिकारी भेदसे दो प्रकारके होते हैं:—

" कर्मयज्ञो द्विधा प्रोक्तः कामाकामविभेदतः।
कामान् कामी ततो भुक्त्वा कामासक्तः पुनर्भवेत्॥
अकामो रुद्रभवने भोगान् भुक्त्वा ततश्च्युतः।
तपयज्ञरतो भूत्वा जायते नात्र संशयः॥

तपस्वी च पुनस्तस्मिन भोगान्न भुक्त्वा ततश्च्युतः ।
जपध्यानरतो भूत्वा मर्त्योऽदृष्टवशादिह ॥
ज्ञानं लब्ध्वा चिरादेव शिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥ "

अर्थ— कर्म-यज्ञ दो प्रकारका है, काम और अकाम । जो काम संयुक्त अर्थात् कामना लियेहुए है उसका सम्पादन करनेवाला कामी-पुरुष स्वर्गादि फलको भोगकर फिर इस संसारमें गिरता है ।

जो अकाम-कर्मयज्ञ करनेवाला है वह रुद्रभवन अर्थात् कैलास में जाकर भोगोंको भोगकर तहांसे तपमें रत होकर संसारमें आता है तहां अपने तपका फल भोगकर जप और ध्यानमें रत होकर ज्ञानमें रत होता है तहां ज्ञान भोग सम्पादन कर सायुज्यमुक्ति प्राप्त करता है ।

अर्थात् कर्मयोगसे तपयोग फिर तपसे जप और ध्यान दोनोंका सम्पादन करता हुआ अन्तमें वही प्राणी ज्ञानयोगको प्राप्त कर ब्रह्ममें लय होजाता है ।

इन्हींमें वे लोग भी हैं जो अपने-अपने इष्टदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादिकी उपासना करते हैं ।

इनमें जो जिसकी उपासना करता है वह उसीको प्राप्त होता है । प्रमाण श्रु०— "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एन तदभवत्" (वृहदा० अ० १ ब्राह्म० ४ श्रु० ८ में देखो) अर्थ— जो जिस

देवताकी उपासना करता है वह उसी देवताके रूपको प्राप्त होता है। इसी सिद्धान्तको भगवान् आगे भी कहेंगे। "यं यं वापि स्मरन्भावम" (अ० ८ श्लो० ६) पर इन दिनों जो अल्पबुद्धि हैं वे तो उस अपने देवको दूसरे देवताओंसे भिन्न समझते हैं और +द्वेष भी करते हैं।

इस प्रकार भगवान् इस कर्मयोगको संक्षिप्त रीतिसे कहकर अर्जुनके प्रति ज्ञानयोगका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति] ब्रह्मरूप जो अग्नि है उसमें अर्थात ब्रह्मा-

+ टिप्पणी— प्रिय पाठको ! यह पोच व्यवहार पूर्णरूपसे इस कलियुगमें वर्तमान है। थोडे दिनकी बात है, कि काशी भारत-धर्म-महामण्डलमें वैष्णव और शैव भयंकर रूपसे परस्पर लडने लगगये। कितने वैष्णव शैवोंके शरीरमें लिपटेहुए भस्मको अग्निका मल बताने लगगये हैं। कितने शिवके मन्दिरमें जानेसे घृणा करते हैं। शिव को नमस्कार भी नहीं करते। शोक है इनकी अल्पबुद्धिपर। कदाचित् ये ऐसा कह-बैठेंगे, कि उपासकको अपने उपास्यमें अनन्य-भक्ति होनी चाहिये इस कारण हम अन्य देवताकी निन्दा करते हैं और उसे तुच्छ समझते हैं। पर प्यारे द्वेषियो! द्वेष करना अनन्य-भक्ति नहीं है। देखो ! गोस्वामी तुलसीदासजीने राम-उपासक होनेपर भी अपनी रामायणमें गणेश, शिव इत्यादिको भी रामरूप समझ कर स्तुति की है द्वेष नहीं किया है—

दो०—क्या बर्णों छवि आजकी भले बनेहो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष बाण लो हाथ॥

द्वेषी इस दोहाका भाव समझें, प्रसिद्ध दोहा है।

कार वृत्तिमें (यज्ञम्) अपने आत्माको (यज्ञेन एव) यज्ञकी रीतिसे अर्थात् जैसे यज्ञ करने वाले यज्ञके तिल, यवादि हवनीय-द्रव्योंको मंत्रोंसे शुद्ध कर अग्निमें हवन करदेते हैं इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञानी अपने आत्माको हवनीय-द्रव्यके समान सब विकारोंसे शुद्धकर अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंको दूरकरके नाना प्रकारकी उपाधियोंको हटाकर शुद्ध और निर्मल बनाकर उक्त ब्रह्मरूप अग्निमें (उपजुह्वति) हवन कर देते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि ज्ञानी पुरुष यतचित्तात्मा होकर विषय-भोगोंसे मनको हटा, प्रपंचसे उपशमको प्राप्त हो और तीन गुणोंसे अतीत हो अपनेको ब्रह्ममें हवन करदेता है। अर्थात् ब्रह्मरूप ही होजाता है। उसको जीव और ब्रह्मका भेद तनक भी नहीं रहता। श्रुतिका भी वचन है, कि " ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप ही होजाता है। क्योंकि जिस प्राणीने अपने आत्माको निर्मल कर अपने वश करलिया है वही प्राणी प्रथम चित्तके प्रसादको प्राप्त होता है- "आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति " (देखो अ० २ श्लो० ६४) इसी वचनको श्रुति भी कह रही है, कि—

"चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्। प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते। समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषय गोचरम्। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत वन्धनात्। समाधिनिर्धौ-तमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णा-यितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥ (मैत्र्युप० प्रं० ६)

अर्थ— चित्तके प्रसादसे शुभाशुभ-कर्मोंको जो प्राणी हनन करडालता है सो प्रसन्नात्मा आत्मामें स्थित होकर अविनाशी सुख-स्वरूपको प्राप्त करता है। जैसे इस जीवका चित्त विषय भोगमें समासक्त रहता है ऐसे यदि ब्रह्ममें डूबा रहे तो ऐसा कौन है जो मोक्ष पदवी को प्राप्त नहीं होगा? क्योंकि चित्तके विकारोंको समाधि द्वारा भस्म करके ब्रह्ममें प्रवेश करदेनेसे जिस सुखकी प्राप्ति होती है उसे शारदा भी वर्णन नहीं कर सक्ती वह तो स्वयं उसी प्राणीका अन्तःकरण आपसे आप अनुभव करता है जिसे वह सुख प्राप्त होता है। अर्थात् अपने आत्माके विकारोंको शुद्ध कर अपनेको ब्रह्माग्निमें जो हवन करता है वह ब्रह्म-यज्ञका करनेवाला कहाजाता है। पर यह तत्व अत्यन्त गूढ है। इसलिये यह ब्रह्मयज्ञ सर्वसाधारणसे साध्य नहीं हो-सकता "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" ॥ (कठ० अ० १ वल्ली ३ श्रु० १२)

अर्थ— यह जो पुरुष है सो ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त माया से प्रच्छन्न होनेके कारण आत्माके प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता। कोई-कोई ऐसे सूक्ष्मदर्शी हैं जिनकी अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिके अग्रभाग से यह आत्मा देखाजाता है। अर्थात कोई सूक्ष्मदर्शी इस आत्माको जानकर ब्रह्मयज्ञका सम्पादन करनेवाला होता है। मुख्य तात्पर्य यह है, कि अन्तःकरणके सकल विकार और उपाधियोंको ब्रह्माग्निमें भस्म कर ब्रह्ममें समाधिस्थ होजाना ब्रह्मयज्ञ कहाजाता है जिसे बिरला कोई प्राणी साधन करता है ॥ २५ ॥

अब भगवान् दूसरे प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करते हैं—

मू०— श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६॥

पदच्छेदः— अन्ये (इतरे योगिनः) श्रोत्रादीनि (कर्णचक्षुर्जिह्वादीनि) इन्द्रियाणि (ज्ञानेन्द्रियाणि । बाह्यकरणानि) संयमाग्निषु (इन्द्रियेन्धनसंहारहेतुत्वात्संयमा एवाग्नयस्तेषु । धारणाध्यानसमाधयस्त्रयः संयमा एव अग्नयस्तेषु) जुह्वति (प्रत्याहरन्ति प्रक्षिपन्ति । धारणाध्यानसमाधिसिद्ध्यर्थं स्व—स्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य इन्द्रियाणां नियमनं कुर्वन्ति) [तथा] अन्ये (तत्त्वविदः) शब्दादीन (शब्दरूपरसादीन्) विषयान् (शास्त्रविरुद्धान् विषयभोगान्) इन्द्रियाग्निषु (इन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेषु) जुह्वति (भोगसमयेप्यनासक्ताः सन्तोऽग्नित्वेन भावितेष्विन्द्रियेषु हविष्ट्वेन भावितान् शब्दादीन् प्रक्षिपन्ति) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (अन्ये) दूसरे यज्ञ करनेवाले योगी (श्रोत्रादीनि) श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा इत्यादि (इन्द्रियाणि) इन्द्रियोंको (संयमाग्निषु) धारणा, ध्यान, समाधि-रूप संयमाग्नियोंमें (जुह्वति) हवन करते हैं । अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे बचायेहुये ब्रह्मचर्य इत्यादि कठिन तप-रूप अग्निमें भस्म करते हैं । इसी प्रकार (अन्ये) इनसे इतर जो तत्त्वके जाननेवाले हैं वे (शब्दादीन) शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श-रूप (विषयान्) भिन्न-भिन्न विषयोंको (इन्द्रि-

यग्निषु) श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा, नासिका और त्वचा-रूप भिन्न-भिन्न अग्नियोंमें (जुह्वति) हवन करडालते हैं। अर्थात् कार्य-कर्म जान उस विषयको भोगलेते हैं। जैसे पितृ-पिण्डकी रक्षा निमित्त सन्तानोत्पत्तिको कार्य-कर्म जानकर अपनी धर्मपत्नीके संग काम बिलास करलेते हैं पर उसमें आसक्त नहीं होते। प्रत्येक इन्द्रियसे वेद-विहित-कार्योंका सम्पादन करना ही मानो विषयोंको इन्द्रियाग्नियोंमें हवन करना है। सो आश्रमियोंमें कोई विरला ही करता है ॥ २६ ॥

भावार्थः—योगेश्वर भगवान्ने जो अपने भक्त अर्जुनको १२ प्रकारके यज्ञोंको समझानेकी कृपा की है उनमें दैवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ दो यज्ञोंका वर्णन पूर्व श्लोकमें करके अब इस श्लोकमें संयमयज्ञ और इन्द्रिययज्ञ इन दो प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति**] तीसरे यज्ञकरनेवाले जितने योगीजन हैं वे संयमकी अग्नियोंमें श्रोत्रादि न्द्रियोंको हवन करते हैं। यहां संयमाग्नि शब्दको बहुवचनमें कहनेका तात्पर्य यह है, कि भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके व्यापारोंको रोकनेकेलिये भिन्न प्रकारके संयम हैं। फिर इन भिन्न प्रकारके संयमोंमें प्रथम जो संयम है उसे "प्रज्ञालोक" संयम कहते हैं। अर्थात् सब इन्द्रियोंको रोकनेवाली जो शुद्धा प्रज्ञा तिसका बिम्ब जब आत्माके सम्मुख होता है उसे ही "प्रज्ञालोक-संयम" कहते हैं। अर्थात् (प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासयतीति) (व्यासः) जब प्रज्ञा ज्ञेयको प्रकाश कर लेती है उस अवस्थाको प्रज्ञालोक-संयम कहते हैं। सो धारणा, ध्यान और समाधिके बिना नहीं होसकता। इसीलिये जब ये तीनों एकत्र होते हैं तब प्रज्ञालोकसंयमकी दशा उत्पन्न

होती है। अर्थात् इन तीनोंके एकत्र होनेसे जिस संयमकी प्राप्ति हो उसे ही **प्रज्ञालोकसंयम** कहते हैं। जैसा, कि पतंजलिने अपने योगसूत्र में कहा है, कि "**त्रयमेकत्रसंयमः**" (पतं० अ० ३ सू० ४) जिसका अर्थ व्यासदेव अपने भाष्यमें यों करते हैं, कि "**एकस्मिन् विषये ध्यानधारणासमाधिलक्षणं त्रितयं प्रवर्तमानं संयमसंज्ञाशास्त्रे व्यवह्रियते**" अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि तीनों जब एक विषयमें जा जुटते हैं तब उसे शास्त्रमें **संयमसंज्ञा** कहते हैं।

बहुतेरे प्रिय पाठक धारणादि तीनों अवस्थाओंको ही नहीं जानते होंगे इसलिये मैं पहले इन तीनोंका वर्णन संक्षिप्त रीतिसे कर देता हूं। यद्यपि इन अवस्थाओंकी प्राप्ति तो बिना गुरुकी शिक्षा नहीं होसकती। तथापि इनमें श्रद्धा उत्पन्न होनेके तात्पर्य्य से इन तीनोंका संक्षिप्त वर्णन करदेना उचित है।

१. धारणा— "**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**" (पतं० अ० ३ सूत्र १) अर्थः– "**देशे नाभिचक्रादौ चित्तस्य वन्धो विषयान्तरपरिहारेण यत् स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धारणेत्युच्यते**" (व्यासः)। अर्थात् चित्तको सर्व प्रकारके अन्य विषयोंसे हटाकर नाभिचक्रादिपर एकाग्र कर स्थिर करनेका नाम "धारणा" है। चाहे नाभिचक्रमें दश-दल कमल-पर कीजिये, चाहे अपने इष्टदेवकी मूर्तिपर कीजिये।

२. ध्यान— "**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**" जिसका भाष्य श्री व्यासदेव यों करते हैं "**तत्र तस्मिन्देशे यत्र चित्तं धृतं तत्र**

प्रत्ययस्य ज्ञानस्य या एकतानता विसदृशपरिणामपरिहारेण यदेव धारणायामालम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरंतरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते ।" अर्थ— धारणा करते करते जिस विशेष वस्तुमें चित्त लगाया गया है उसीमें बुद्धिकी जो एकाग्रता है अर्थात् धारणाका जो विशेष अवलम्बन है उसी अवलम्बनका अर्थात् ध्येयकी जो हृदयमें विशेष उत्पत्ति सदा एक रस है, अपनेसे इतर अन्य सर्व प्रकारके अवलम्बनोंको हटादिया है जिस ज्ञानकी एकतानताने उसे ध्यान कहते हैं ।

सो इन दोनों प्रकारके संयमोंके विषय भगवान् इसी श्लोकमें कहते हैं। पर समाधिरूप तीसरे संयमको अगले श्लोकमें कहेंगे ।

३. समाधिः — " **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः** " (पतं० अ० ३ सू० ३) अर्थात् वही ध्यान जब ध्येयके आकारसे भासने लगता है अर्थात् ध्यान और ध्येयमें भेद बुद्धि नहीं रेहती है। ध्याताके निज स्वरूपमें शून्यता प्राप्त होजाती है अर्थात् ध्याता जब स्वयं ध्येय बन जातां है तब उसी अवस्थाको समाधि कहते हैं। इसी कारण समाधिवालोंने समाधिकी दो विशेष अवस्थाएं वर्णन की हैं। १. " **संप्रज्ञात-समाधि** " और २. **असंप्रज्ञात-समाधि** । अर्थात् जबतक ध्येयाकारवृत्ति की प्राप्ति होती रहें तबतक उसे **संप्रज्ञात-समाधि** कहते हैं। पर जब ध्येयाकारवृत्ति भी प्रविलीन होजावे तब उसे " **असंप्रज्ञात-समाधि** " कहते हैं। समाधिसे व्युत्थान होने पर समाधिवालेको अपनी दशाकी विस्मृति नहीं होती। जैसे घोर निद्रामें सोनेवाला कह पडता है, कि आज मैं गाढी निद्रामें बडे आनन्दसे

सोगया था। यद्यपि वह अवस्था उसे प्राप्त नहीं है पर उसकी थोडी-सी स्मृति बनीहुई है। जैसे ग्रीष्म ऋतुके प्रचण्ड तापमें जो देवप्रयाग तीर्थकी गंगामें डूबकर बाहर निकलता है वह यद्यपि जलमें नहीं है तथापि उस ठण्डकका आनन्द उसे स्मरण है । इसी प्रकार श्री शंकराचार्य समाधिसे उत्थान होनेके पश्चात् कहते हैं, कि **मनोबुद्ध्यहंकारचित्तादिनाहं न श्रोत्रं न जिह्वा न च घ्राण नेत्रम् । न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्** ॥ (अर्थ स्पष्ट है)।

यह तो एक प्रकारका संयम हुआ। इस प्रकारका संयम करनेवाला त्रिकालदर्शी होजाता है। जैसा, कि पतञ्जलि कहते हैं, कि " **परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्** " अर्थात् इस त्रय संयमका परिणाम यही है, कि **अतीत** (जो बीतगया) और **अनागत** (जो आनेवाला है) तिन दोनोंका ज्ञान होजावे।

इस **त्रयसंयम-रूप अग्निमें** अन्तःकरणके सहित ज्ञानेन्द्रियोंका हवन करदेना **संयमाग्निमें** हवन करना कहलाता है। इन तीनों प्रकारके संयमोंमें दो संयमोंको इस श्लोकमें दिखाकर समाधि-संयम अगले श्लोकमें समाधि-यज्ञका वर्णन करतेहुए दिखावेंगे।

नीलकण्ठचतुर्धरीमें इसका भाष्य करतेहुए श्रोत्र इन्द्रियको जिस नादानुसन्धान-रूप संयमाग्निमें हवन करनेका संकेत किया है उसे यहां स्पष्ट कर दिखलाया जाता है । श्रोत्र जो कान तिसके हवन करनेकेलिये " **नादश्रवण-रूप संयमाग्नि** " है। इसी नादको

" अनाहतध्वनि " भी कहते हैं । श्रोत्र इन्द्रिय इसी नादको श्रवण करते-करते बाहरके विषयोंसे रुककर इसी नादमें लय होजाती है। जब तक भेरी, झर्झर, वंशी, घंटा इत्यादिके नाद कानोंके भीतर सुने जाते हैं तब तक प्रकृति रहती है । जब सब नाद लय होकर केवल ॐकार प्रणव सुनाजाता है तब ब्रह्माकार वृत्ति होजाती है । श्रोता ब्रह्ममें लय होजाता है । स्वामी सहजानन्द कहते हैं, कि " न नादसमो लयः " उस ब्रह्ममें लय होनेके उपायोंमें नादके समान दूसरा कोई उपाय वा संयम नहीं है । प्रमाण— श्री आदिनाथेन सपादकोटि लयप्रकाराः कथिता जयन्ति । नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ (हठयोगप्रदीपिका उ० ४ श्लो ६६)

अर्थ— श्री आदिनाथ शिव भगवान्से उस ब्रह्ममें लय होनेके एक करोड और पच्चीस लाख उपाय कथन कियेगये, पर सहजानन्दजी कहते हैं, कि इन सब उपायोंमें सबसे उत्तम उपाय मैं नाद-श्रवण ही को मानता हूँ । फिर हंसोपनिषद्की आठवीं श्रुतिमें कहा है, कि " नादो दशविधो जायते चिणीति प्रथमः । चिंचिणीति द्वितीयः । घण्टानादस्तृतीयः । शंखनादश्चतुर्थः । पंचमस्तन्त्री नादः । षष्ठस्ताल नादः । सप्तमो वेणुनादोऽष्टमो मृदंगनादः । नवमो भेरिनादः । दशमो मेघनादः । नवमम्परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ॥

अर्थ— नाद श्रवण करते समय दश प्रकारके नाद इस शरीर में सुनेजाते हैं— १. चिण । २. चिण-चिण । ३. घण्टा । ४. शंख ।

५. तन्त्री (बीणा) । ६. ताल (दोनों हाथोंकी चोटसे जो शब्द आता है) । ७. वेणु (वंशी) । ८. मृदंग । ६. भेरी । १०. मेघ (बादलकी गरज) ।

साधकको चाहिये, कि दोनो कानोंको तर्जनीसे बन्द कर इन दशों प्रकारके शब्दोंमें नव प्रकारको त्याग कर दशवें मेघकी गरज-समान नादको श्रवण करनेमें चित्तको लगावे । ऐसे सुनते-सुनते श्रोत्र-इन्द्रिय इसी नाद-रूप अग्निमें हवन होजावेगी । अर्थात् लय होजावेगी । एवम् प्रकार श्रवण इन्द्रियका प्रत्याहार होजानेसे मनोवृत्ति ब्रह्माकार होजावेगी । यही × नादश्रवण रूप संयमाग्नि श्रोत्र इन्द्रिय रूप हवनीय द्रव्यकी विशेष अग्नि हुई । तिस नादश्रवणका फल श्रुति यों कहती है, कि— **"तस्मिन्मनो विलीयते मनसि संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयं ज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरंजनः शान्तः प्रकाशत इति ॥"**

× नाद श्रवणका उपाय यह है, कि एकान्तस्थानमें जहां किसी प्रकारका कोलाहल न हो, किसी देवालयमें वा नदीके तट पर तथा किसी मैदानमें जाकर आसन लगा दोनों कानोंके रन्ध्रोंको दोनों तर्जनियोंसे रोक अर्थात् दोनों तर्जनियोंको कानोंके भीतर डाल अत्यन्त गाढ़ी रीतिसे दाबकर मनको दाहिने भ्रू की ओर लगा मेघनाद को श्रवण करे और यह ध्यान करे, कि यह नाद कहांसे आता है ।

कानोंमें लगानेका यंत्र भारत त्रिकुटी महल मुजफ्फरपूरसे मंगाकर कानोंमें लगाकर सुनो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध होकर समाधि तक पहुंचा देवेगी । हाथोंकी अंगुलियोंसे कानोंके रन्ध्रोंको बन्द करनेका कष्ट नहीं होगा ।

अर्थ— तिस नादमें मनका लय होजाता है । तिस मनमें जो संकल्प—विकल्पात्मक पुण्य पाप हैं तिनके दग्ध होजानेसे सदाशिव अर्थात् परब्रह्म स्वरूप होजाता है । एवम् प्रकार ब्रह्मत्वकी शक्तिसे युक्तात्मा होकर सर्वत्र अवस्थित-रूप सर्व ज्योति शुद्ध बुद्ध नित्य निरञ्जन शान्त स्वरूप होकरके प्रकाशित होता है अर्थात् परब्रह्म होजाता है ।

यह तो श्रोत्र इन्द्रियको विषयोंसे बचाकर नादश्रवण-रूप संयमाग्निमें हवन करनेका फल कहागया । फिर श्रोत्र इन्द्रियके हवन करनेको संयमाग्निका रूप बतायागया । अब अन्य इन्द्रियोंकी संयमाग्नि का रूप सुनोः—

रसना-रूप इंद्रियके हवन करनेके लिये जप-रूप संयमाग्नि है । तिसके तीन भेद हैं— १. वाचिक । २- उपांशु और ३. मानस । १. " वाचिक " वह है जिसमें जपने वालेका शब्द दूसरेके कान तक सुनपडे । २. "उपांसु-जप" वह है जिसमें धीरे-धीरे होठ तो हिलें पर दूसरेके कानों तक शब्द न पहुंचे । ३."मानस" वह है जिसमें न जिह्वा हिले न होठ हिलें केवल जपके अर्थकी भावना कीजावे । अर्थात् प्रत्येक वाचकके साथ उसके वाच्यका ध्यान कियाजावे। जैसे राम-राम जपने वाला रामके स्वरूपमें और कृष्ण-कृष्ण जपने वाला कृष्णके स्वरूपमें तथा शिव-शिव जपने वाला शिवके स्वरूपमें मन लगाकर ध्यानावस्थित रहे । यही मानसिक जप अजपाजाप कहाजाता है । पतञ्जलिने अपने योगसूत्रमें कहा है, कि " तज्जपस्तदर्थभावनम् " (पत० अ० १ सू० २८)

अर्थात् जप करना क्या है ? कि उसके अर्थ अर्थात् ईश्वरकी

बारम्बार भावना करनी है । इसलिये जिह्वा इंद्रियके हवनके निमित्त भगवत् नामका ज़प तथा सत्य भाषण, कटु वचन, त्याग इत्यादि संयमाग्नि हैं । इनमें जिह्वाका हवन करे ।

अब चक्षु इंद्रियके हवन करनेके निमित्त ज्योतिदर्शन तथा शाम्भवी-मुद्रा रूप संयमाग्निका वर्णन सुनो—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शाम्भवीमुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥
अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते ।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः ।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शाम्भवम् ॥ ३७ ॥

अर्थ— अन्तःकरणका लक्ष्य जो ब्रह्म तिसमें मनको लीन किये एकाग्र-चित्त हो नेत्रोंको दृढ स्थिर कर अर्थात् पलकोंको उठने और गिरनेसे रोक बाहरके विषयोंसे दृष्टिको हटाकर पलकोंके भीतर ही भीतर इस प्रकार अवलोकन करे, कि पुतलियां पलकोंके भीतर प्रवेश करती हुई एकदम उलट जावें और कुछ थोडा-थोडा आंखोंके श्वेतभागका किनारा बाहरसे देखपडे जिसमें बाहरकी वस्तुओंको देखतेहुए भी न देखे, अर्थात् ×अर्धोन्मीलित-लोचन होकर तिस ज्योतिःस्वरूप

× आधी बन्द और आधी खुलीहुई आंखें हों जैसी प्रायः निद्राके समय देखपडती हैं, नीचेकी ओर थोडी-थोडी श्वेतता और पलकोंके मध्य पुतलियां प्रवेशकियेहुये जानपडती हैं ।

परमात्मामें मग्न होजावे इसीको सम्भवी-मुद्रा कहते हैं। जो सब मुद्राओंमें उत्तम और गोपनीय है और केवल गुरु ही द्वारा जानने योग्य है ॥ ३६, ३७ ॥ अब घ्राण इंद्रिय (नासिका) के हवनके लिये जो प्राणायामरूप संयमाग्नि है तिसका वर्णन आगे इस अध्यायके श्लोक २६में कियागया है देखलेना। बच रहे हस्त और पाद। सो एवम् प्रकार हस्तके लिये तो अर्थशौच-रूप संयमाग्नि है। अर्थात् जो अर्थ अशुद्ध रीतिसे लाभ हो यथा चोरी, उत्कोच (घूंस), लूट, हिंसा, व्यभिचारादि अशुद्ध कर्म द्वारा अर्थको नहीं प्राप्त करना, अर्थ शौचरूप संयमाग्नि है। जिसमें हस्तेन्द्रियको हवन करे। शिश्नेन्द्रिय (लिंग) के लिये ब्रह्मचर्य-रूप संयमाग्नि है। जो चारों आश्रमोंमें प्रथम आश्रमका धर्म है।

इनसे इतर पादादि इन्द्रिय साधारण हैं। जिनसे कोई ऐसा विकार उत्पन्न नहीं होता, कि उनकेलिये किसी प्रकारकी संयमाग्निकी आवश्यकता होवे। हां इतना तो है, कि चलने फिरनेसे जो मार्गमें चींटियां इत्यादि मरती हैं उनको यथाशक्ति बचाकर चले " दृष्टिःपूतं न्यसेत् पादम् " नेत्रोंसे देखकर विचारता जावे, कि मार्गमें पैरोंके तले कोई जीव न पिसने पावे। तथा ऐसे-ऐसे विकर्मोंकी शान्तिनिमित्त जो सन्ध्यादि पंच महा यज्ञोंका वर्णन पहले कर दिया गया है वे ही पञ्च महायज्ञ संयमाग्नि हैं। इनसे इतर पतंजलिने और भी अनेक प्रकारके संयमोंका वर्णन किया है। जिनसे नाना प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं। यथा— भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् (पतं० अ० ३ सू० २७) जिसका भाष्य व्यासदेव करते हैं, कि " सूर्य्ये

प्रकाशमये यः संयमं करोति तस्य सप्तसु भूर्भुवः स्वः प्रभृतिषु लोकेषु यानि भुवनानि तत्सन्निवेशभांजि पुराणि तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते ॥ अर्थ— प्रकाशमय सूर्य्यमें जो संयम करता है तिसको भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक इत्यादि सातों लोकोंमें भिन्न-भिन्न विभागसे अन्य जितने नगरादि प्रवेश किये हुए हैं उन सबोंका पूर्णज्ञान उत्पन्न होजाता है, अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके स्थान विशेषका बोध होजाता है। (यह सूर्य्यसंयमकी सिद्धि है) "चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्" (पतं० अ० ३ सू० २८)

व्यासकृतभाष्यः— "ताराणां यो व्यूहो विशिष्टः सन्निवेशस्तस्मिन् चन्द्रे कृतसंयमस्य ज्ञानमुत्पद्यते"। अर्थात् चन्द्रमामें संयम करनेसे ताराओंके विशेष स्वरूपोंका ज्ञान उत्पन्न होजाता है। (यह चन्द्रसंयमकी सिद्धि है) "ध्रुवेतद्गतिज्ञानम्" (पतं० अ० ३ सू० २६)

व्यासभाष्यः— "ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने कृतसंयमस्य तासां ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकालं नियतदेशं च तस्य ज्ञानमुत्पद्यते। इदं कालज्ञानमस्य फलमित्युक्तं भवति।" अर्थ— सब ताराओंका प्रधान जो ध्रुव तिसमें संयम करनेसे तारा मात्रकी गतिके देश और कालका बोध होता है। अर्थात् सप्तर्षि, ध्रुवाद्य तथा २७ नक्षत्रोंकी चालका बोध होजाता है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इससे कालज्ञानकी प्राप्ति होती है। (यह ध्रुवमें संयम करनेकी सिद्धि है)

सूर्य्य, चन्द्र, ध्रुव इत्यादिमें संयम करनेकी रीति यह है, कि इनमें दोनों नेत्रोंको टिकाकर एकटक देखता रहे। पलक न गिरने पावें। सूर्य्यमें नेत्र टिकाना कठिन है इसलिये अभ्यासीको चाहिये, कि प्रातःकालके सूर्य्यका अवलोकन करे। जब पलक गिर जावें तो आंखोंको मींचकर उस प्रकाशको मस्तकके भीतर लय करे। इसी प्रकार अन्य ज्योतियोंमें भी करना चाहिये। चन्द्रमामें त्राटक करने वाले साधकोंको किंचित् कामका उदय होआता है सो इसपर ध्यान रखे। रोकता जावे। यह तो अपनेसे विलग अन्य पदार्थोंपर संयम करनेका फल हुआ। अब अपने शरीरहीमें भिन्न-भिन्न अंगोपर संयम करनेकी सिद्धियोंका वर्णन कियाजाता है। " **नाभिचक्रे कालव्यूहज्ञानम्** " (पतं० अ० ३ सू० ३०)

व्यासभाष्यः— " शरीरमध्यवर्तिनाभिसंज्ञकं यच्चक्रं तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः कायागतो योऽसौ व्यूहो विशिष्टं रसमलधातुनाड्यादीनामवस्थानं तत्र ज्ञानमुत्पद्यते।" अर्थ— शरीरमध्यवर्ती नाभिचक्रमें संयम करनेसे शरीरके अन्तर्गत रस, मल, धातु, नाडी इत्यादिका पूर्ण बोध होजाता है। (यह नाभिचक्र संयमकी सिद्धि हुई)

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः (पतं० अ० ३ सू० ३१)

व्यासभाष्यः— " कण्ठे गले कूपः कण्ठकूपो जिह्वातोऽधस्तात् कूप इव कूपोगर्ताकारः प्रदेशस्तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासादयो निवर्तन्ते" ॥

अर्थ—जिह्वाकी जडके नीचे कूपके समान एक छोटीसी गहराई है जिसको कण्ठकूप कहते हैं तहां संयम करनेसे योगियोंकी क्षुधा

और पिपासाकी निवृत्ति होजाती है। (यह कण्ठकूप संयमकी सिद्धि हुई) **कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्** (पतं० अ० ३ सू० ३२)

व्यासभाष्य— " कण्ठकूपस्याधस्तात् या कूर्माख्या नाडी तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते " अर्थात् कण्ठकूपके नीचे जो कूर्म नामकी नाडी है तहां संयमकरनेसे चित्तकी स्थिरता उत्पन्न होती है। (यह कूर्मनाडी संयमकी सिद्धि हुई) **मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्** (पतं० अ० ३ सू० ३३)

व्यासभाष्य— शिरः कपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रम्प्रकाशाधारत्वा ज्ज्योतिस्तत्र कृतसंयमस्य ये द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्तिनस्तेषां दर्शनम्भवति " अर्थ— कपालमें जो ब्रह्मरन्ध्र है तहां ज्योति है । तिस ज्योतिमें संयम करनेसे तीनोंलोकोंके सिद्धोंका दर्शन होने लगता है। **हृदये चित्तसंवित** (पतं० अ० ३ सू० ३५)

व्यासभाष्य— " हृदयं शरीरस्य प्रदेशविशेषस्तस्मिन्नधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाभ्यन्तरेऽन्तःकरणस्य स्थानम् तत्र कृतसंयमस्य स्वपरचित्तज्ञानमुत्पद्यते " ॥ अर्थ— हृदयके नीचे एके छोटीसी कमलकली है तिसके भीतर अन्तःकरणका स्थान है तहां संयम करनेसे अपने और दूसरोंके मनकी बात जाननेमें आती है। इन संयमोंके अतिरिक्त और भी नाना प्रकारके सूक्ष्म-संयम हैं। विस्तारके भयसे नहीं वर्णनकिये गये । जिन श्रद्धालुओंको इनके जाननेकी इच्छा होवे वे पतंजलियोगसूत्र अध्याय ३ को पूर्ण प्रकार परिश्रम कर पढें । और भी गुरुदेव द्वारा इन संयमोंके साधन करने की यथार्थ रीति जान लवें ।

मुख्य वार्ता यह है, कि इन संयमोंके पढने मात्रसे कोई कार्य्य नहीं सरेगा जबतक गुरु-शरण जाकर इन संयमोंके साधनके उपाय न समझ लिये जावें। ये साधन लेखमें नहीं आसकते इनके अभ्यास करनेवालोंसे इनकी रीति ठीक-ठीक समझमें आवेगी।

प्रिय पाठको! श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्द कहते हैं, कि वे तीसरे प्रकारके यज्ञ करने वाले "**संयमाग्निषु**" इन्ही संयमोंकी अग्नियोंमें श्रवण, चक्षु, जिह्वा इत्यादि इन्द्रियोंको हवन करते हैं। इसका नाम संयम यज्ञ है। यहांतक आधे श्लोकका अर्थ हुआ। अब आधे श्लोकमें श्यामसुन्दर इन्द्रिय यज्ञका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि

[शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति] (अन्ये) चौथे वे हैं जो विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करते हैं। अर्थात् जो लोग संसृत-भेदके समझने वाले हैं, जिन बुद्धिमानोंने संसारी व्यवहारोंको नश्वर जान, केवल प्रकृतिके आचरणोंको पूर्ण करनेके लिये, संसारी नियमोंको स्थिर रखनेके लिये, पराये और अपने कल्याणके लिये और लोगोंसे धर्म्माचरण करानेके लिये शुद्धाचरणमें प्रवृत्त हैं। चाहे वे ब्रह्मचारी हों, वा गृहस्थ हों, वानप्रस्थ हों, वा सन्यासी हों कोई क्यों न हों? वे सम्पूर्ण विश्वके सुखोंको तृणके समान जान केवल शास्त्रोंके कथनानुसार शुद्ध रीतिसे शब्द, रूप, रस, गन्धादि विषयोंको भिन्न–भिन्न इन्द्रियोंकी अग्नियोंमें (जुह्वति) हवन करते हैं। जैसे श्रोत्र एक इन्द्रिय है जिसे "**श्रोत्रं विस्फुलिंगाः**" इस श्रुतिके वचनानुसार श्रोत्रको अग्निकी चिनगारी कही है। इस श्रोत्ररूप अग्निमें बुद्धिमान् शब्दरूप विषयको हवन करते हैं। वे

शब्दरूप विषय कौन—कौन हैं ? सो सुनो ! नाना प्रकारके मधुर स्वरोंसे जो गीत गाये जाते हैं वे शब्द ही हैं । भिन्न-भिन्न बाजाओंकी ध्वनि भी शब्द ही है । तोतले वचनोंसे अपने पुत्र पौत्रका बब्बा, कक्का; मम्मा कहकर " ता " कह देना भी शब्द ही है । अपने स्वामीके प्रति पतिव्रता-स्त्री का प्राण-वल्लभ, प्राणाधार, प्राणपति कहकर पुकारना भी शब्द ही है । इसीके प्रतिकूल कर्कशा स्त्रीका अवाच्य वचन बोलना भी शब्द ही है । शत्रुके मुखके कटुवचन वा गालियां भी शब्द ही है । इन सर्व प्रकारके शब्दोंको श्रोत्र इन्द्रियका विषय कहते हैं । इनमें जो-जो शब्द श्रोत्र इन्द्रियको इष्ट हैं अर्थात् सुखदायी हैं उनसे प्राणीको राग अर्थात् प्रेम होता है। और जो-जो शब्द अनिष्ट हैं अर्थात् कानोंको दुःखदायी हैं उनसे प्राणीको द्वेष होता है । इससे सिद्ध होता है, कि श्रोत्र ही नहीं वरु चक्षु, जिह्वा इत्यादि जितनी इन्द्रियां हैं सबोंका जो-जो विषय अपना—अपना इष्ट है वह तो प्रिय है और जो अनिष्ट है वह अप्रिय है । इसी वार्ताको आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र तीसरे अध्यायके ३४ वें श्लोकमें कह आये हैं, कि "**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ**" अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियको अपने—अपने विषयकी अनुकूलतासे राग (प्रीति) और प्रतिकूलतासे द्वेष अवश्य रहता है । सब इन्द्रियोंका राजा मन है तिसको भी मित्रसे प्रीति और शत्रुसे वैर बना रहता है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि सर्वसाधारणकी इन्द्रियां अपने-अपने विषयके वशमें रहती हैं । जो प्राणी अपनी इन्द्रियोंको उनके विष-

योंके वशीभूत न रख कर इसके प्रतिकूल विषयोंको वशमें रखता है वही मानों इन्द्रियोंकी आगमें विषयोंका हवन करता है। अर्थात् जो इष्ट शब्दोंसे राग और अनिष्ट शब्दोंसे द्वेष नहीं रखता वही सचमुच विषयोंको इन्द्रियाग्निमें हवन करता है। अर्थात् इन्द्रियोंपर विषयको प्रवल नहीं होने देता वरु विषयोंपर इन्द्रियोंको प्रवल रखता है। जैसे किसी मद्यपीकी बुद्धिपर मद्य प्रवल न होकर मद्यपर बुद्धि प्रवल रहे। तथा मनपर काम प्रवल न होकर कामपर मन प्रवल रहे। ऐसे ही वीर पुरुष इन्द्रियोंको विषयोंपर प्रवल रखते हैं। वही मानो शब्दादि विषयोंको इन्द्रियोंकी अग्नियोंमें हवन करने वाले हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो वीर, स्तुति, निन्दा, मान, अपमान, हर्ष और शोकको एक समान समझ किसी विषयसे राग-द्वेष नहीं रखता है वरु जितने विषय इंद्रियोंके सम्मुख आजाते हैं और शास्त्रकी ×मर्यादासे जिनको जिस प्रकार व्यवहार करनेकी आज्ञा दीगयी है उसी प्रकार रागद्वेषरहित होकर भोगलेता है वही अपनी इंद्रियोंकी

× शास्त्रकी मर्य्यादाके अनुसार भोग लेनेका तात्पर्य यह हैं, कि प्रकृतिके जितने कार्य हैं उनको जब इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होनेलगता है तब प्रारब्धानुसार विधि और निषेध दोनों प्रकारके कर्मोंका बल बुद्धिपर पडता है तहां पुरुषार्थहीन प्राणियोंकी बुद्धि विचारहीन होनेके कारण निषेधकर्म यथा परस्त्रीगमनादिको भी सुख ही समझकर भोगने लगजाता है। परप्रबल पुरुषार्थविशिष्ट–प्राणी जो उपर्य्युक्त गुणोंसे सम्पन्न है निषेधकर्मोंके सुखको दुःख समझकर तिरस्कार करदेता है। इस प्रकार तिरस्कार करदेना हीं निषेधका भोगना हुआ। जैसे विषको मारकर खाना ही विषका भोगना है। इसी प्रकार प्रारब्धानुसार सम्मुख आयेहुए निषेधको भी मारकर पुण्य वा यशका लाभकरना ही निषेधका भोगना है। इसीलिये मर्य्यादापूर्वक भोगनेकी आज्ञा दीगयी है।

आगमें विषयको हवन करनेवाला है । यह चौथा यज्ञ है ॥ २६ ॥

इतना कह श्रीगोलोकविहारी बोले अर्जुन ! अब मैं तुझको पांचवां समाधियज्ञ श्रवण कराता हूं । सुन !

मू०—सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— **अपरे** (अन्ये समाधिसाधकाः) **सर्वाणि** (समस्तानि । निखिलानि) **इन्द्रियकर्माणि** (शब्दादि ग्रहणानि । स्थूलरूपाणि संस्काररूपाणि च इंद्रियकर्माणि । वाह्यानामिंद्रियाणा मन्तरयोश्च मनोबुद्ध्योः कर्माणि) **च** (तथा) **प्राणकर्माणि** (प्राणापानव्यानोदानसमानानां कर्माणि । बहिर्नयनमधोनयनमाकुंचन प्रसारणमशितपीतसमनयनमूर्द्ध्वनयनमित्यादीनि) **ज्ञानदीपिते** (आत्मज्ञानेन प्रकाशिते । तैलेन दीप इव विवेकेन सर्वोपाधिनिरासेनोज्ज्वलतामापादिते) **आत्मसंयमयोगाग्नौ** (आत्मनि संयमः ध्यानैकाग्र्यम् स एव योगाग्निस्तस्मिन्) **जुह्वति** (प्रविलापयति । सर्वाणि कर्माण्युपरमयन्ति) ॥ २७ ॥

पदार्थः— (**अपरे**) पांचवें समाधि-रूप यज्ञ करनेवाले वे हैं जो विवेक और (**सर्वाणीन्द्रियकर्माणि**) सब इंद्रियोंके कर्मों को (**च**) और (**प्राणकर्माणि**) श्वासोच्छ्वास इत्यादि प्राणके कर्मोंको (**ज्ञानदीपिते**) आत्मज्ञानसे प्रकाशित की हुई (**आत्मसंयमयोगाग्नौ**) आत्मसंयम-रूप योगाग्निमें (**जुह्वति**) हवन करदेते हैं अर्थात् सर्व कर्मोंको आत्मामें लय करदेते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थः— योगेश्वर भगवान्ने अर्जुनके प्रति नाना प्रकार के संयम यज्ञोंका वर्णन पूर्व श्लोकमें किया पर सब संयमयज्ञोंमें श्रेष्ठ जो " आत्मसंयम " अर्थात् समाधिरूप यज्ञ है उसे विशेष रूप से वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राणकर्माणि चापरे**] अपरे– पूर्वमें जो चार प्रकार के यज्ञ करने वाले कहेगये हैं उनसे इतर जो आत्मसंयमरूप यज्ञके करनेवाले हैं वे क्या करते हैं सो सुनो ! पहले तो वे अपनी इंद्रियों का और प्राणके कर्मोंका पूर्ण प्रकार विचार करते हैं। अर्थात् ये जो आंख, नाक, कान, जिह्वा और चर्म पांच ज्ञानेंद्रियां हैं तथा वचन, हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ– जो पांच कर्मेन्द्रियां हैं ये वाह्येन्द्रिय वा वाह्यकरण कहीजाती हैं और इनके साथ-साथ मन बुद्धि जो अन्तरकी इंद्रियां हैं वे अन्तःकरण कही जाती हैं । इनके भिन्न-भिन्न कर्मोंका विचार करते हैं अर्थात् पिछले श्लोकमें जो संयमयज्ञ और इंन्द्रिययज्ञ वर्णन कियेगये हैं उनके अनुसार इन इंद्रियोंका संयम करते-करते प्राणी आत्मसंयमयज्ञका अधिकारी होता है इसी कारण पिछले दो श्लोकोंमें जो चार यज्ञोंका वर्णन किया उनसे इस पांचवें आत्मसंयमयज्ञको अन्योन्य सम्बन्ध है– साधक एककी पूर्ति करनेसे दूसरेका अधिकारी होता है।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इंद्रियोंका संयम करता हुआ साधक उन इंद्रियोंके सब कर्मोंको किसी अग्निमें भस्म होनेवाले इन्धनके समान समझे। फिर इनके साथ " प्राणकर्माणि " प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांचो प्राणोंके जो कर्म

विलग-विलग हैं उनको मिला लेवे अर्थात् श्वास परिश्वास करना अर्थात् श्वासका बाहर निकालना जो प्राण काकर्म है, भीतर प्रवेश करना जो अपानका कर्म है और हाथ पैरका सिकोडना और फैलाना जो व्यानका कर्म है, शरीरके भीतर अन्न जलके रसको अँगूठेसे मस्तक तक पहुँचाना जो समानका कर्म है और ऊपरको चलाना जो उदान का कर्म है। इन सबोंको इन्द्रियोंके कर्मोंके साथ मिलाकरे एक करलेवे अर्थात् दशों इंद्रियां पांचों प्राण और दो मन और बुद्धि ये सब मिलकर जो १७ हैं इनही की समष्टि अर्थात् एकसाथ मिलकर सूक्ष्म संस्कारके साथ रहनेका नाम लिंग-शरीर वा सूक्ष्म शरीर है।

भगवान कहते हैं, कि इन सतरहोंके कर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण लिंग-शरीरको कोई-कोई यज्ञ करनेवाले [**आत्मसंयमयोगाग्नौ-जुह्वतिज्ञान दीपिते**] आत्मज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित आत्मसंयम योगाग्निमें भस्म करते हैं अर्थात् समाधिमें इन सबोंको लय करदेते हैं। क्योंकि यह आत्मसंयमयोगाग्नि (समाधि) वह है जिसकी ज्वाला सम्पूर्ण संसार-बन्धनोंको भस्म करदेती है। जिसकी एक छोटीसी चिन-गारी भी शरीरपर पड जानेसे सारे शरीरके विकार भस्म होकर ऐसे नष्ट होजाते हैं, कि उनका कहीं भी पता नहीं रहता। सो आत्म-संयम रूप योगाग्नि क्या है ? सो सुनो ! श्रुतियोंके बचन हैं, कि " १. **आत्मैव इदमग्रासीत** । " " २. **अयमात्मा ब्रह्म** "

अर्थ— १. इस जगतसे पहले आत्मा ही था और कुछ न था। २. यह आत्मा ब्रह्म ही है अन्य कुछ नहीं है।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्
(देखो बृ० अ० ४ ब्रा० ५ श्रु० ६)

अर्थ— याज्ञवल्क्य, मैत्रेयीसे कहते हैं, कि अरे मैत्रेयी! यह आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने और निदिध्यासन अर्थात् पुनः पुनः स्मरण करने योग्य है। इस आत्माको देखने, सुनने, मानने तथा जाननेसे सब कुछ आपसे आप जाना जाता है। फिर इसी उपनिषद्के इसी अध्यायकी सातवीं श्रुतिमें याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीके प्रति कहा है, कि "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" "देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद" अर्थ— ब्रह्मने उस प्राणीको अपनी शरणसे दूर फेंक दिया जिसने आत्माको ब्रह्मसे विलग जाना। देवताओंने उस मनुष्यको अपनेसे बहुत दूर हटा दिया जिसने आत्मासे भिन्न-भिन्न देवताओंको जाना। मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि यही आत्मा ब्रह्म है, यही आत्मा देव है। जो प्राणी श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे आत्माको छोड कुछ दूसरा नहीं सुनता आत्मा ही आत्मा सुनता है वही यथार्थ आत्मज्ञानी है। आत्माको छोड अन्य कुछ नहीं सुनता। इसका उदाहरण श्रुति यों देती है, कि स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेर्ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः" (बृ० अ० ४ ब्राह्म ५ श्रु० ८)

अर्थ—जैसे दुन्दुभीबाजापर चोट पडनेसे बाहर कोई शब्द सुन नहीं पडता। दुन्दुभी ग्रहण करनेवालेको दुन्दुभीके आघातका वा केवल

दुन्दुभीका शब्द सुन पडता है। इसी प्रकार आत्मसंयम करने वाले योगीको उसकी श्रोत्र-इन्द्रियसे सर्वत्र आत्मा ही आत्मा सुन पडता है। तात्पर्य्य यह है, कि जैसे पहले श्लोकमें श्रोतादि इन्द्रियोंके संयमके विषय नाना प्रकारके शब्दोंका उदाहरण देकर दिखलाया गया है, कि संयमयज्ञ करने वाले इन्द्रियोंको संयमकी अग्निमें भस्म करते हैं। अब यह दिखलाया जाता है, कि यही यज्ञ करनेवाले संयमका साधन करते-करते जब सिद्धान्तकालको पहुँचते हैं तब जिन शब्दोंका वे संयम कर रहेथे वे शब्द ही उनको आत्मा-रूप भासने लगते हैं। एवम् प्रकार जिसको शब्द-मात्र ही आत्मा भासने-लगा वह आत्म-ध्वनि छोड किसी अन्य ध्वनिको कहीं नहीं सुनता। जैसे किसी सुन्दर शृंगारयुक्त षोडशीके मुखसे मधुरस्वरोंका उच्चारण, जो विषयियोंके हृदयमें कामका उद्दीपन करता है उस आत्म-दर्शीके कानोंमें जापडा तो उसे भी आत्मध्वनि ही जानता है। अर्थात् ऐसा समझता है, कि श्यामसुन्दर अर्थात् वही सच्चिदानन्द आनन्दघन पञ्चभूतोंकी ओटसे मधुर शब्दों द्वारा मेरे कर्णकुहरोंको परमानन्द प्रदान कर रहा है। ऐसेको आत्म-संयम करने वाला योगी कहते हैं। यह तो केवल एक श्रोत्र-इन्द्रियके कर्मके विषय उदाहरण देकर दिखलाया गया पर इसी प्रकार बुद्धिमानको सब इन्द्रियोंके विषयोंको ब्रह्म-तत्त्व ही जानना चहिये। क्योंकि जैसे यह एक आत्मा श्रोतव्य होनेका उदाहरण दियागया है इसी प्रकार द्रष्टव्य, मन्तव्य, और निदिध्यासितव्य होनेके उदाहरणोंका भी अनुभव बुद्धिमान् कर सकता है।

यह आत्म-संयम-योगरूप × समाधि दो प्रकारकी है— " लयपूर्वक-समाधि " और " बाधपूर्वकसमाधि " इन्हींको सबीज और निर्बीज भी कहते हैं। अब इन दोनोंका विलग-विलग वर्णन किया जाता है।

१. **लयपूर्वकसमाधि—** जबतक अधिकारी पुरुषको तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि इत्यादि महावाक्योंका बोध न होकर अविद्याका लेश रह जाता है तबतक उसे **लयपूर्वक समाधि** वा **सबीज समाधि** कहते हैं। जैसे किसीने अपने आगलगेहुए घरको जलसे शान्त करदिया पर यदि एक छोटीसी चिनगारी भी किसी कोनेमें रह गयी तो वायुका संस्कार पाकर प्रज्वलित हो उसके बचे खुचे घरको जला देवेगी। अथवा जो बीज भुनाहुआ नहीं है उसे पृथ्वीमें डालनेसे उससे डाल, पत्ती, फूल, फल सब निकल आते हैं। इसी प्रकार जिस प्राणीको अभ्यास करते-करते, ब्रह्ममें लय होते-होते तनक भी अविद्याका संस्कार रहजावे तो फिर उसके हृदयमें सारे प्रपंचके उदय होआनेकी शंका है। ऐसी समाधिको लय-पूर्वक वा सबीज समाधि कहते हैं।

२. **बाधपूर्वक समाधि—**समाधिस्थ होते-होते अविद्याका संस्कार एक बारगी मिटकर फिर व्युत्थानको प्राप्त नहीं होनेको **बाधपूर्वक** वा

× पिछले श्लोकमें भी समाधि रूप संयमका वर्णन किया गया है पर वह दिग्दर्शन मात्र है अर्थात् समाधिमें प्रवेश करने मात्रका रूप दिखलाया गया है अब इस का सार तत्त्व दिखलाते हैं।

निर्वीजसमाधि कहतेहैं । कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि व्युत्थान और निरोध ये दो भिन्न अवस्थायें हैं । अर्थात् समाधिके पश्चात् प्रपंचका स्फुरण न होना निरोध कहा जाता है । तिसके विषय पतंजलिने अपने योग सूत्रमें यों कहा है, कि "व्युत्थाननिरोध संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः" (अ० ३ सू० ६)

अर्थ— व्युत्थानके नाश और निरोधके प्रकाश होनेके मध्यमें जो क्षणिक चित्तका विश्राम है वही निरोधका परिणाम अर्थात् फल है । मुख्य अभिप्राय यह है, कि व्युत्थान जो बारंबार चित्तमें प्रपंचका स्फुरण होना है वह समाधिवालेके लिये हानिकारक है और निरोध जो चित्तसे प्रपंचका रुकजाना है वह समाधि वालेके लिये लाभदायक है । समाधिवालेका अभ्यास जैसे-जैसे बढता जाता है तैसे-तैसे उसकी व्युत्थानावस्थाका अभिभव (नाश) होता जाता है और निरोध अवस्थाका प्रादुर्भाव (प्रकाश) होता जाता है । एवम् एकके नाश और दूसरेके प्रकट होनेके मध्यमें जो क्षणिक निरोधके साथ चित्तका विश्राम होता है वही इस निरोधका परिणाम है और वही योगका फल है । क्योंकि पतंजलि पहले ही कहचुके हैं, कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (अ० १ सू० २) चित्तवृत्तिके निरोध हो जाने ही को योग कहते हैं । उक्त प्रकार निरोधका फल सूत्रकार यों कहते हैं "तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्" (पतं० अ० ३ सू० १०) अर्थात् जब चित्तकी तीनों वृत्तियां अभ्यास द्वारा निरुद्ध होजाती हैं तब चित्तवृत्तिमें प्रशान्तवाहिता-संस्कारकी प्राप्ति

होती है। वे तीन वृत्तियां कौन–कौन हैं ? सो सुनो !" **क्षिप्तमि-त्यादि-क्षिप्तम् रजसा विषयेष्वेव वृत्तिमत् मूढं तमसा निद्रादि वृत्तिमत्। क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं सत्त्वाधिक्येन समादधति चित्तं रजोमात्रयाऽन्तरान्तराविषयान्तरवृत्तिमत्** " (विज्ञान भिक्षुकः) अर्थ— क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त ये तीन प्रकारकी वृत्तियां हैं। १. **क्षिप्त** उसे कहते हैं जो रजोगुणसे मिश्रित होनेके कारण विषयोंके प्रभावोंके पडनेसे उन विषयोंमें लिपटकर विषयाकार होजावे। २. **मूढ** उसे कहते हैं जो तमोगुण मिश्रित होनेके कारण निद्राके समान वृत्ति होवे अर्थात् उस अपने विषयको भूल जावे। ३. **विक्षिप्त** उसे कहते हैं जो क्षिप्ततासे विशिष्ट हो अर्थात् सत्व-गुणके कारण समाधिकी ओर तो झुके किन्तु कुछ रजोगुणके कारण बीच बीचमें विषयकी ओर दौडे। ये तीनों दशायें व्युत्थानके समय होती हैं। जो व्युत्थान समाधिका विरोधी है। जब इन तीनोंको निरोधकी दशा दाब लेती है तब चित्त कुछ काल निरोधमें टिकते–टिकते अन्तमें प्रशान्त-वाहिता संस्कारको प्राप्त होता है। तिस संस्कारको अभ्यास द्वारा स्थिर रखनेके लिये जो साधकका परिश्रम है, जिसके द्वारा **सम्प्रज्ञातसमाधि** से **असम्प्रज्ञातसमाधि** की प्राप्ति होने लगजाती है। उसी अवस्थाको **आत्मसंयमयोगाग्नि** कहते हैं।

प्रिय पाठको ! यह विषय अत्यन्त गम्भीर है इसलिये जब तक एक उदाहरण देकर न समझाया जावे तब तक सर्व साधारणके लिये इस **आत्मसंयमयोगाग्नि** का समझना कठिन है। इसका अभ्यास तो बिना गुरु शिक्षा हो ही नहीं सकता। पर इसका व्याख्यान मात्र

भी समझना दुस्तर है। इसलिये उदाहरण देकर समझाया जाता है।

मान लीजिये, कि एक योगी अपने योगमें स्थित उक्त तीनों प्रकारके साधनोंका (जिन्हें पूर्वश्लोकमें **त्रयसंयम** नाम करके कह आये हैं) पूर्ण यत्नके साथ साधन करताहुआ एक बनमें बैठा हुआ है, जैसे विश्वामित्र इन्द्रने जिनकी समाधि भ्रष्ट करनेके लिये मेनका नाम अप्सराको भेजा। उसने महापुरुषके समीप जाकर उनको समाधिसे व्युत्थान दशामें लानेका अर्थात् जगादेनेका यत्न किया। मेनका परम चतुर अप्सरा (परी) थी और अत्यन्त सुन्दरी थी, इसलिये अपने यत्न और परिश्रममें सफलता प्राप्त करती हुई विश्वामित्रकी वृत्तियोंको व्युत्थान-दशामें ले आयी। अर्थात् समाधिसे जगा दिया। तात्पर्य्य यह है, कि उस अप्सराकी ओर दृष्टि पडते ही टक लगाकर देखने लग गये। देखते-देखते उसके स्वरूपमें ऐसा भूले, कि उनकी मूढवृत्ति आरंभ होगई। थोडी देरके पश्चात् कुछ सुधि होनेसे विक्षिप्त वृत्तिका आरंभ हुआ। अर्थात् क्षणमें तो यह विचारने लगे, कि यह एक उपद्रव उपस्थित है इसको छोड समाधिकी ओर चित्त लगाओ। पर क्षण-क्षणमें मेनकाकी सुन्दरताई उनके मनको चंचल कर समाधिकी ओर नहीं जाने देती।

अब बुद्धि मानोंके विचारने योग्य है, कि यहां व्युत्थान और निरोध दोनों अपना २ बल दिखलारहे हैं। यदि निरोध प्रवल होजाता तो थोडे ही काल के पश्चात् अवश्य प्रशान्तवाहिता संस्कारकी प्राप्ति हो महापुरुषकी वृत्ति असम्प्रज्ञातसमाधिकी ओर जाकर लय होजाती। पर ऐसा न होकर भावीकी प्रवलताके कारण व्युत्थानका प्रभाव अधिक पडगया और वृत्ति विषय-भोगकी

ओर दौडकर मेनकासे जा लिपटी। भावीकी प्रबलता इसलिये कही गई, कि इस मेनकासे शकुन्तला देवीका जन्म होकर भरत ऐसे चक्रवर्त्तीका उत्पन्न होना था। इसलिये विश्वामित्रकी वृत्तिको चञ्चलता प्राप्त होगई। ऐसी दशामें जिस महापुरुषको व्युत्थान न होकर निरोधकी प्राप्ति होते-होते प्रशान्तवाहिता—संस्कारका उदय होकर असम्प्रज्ञात समाधिकी प्राप्ति होजावे तो इसी दशाको महापुरुष **आत्मसंयमयोगाग्नि** कहते हैं। इस प्रकार व्युत्थान और निरोधकी दशा तो प्रायः साधारण बुद्धिमान् पुरुषके सामने भी उपस्थित होजाया करती है। कभी प्रारब्धवशात् कोई प्रबल विषय सामने आजाता है तब वह बुद्धिमान् विचार करने लगजाता है, कि इस विषयको भोगूं वा न भोगूं। यदि भोगने लगगया तब तो रसातलको गया। नहीं जो विचारकी प्रबलता से अपनेको बचालेनेका अभ्यास करता रहा तो जानना चाहिये, कि वह अवश्य किसी न किसी दिन गुरु शरण होनेसे आत्मसंयमयोगाग्निका अधिकारी होजावेगा।

अब योगेश्वर भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन! इंद्रिय और प्राणोंके कर्मोंको किस प्रकारकी आत्मसंयमयोगाग्निमें हवन करना चाहिये? सो सुनो! (ज्ञानदीपिते) ज्ञानसे प्रज्वलित जो आत्म-संयम रूप योगाग्नि है तिसमें। तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार साधारण अग्नि वायुसे प्रज्वलित कीजाती है इस प्रकार यह अग्नि ज्ञानरूप वायुसे प्रज्वलित कीजाती है। क्योंकि अग्निमें यदि वायुका संस्कार न हो तो अग्नि बृद्धिको प्राप्त नहीं होसकती। जैसे विना वायु अग्नि और विना प्राण शरीरकी स्थिति नहीं रह सकती इसी प्रकार बिना

आत्मज्ञानके **आत्मसंयमरूप योगाग्नि** की भी स्थिरता असम्भव है। तिस ज्ञानके स्वरूपको हे अर्जुन ! मैं तुझसे आगे कहूंगा। (देखो अ० १३ से १८ तक) एवम् प्रकार ज्ञानरूप वायुसे प्रज्वलित जो आत्मसंयमरूप योगाग्नि तिस अग्निमें आत्मसयमरूपयज्ञके करनेवाले अपनेको अपने सारे सर्वस्वके साथ (जुह्वति) हवन करदेते हैं।

उपर्युक्त पांचों यज्ञोंमें यह **आत्मसंयमयज्ञ** श्रेष्ठ कहागया है। इसलिये अरुन्धतीदर्शनन्यायसे सर्वप्रकारके साधनोंको कहते हुए अन्तमें सर्वोत्तम साधन आत्मसंयमयज्ञका वर्णन करदिया है ॥ २७ ॥

अब भगवान् सात स्थूल-यज्ञोंका वर्णन अगले
तीन श्लोकोंमें करते हैं—

मू— **द्रव्ययज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।**
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशित व्रताः ॥
॥ २८ ॥

पदच्छेदः— अपरे **द्रव्ययज्ञाः** (यथा शास्त्रं द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते। तीर्थेषु द्रव्यविनियोगं यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति ये ते। पूर्त्तदत्ताख्यरूपस्मार्त्तयज्ञपरा ये ते) **तपोयज्ञाः** (मौनकृच्छ्रचान्द्रायणमासोपवासादि तप एव यज्ञो येषां ते। तपस्विनः) **तथा योगयज्ञाः** (यम नियमासनप्राणायामाद्यष्टांगयोगो यज्ञो येषां ते) **स्वाध्याय** [**यज्ञाः**] वेदवेदांगसहित मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् प्रणवजपो वा यज्ञो येषां ते। न्यायेन वेदार्थनिश्चयपराः) **ज्ञानयज्ञाः** (स्वरूपज्ञानमेव यज्ञो येषां ते)

च, यतयः (यत्नशीलाः) [तथा] संशितव्रताः (सम्यक् शितानि तीक्ष्णीकृतान्यतिदृढानि व्रतानि येषां ते) इति सर्वेषां विशेषणम् ॥२८॥

पदार्थः—(अपरे) छठवें यज्ञकरनेवाले वे हैं जो (द्रव्ययज्ञाः) द्रव्ययज्ञा कहेजाते हैं । अर्थात् जो विविध-प्रकार महिषी, गो, हिरण्य इत्यादि तथा अन्न, वस्त्र इत्यादि अपने घरपर वा तीर्थ-स्थानमें दान दियाकरते हैं । (तपोयज्ञाः) सातवें वे हैं जो तपोयज्ञा कहलाते हैं अर्थात् जो मौन, कृच्छ्र, चान्द्रायण, मासभरका उपवास तथा बनमें जाकर निराहार रहकर तप-यज्ञका सम्पादन करते हैं । (तथा) इसी प्रकार (योगयज्ञाः) आठवें वे हैं जो योगयज्ञा कहलाते हैं अर्थात् यम, नियमासनादि अष्टांगयोगका साधनकर योगयज्ञका सम्पादन करते हैं । (स्वाध्याययज्ञाः) फिर नवें वे हैं जो स्वाध्याययज्ञा कहलाते हैं अर्थात् वेद वेदांग सहित मोक्ष-शास्त्रोंका अध्ययन तथा प्रणवादि मंत्रोंका उच्चारणरूप यज्ञका सम्पादन करते हैं तथा (ज्ञानयज्ञाः) दशवें वे हैं जो ज्ञानयज्ञा कहलाते हैं अर्थात् ज्ञान प्राप्ति निमित्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि रूप यज्ञका सम्पादन करते हैं । ये सब यज्ञ करनेवाले कैसे हैं ? कि (यतयः) अपने अपने यज्ञको यत्न-पूर्वक साधन करनेवाले हैं तथा (संशितव्रताः) अत्यन्त तीक्ष्ण छुरेकी धारके समान व्रत है जिनका जो अपने-अपने यज्ञरूप व्रतमें परम दृढ हैं और उन अपने नियमोंकी कठिन तीक्ष्णताको सहन करते हैं । किसी-किसी टीकाकारने इस संशितव्रताका अर्थ एक विलग यज्ञ करनेवाला किया है और बहुतोंने इसे पांचों यज्ञ करने वालोंका विशेषण लिखा है ॥ २८ ॥

भावार्थः— श्री गोलोक-विहारी जगत्‌हितकारी पूर्वके २५, २६, २७ तीन श्लोकोंमें दैवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, संयमयज्ञ, इन्द्रिययज्ञ और आत्मसंयमयज्ञ पांच यज्ञोंका वर्णन करचुके। अब इस एक ही श्लोकमें अन्य प्रकारके पांच यज्ञोंका वर्णन करते हैं। तहां कहते हैं, कि [**द्रव्य-यज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे**] छठवें वे हैं जो द्रव्य-यज्ञा कहलाते हैं, जो शुद्धरीतिसे उपार्जन किये हुए द्रव्योंद्वारा नाना प्रकारके पुण्योंका सम्पादन करते हैं अर्थात् जिस प्रकार श्रुति-स्मृति-योंने द्रव्यको दान करनेकी तथा अन्य प्रकारके धर्मोंकी पूर्ति करनेकी आज्ञा दी है तदनुसार ही करते हैं। जैसे "**पुष्करिण्यः सभा वापी देवताऽयतनानि च। आरामश्च विशेषेण पूर्त कर्म विनिर्दिशेत्**" (भरतः) महर्षि भरतका वचन है, कि पुष्करिणी, बावली, देवमंदिर, और विशेषकर बाग बगीचोंका बनादेना पूर्त कर्म कहलाता है। मनुजी भी कहते हैं, कि "**वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥**" (मनु० अ० ४ श्लो० २२६) अर्थ— बावडी, कूआ, तालाव, मन्दिर, अन्नदान, तथा बाग बगीचे ये सब पूर्त कर्म हैं। सूर्य्य और-चन्द्र ग्रहणके समय जो दान किया जाता है उसे भी पूर्त कहते हैं। "**शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च-यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते॥**" अर्थात् शरण-आयेहुएकी रक्षाके निमित्त और हिंसाके समय जीवोंकी जान बचानेके लिये जो द्रव्यदान दियाजाता है तथा तीर्थोंमें जो बहिर्वेदिका दान है ये सब दान "दत्त" कहलाते हैं। एवम् प्रकार जो प्राणी पूर्त और दत्त इत्यादि धर्मोंके

साधन निमित्त अपना द्रव्य लगाते हैं वे "द्रव्ययज्ञा" कहलाते हैं। इस द्रव्ययज्ञका फल अमोघ है । क्योंकि भूखे, प्यासे सबोंकी रक्षा इसी द्रव्यसे होती है । पर दरिद्रको दान देना सब दानोंमें श्रेष्ठ है । सो श्यामसुन्दरने कहा है, कि " **दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्** " अर्थात् हे अर्जुन ! दरिद्रोंको धन देकर सुखी कर पर धनवानको द्रव्य-दान मत दे । इसी प्रकार शूद्र और स्त्रियोंको भी द्रव्ययज्ञा अर्थात् दान देनेका अधिकार है । " **इष्टापूर्त्तं द्विजातीनां धर्म्मः सामान्यमुच्यते । अधिकारी भवेच्छूद्रः पूर्त्तधर्म्मे न वैदिके** " अर्थ—द्विजोंकेलिये इष्टापूर्त इत्यादि सामन्य धर्म्म हैं, पर शूद्र तो इन धर्म्मोंका पूर्ण अधिकारी है । क्योंकि शूद्र वैदिक यज्ञादिकोंको कर नहीं सकता । इसलिये उसके कल्याणके लिये तो इष्टापूर्त इत्यादि विशेष धर्म्म हैं । स्त्री भी इस धर्म्मका पालन कर सकती है " **पितृगुरुदौहित्रान् भर्तुः स्वस्रीयमातुलान् । पूजयेत् कव्यपूर्त्ताभ्यां वृद्धानथातिथीन् स्त्रियः** " यह शास्त्रका वचन है, कि पिता, गुरु, लडकी, स्वामी, वहन, मामा इत्यादि को कव्य (जो पितरोंको दिया जाता है) और पूर्त (उपर्य्युक्त वापी कूपादि तथा गृह दानादि) से स्त्रियां अवश्य पूजनकरें । जो प्राणी इन धर्म्मोंमें पूर्ण यत्नशील है चाहे कितना भी कष्ट प्राप्त क्यों न हो, ऐसे धर्म्मसे मुंह नहीं मोडता यहां तक, कि समय पडने पर अपना सारा भण्डार व्यय कर देता है पर इस धर्म्मको नहीं छोडता है वह अवश्य मोक्षका अधिकारी होता है । इसी प्रकारके पुरुषोंको द्रव्ययज्ञा कहते हैं ।

सातवें तपोयज्ञा वे हैं जो तपयज्ञा कहलाते हैं। अर्थात् मौन, कृच्छ्र, चान्द्रायण, मासोपवासादि तपका सम्पादन करते हैं। यह तप-यज्ञ अत्यन्त कठिन धर्म्म है, पर इसका फल भी अमोघ है सो कहते हैं—" **तपसा क्षीयते पापं मोदते सह दैवतैः। तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसाप्राप्यते यशः॥ तपसा सर्वमाप्नोति तपसा विन्दते परम्। ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः सौभाग्यं रूपमेव च** "॥ अर्थ— तपसे पाप नाश होता है पापके नाश होनेसे देवताओंके साथ अथवा दिव्य गुणों-के साथ आनन्द करता है। तपसे सुखभरा स्वर्ग प्राप्त होता है, तपसे यश प्राप्त होता है। फिर उसी तपसे जिस किसी पदार्थकी भी इच्छा होवे सब कुछ प्राप्त कर सकता है। तथा तपसे परब्रह्मको भी पाता है। तपद्वारा विज्ञानसे सम्पन्न होजाता है, सौभाग्यको तथा सुन्दर-रूपको भी लाभ करसकता है। इसी तपके विषय तैत्तरीयो-पनिषद्के तीसरे अध्याय भृगुवल्लीमें भृगुको उनके पिता वरुणने कहा है, कि श्रु०-"**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत**" तपसे ब्रह्मको जान। तप स्वयं ब्रह्मरूप ही है। इतना सुन भृगुने तप सम्पादन किया।

इस तपका विषय श्यामसुन्दर आगे सतरहवें अध्यायमें श्लोक १४ से १९ तक वर्णन करेंगे।

प्रिय पाठको! तपका अर्थ श्रुतिने दूसरे प्रकार भी किया है। वह यह है श्रु०— " **मनसश्चेन्द्रियाणांचैकाग्र्यम्परमन्तपः** " (

अर्थ— मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रपंचको भूलकर मनका इन्द्रियोंके साथ होकर परम एकाग्रता

प्राप्त कर ब्रह्मके विषय पूर्ण-विचार करनेका नाम परम तप है। यह सात्विक-तप कहाजाता है। अन्य जितने प्रकारके तप जो कृच्छ्र, चान्द्रायण, मासोपवास, बनवास इत्यादि हैं सब तमोगुण और रजोगुण मिश्रित हैं। इसलिये इस विचाररूप तपके करनेवाले ही श्रेष्ठ हैं और इस विचार ही से ब्रह्म तक पहुंच सकते हैं। सम, सन्तोष, सत्संग और विचार जो ज्ञानके साधन-चतुष्टय कहलाते हैं इनमें विचार ही श्रेष्ठ है। इसलिये श्यामसुन्दरके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इस विचार-रूप तप करने वालोंको यथार्थ तप-यज्ञा कहना चाहिये।

अब (योग-यज्ञाः) आठवें वे हैं जो योगयज्ञा कहलाते हैं अर्थात् जो "अष्टांग-योग" साधनमें तत्पर रहते हैं। यम नियमके दशों अंगोंका पालन करतेहुए चौरासी-लक्ष आसनोंमें किसी आसन को लगा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानादिका साधन करते हुए समाधि तक पहुंचते हैं। मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो अष्टांग-योग द्वारा चित्त-वृत्तियोंका निरोध करते हैं वे ही "**योगयज्ञा**" हैं। इस अष्टांग-योगके शीघ्र सिद्ध होनेकी संक्षिप्त रीति वर्णन करदी-जाती है। सुनो!

कमसे-कम तीन अधिकसे-अधिक १२ वर्षोंमें इस क्रियाकी सिद्धि होती है। साधकको चाहिये, कि एक + योग मठिका अपने

+ मठिका बनानेकी रीति— सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रके। धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते। एकान्ते मठिका

घरमें अथवा किसी दूसरे एकान्त स्थानमें बनावे, जिसमें केवल एक छोटासा द्वार वायु प्रवेश करनेके निमित्त खुला हो, उस स्थानको अगरु, चन्दन, धूप इत्यादि सुगंधित पदार्थोंसे पवित्र करले, उसके भीतर आसनके लिये एक वेदी बनावे, प्रातःकाल ही ब्राह्ममुहूर्तमें बहिर्भूमिके पश्चात् स्मृतियोंकी आज्ञानुसार दन्तधावन इत्यादि शारीरिक शौच कर स्नान करे, तत्पश्चात् उस आसनके समीप आ "ॐ आसनाय नमः" इस मंत्रसे आसनको नमस्कार कर आसन पर बैठे, पश्चात् नित्यकर्म सन्ध्याकी समाप्ति कर फिर आसन लगा, नाभिपर * त्राटक करे, पश्चात्

मध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतम् सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेष जन्तूज्झितम् । बाह्ये मण्डप वेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितम् प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥

अर्थ— जहां सुराज्य हो, धार्मिक देश हो, सुभिक्ष हो, निरुपद्रव हो, शिला, अग्नि और जल जहांसे धनुष प्रमाण दूर हो, ऐसे देशमें मठिका बनाकर हठयोगी अपनी क्रियामें प्रवृत्त हो । सो मठिका ऐसी होनी चाहिये, जिसमें छोटासा द्वार हो जिसमें गड्हे, बिल इत्यादि न हों, न बहुत ऊंचा हो न नीचा हो, गोबर इत्यादिसे लिपा हो, मच्छर मकरे, छिपकिली इत्यादि जिसमें न हों, मठिकाके बाहर सुन्दर बेदी हो, कूप हो, चारों ओर (प्राकार) भीतसे घिराहुआ हो योगाभ्यासी सिद्धोंने मठिकाका लक्षण इसी प्रकार कहा है ।

* त्राटकः— निरीक्षे न्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः । अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ अर्थात् एक अत्यन्त छोटी बिन्दु अथवा

धीरे-धीरे उस त्राटकको बढाते बढाते हृदयपर त्राटक करे । एवम्प्रकार कुछ दिन हृदय पर त्राटक करते-करते दृष्टिकी चालको ऊपरकी ओर चढाते हुए नासाग्र (नाकके नोंक पर) अवलोकन करे, पीछे नासिका के ऊपरवाली रेखाको देखता हुआ दृष्टिको दोनों भउहोंके मध्यमें लेजावे (जिस विषय योगेश्वर भगवानके "चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः" इसी गीताके अध्याय ५ श्लो० २७ में कहा है) एवम् प्रकार भ्रूमध्यमें दृष्टिके प्रवेश करनेसे प्रथम एक घोर अन्धकार प्रकट होगा । साधकको चाहिये, कि उसी घोर अन्धकारमें अपनी दृष्टि ऊपरकी ओर चढाता जावे । एवम् प्रकार दृष्टिको चढाते चढाते उषा प्रकट होगी। अर्थात् जैसे प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले पूर्वकी ओर एक श्वेतवर्णका समा उत्पन्न होता है प्रगट होगा । पश्चात् अरुणोदयके समान लाल-वर्ण उत्पन्न होगा। फिर कुछ कालके पश्चात् "गुरूपदिष्टमार्गेण" श्री गुरुदयालके बताये हुए मार्गसे दृष्टिको और ऊपर चढाते चढाते सूर्यकी किरणें छिटकने लगजावेंगी । पश्चात् सूर्यका दर्शन होगा । अर्थात् सूर्य जो नेत्रोंका अधिष्ठात् देव नेत्र-स्थानमें स्थित है प्रकट होगा । फिर तो साधकके आनन्दोंका क्या ठिकाना है । इसी ज्योतिको गायत्रीमंत्रमें "भर्ग-देव" कहते हैं। एवम् प्रकार जब सूर्योदय होने लगजावे तब उस सूर्यमें

अपने इष्टदेवके दोनों भऊहोंके मध्य कस्तूरीके विन्दुको समाहितचित्त होकर दोनों नेत्रों से एकटक लगा देखता रहे. जब तक आंखमें आंसू न आजावें तब तक पलकोंको बन्द न करे । इसी क्रियाको आचार्योंने त्राटक कहा है।

मन टिकाना चाहिये । पर सर्व साधारण मनुष्योंका मन बिना प्राणके रोके रुक नहीं सकता इसलिये प्राणको रोकनेके लिये प्राणायाम करना अवश्य चाहिये । जिसका वर्णन आगे २६ वें श्लोकमें किया गया है। एवम् प्रकार जब तीन मात्राका प्राणायाम होने लग जावेगा तब प्रत्याहारकी प्राप्ति होगी अर्थात् इन्द्रियां लज्जित होकर अपने-अपने विषयसे रुक कर अन्तर्मुख होने लग जावेंगी । जब कुछ दिनके पीछे प्रत्याहार परिपक्क होजावेगा तब मनके सर्व प्रकारके उपद्रव नाशको प्राप्त होजावेंगे और मनकी एकाग्रता आरंभ होजावेगी। जब मन एकाग्र होने लगजावे तब साधक सूर्य्य रूप ज्योतिःस्वरूपमें जिसका वर्णन पहले किया गया है धारणा करे अर्थात् मनको टिकावे । कुछ काल उस ज्योतिको एकाग्रता-पूर्वक देखते-देखते उस ज्योतिके केन्द्रस्थानमें अर्थात् ठीक-ठीक बीचों बीचमें एक छोटासा श्याम वर्ण छिद्र देख पडेगा । साधकको चाहिये, कि कुछ दिन उस छिद्रमें मनको टिकावे। एवम्प्रकार कुछ दिन मन टिकानेसे तिस छिद्रमें फिर एक गोलाकारज्योति पहली ज्योति से अधिक सुहावनी देख पडेगी। इसमें फिर उक्त प्रकार ही मनको लगाता जावे। यही धारणाके परिपक्क होनेका स्थान है। फिर कुछ दिनके अभ्यासके पश्चात् इस दूसरी ज्योतिमें एक हरितवर्ण छिद्र देख पडेगा । यही ध्यानके टिकानेका स्थान है । पूर्ववत् अभ्यास करते-करते इस छिद्रके अन्तर्गत तीसरी ज्योति प्रकट होगी जो दूसरी ज्योतिसे भी अधिक स्वच्छ और प्रकाशमान है । कुछ काल इस तीसरी ज्योतिके ध्यान करते-करते एक तीसरा छिद्र गौरवर्ण देख पडेगा । इसमें ध्यान जमाते जमाते एक चौथी ज्योति प्रकट होगी जिसका रंग अद्भुत और अकथ-

नीय है । इसी मार्ग होकर योगीजन अपने प्राणको चढा ज्योति देखते-देखते उसी ज्योतिमें लय होजाते हैं । इसी छिद्रको सुषिरमंडल भी कहते हैं । प्रमाण श्रु०— "हृद्द्वारं वायुद्वारं च मूर्द्धद्वारं तथापरम् । मोक्षमार्गविलं चैव ×सुषिरं मण्डलं विदुः ॥"

अर्थ— योगीजन इसीको हृदय-कमलका छिद्र, वायुद्वार अर्थात् सुषुम्नाका छिद्र, मूर्द्धाद्वार अर्थात् दशम-द्वारका छिद्र, मोक्षमार्गविल और सुषिर मण्डल भी कहते हैं ।

इसी मार्गको जान कर योगीजन मृत्युका भय नहीं करते । "मृत्युं जयति योगवित्" "योगी मृत्युको जय करता है ॥ "यस्यैतन्मण्डलं भित्त्वा मारुतो याति मूर्द्धतः । यत्र तत्र म्रियेतापि न स भूयोऽभिजायते " (अमृतनादोपनिषद् मं० ३८)

अर्थ— जिस मनुष्यका प्राण इस छिद्रको वेध कर मूर्द्धा होकर अर्थात् दशवें द्वार होकर निकलता है वह (यत्र तत्र) चाहे काशीमें मरे अथवा कीकट देशमें मरे । मरनेके पश्चात् मोक्षको ही प्राप्त करता है । अर्थात् फिर वह कहीं जन्म नहीं + लेता ।

× सुषिरम्— छिद्रवन्मण्डलं वर्त्तुलाकारम् । आधारचक्रमारभ्याशेषनाडीनिर्वाहकारिणी सर्वपद्मस्पर्शा पश्चिमवाहिनी सुषुम्णा तल्लग्नं कपालकुहरान्तरवर्त्तिचन्द्रमण्डलमिति ॥ (शंकरानन्दः)

+ उपनिषद्के अन्तमें वचनको दृढकरनेके तात्पर्य्यसे एक वाक्यको दो बार कथन करनेकी प्रणाली आरही है ।

उक्त इस शरीरके केन्द्र अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रमें परम ज्योतिका स्थान है। इसी ज्योतिमें मनको लय करते-करते समाधि लगजाती है और परम सुखकी प्राप्ति होती है। इस ज्योति-स्थानको योगीजन सहस्र-दलकी कर्णिका भी कहते हैं। इस स्थानके विषय शिव भगवान् पार्वती से कहते हैं, कि हे प्रिये!—

समास्ते तत्रान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसन्तानहासः।
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपम्
तदन्तः शून्यन्तत् सकलसुरगुरुं चिन्तयेच्चातिगुह्यम् ॥१॥
सुगोप्यं तद्यत्नादतिशयपरमामोदसन्तानराशेः
परं कन्दं सूक्ष्मं शशिसकलकलाशुद्धरूपप्रकाशम् ।
इह स्थाने देवः परमशिवसमाख्यानसिद्धप्रसिद्धिः
स्वरूपी सर्वात्मा रसविसरमितोऽज्ञानमोहान्धहंसः ॥ २ ॥
सुधाधारासारं निरवधि विमुञ्चन्नतितराम् ।
यतेरात्मज्ञानं दिशति भगवान्निर्मलमते ॥
समास्ते सर्वेशः सकल सुखस न्तान लहरी ।
परी वाहो हंसः परम इति नाम्ना परिचितः ॥ ३ ॥
शिवस्थानं शैवाः परम पुरुषं वैष्णवगणाः ।
लपन्तीति प्रायो हरिहर पदं केचिदपरे ॥
पदं देव्यादेवीचरणयुगलानन्दरसिकाः ।
मुनीन्द्राश्चाऽप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम् ॥ ४ ॥

अर्थ—यह जो सहस्रदलकर्णिकाका स्थान कहागया तहां क्या है ? सो कहते हैं (तत्रान्तः) इस कर्णिकाके बीचमें अमृत रस मय सुहावनी किरणोंसे सुशोभित निष्कलंक पूर्णचन्द्र दशों दिशाओंमें अपना सुन्दर प्रकाश फैलातेहुये विलास कर रहा है " तस्यांतः " इसी चन्द्रमण्डलके मध्य विद्युत् समान दमकता हुआ एक त्रिकोण यंत्र है । (तदन्तः शून्यम) इस यंत्रके बीच सब देवताओंके गुरु-देव शून्य ब्रह्मकी अत्यन्त गोपनीय रूपसे चिन्ता करनी चाहिये ॥१॥

उक्त शून्य ब्रह्मका जो परमानन्दके समूहका परम कारण है, अति ही सूक्ष्म है, सोलहों कलाओंसे सुशोभित निर्मल पूर्णचन्द्रसदृश प्रकाशमान है, उसे अत्यन्त यत्नसे गोपनीय रखना चाहिये । इसी स्थानमें (ख) आकाश स्वरूप ब्रह्मदेव परमात्मा परम शिव नाम करके सिद्धोंमें परम प्रसिद्ध (जिसको सिद्ध लोग भली भांति जानते हैं।) ॥ २ ॥

(सुधाधारासारम्) सदा अमृत-धाराकी वृष्टि करते हुए शुद्ध और निर्मल बुद्धि वाले योगियोंको आत्मज्ञान दान देतेहुए सर्वान्तरात्मा शिवशक्तियोगानन्दरसमय निवास करते हैं, जो आत्मज्ञानरूप अन्ध-कारको सूर्यके समान नाश करनेमें समर्थ हैं । वे सकल सुख समूहके प्रवाह परमहंस नाम करके भी प्रसिद्ध हैं ॥ ३ ॥

इसी ज्ञानको शैव शिव-स्थान कहते हैं । वैष्णव परम-पुरुष अर्थात् विष्णुस्थान बताते हैं । दूसरे भक्तजन हरिहर-स्थान, देवी-

चरणोंके रसिक शक्तिका स्थान और मुनिगण प्रकृति पुरुषका स्थान (लपंति०) बताते हैं ॥ ४ ॥

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इसी स्थानमें योग-यज्ञ करनेवाला अपनी चित्तवृति बांधकर एकाग्रता-पूर्वक परम प्रकाश-मय शून्य ब्रह्मको जिसे वेदने "ॐ खम्ब्रह्मणे नमः" खम्ब्रह्म कहके नमस्कार किया है, ध्यान करे। जो साकारवादी है वह अपने इष्टकी मूर्त्तिको इसी परम ज्योतिमें ध्यान करे। ऐसे ध्यान करते-करते उसका इष्टदेव वहां ही प्रकट होजावेगा। फिर तो उपासककी उसी स्वरूपमें समाधि लग-जावेगी। इसी वार्ताको श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति आगे अ० ६ श्लो० ४७ में भी कहेंगे, कि "**मद्गतेनान्तरात्मना**" उसी योगीको मैं अधिक मानता हूं जो योगी अन्तरात्मासे मुझमें डूबा हुआ है। अर्थात् मेरे स्वरूपका ध्यान करता है।

बहुतेरे विद्वान् इस क्रियामें श्रद्धा नहीं रखते हैं। केवल ज्ञान-योग ही को श्रेष्ठ मानते हैं। उनको इतना तो अवश्य जानना चाहिये, कि इस योगमें अर्थात् अष्टांग-योगमें और ज्ञानयोगमें केवल हठ-योग और राजयोगका अन्तर है।

ये दोनों मार्ग साधन करनेमें कठिन हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि आसन प्राणायाम वाले अधिक कष्ट उठाते हैं और ज्ञानयोगवाले केवल ज्ञानकी बातें करके मुक्त होजाते हैं। नहीं! नहीं!! ज्ञानयोगका साधन भी बहुत ही कठिन है। यथा श्रु०—

" क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गमपथस्तत्कवयो वदन्ति " यह ज्ञानमार्ग छुरेकी धारके समान तीक्ष्ण है और बहुत क्लेश करके जानने योग्य है । यह पथ अत्यन्त दुर्गम है ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं । अष्टांग-योगवालोंको प्राणायाम द्वारा इच्छा-मृत्यु प्राप्त होती है, इसलिये बिना सिद्धि प्राप्त किये प्राण नहीं छोडते अर्थात् सायुज्य-मुक्तिकेलिये समर्थ होकर प्राण छोडते हैं । इधर ज्ञानयोगी जिसका शरीर केवल प्रारब्ध भोगकी समाप्ति मात्र रहता है, सञ्चितके नाश होनेसे ज्ञान द्वारा मुक्त होता है, इसलिये यदि ज्ञानयोगी प्रारब्धकी समाप्ति अर्थात् अपने मरणकालसे पहले ज्ञानकी सिद्धिसे संचितका नाश करसका तब तो मुक्त हुआ । नहीं जो संचितके नाशमें समर्थ होनेसे पहले प्रारब्धकी समाप्ति हुई और मृत्युको प्राप्त होगया तो जो कुछ शेष भाग संचितका रहजावेगा उसके भोगनेके लिये किसी श्रेष्ठ-शरीर में जन्म लेना पडेगा ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि अष्टांग-योगी और ज्ञानयोगी दोनोंके घोडे बराबर जा रहे हैं इनमें जो आगे निकल जावे, उसीकी जीत अर्थात् श्रेष्ठता है । ज्ञानीने मृत्युसे पहले संचितका नाश करदिया तो आगे निकलगया । अष्टांगयोगीने यदि प्रारब्धसे पहले इच्छा-मरण प्राप्त करलिया तो आगे निकल गया । चाहे कोई क्यों न हो परिश्रम करके अपने–अपने यथार्थ-तत्त्वकी प्राप्ति करे । केवल ज्ञानकी बातें करनेसे कुछ लाभ नहीं है । तुलसीका वचन है, कि– " निशि गृह मध्य दीपकी बातनि तम निवृत्त नहिं होई " यदि कोई अँधेली रातमें अपने अँधेले घरमें बैठा-बैठा रातभर दीपकी बत्ती बकता

रहे पर दीप जलावे नहीं तो अंधकारका नाश कभी नहीं होगा। इसी प्रकार केवल ज्ञानकी बातों ही से अज्ञानताका नाश और दुःखोंकी निवृत्ति कभी नहीं होगी, मोक्ष-पदका लाभ भी नहीं होगा।

अब श्यामसुन्दर कहते हैं, कि हे अर्जुन! एवम् प्रकार योग-क्रियाके सम्पादन करने वालोंको **योगयज्ञा** कहते हैं। यह योग नाना प्रकारका है। जिस किसी उपायसे इस जीवका ब्रह्मके साथ योग होजावे अथवा इन दोनोंका जो अभेद है तिस अवस्थाका बोध होजावे अथवा साकार उपासना वालोंको अपने उपास्यका स्वरूप प्रत्यक्ष होजावे उसी उपायको योग कहते हैं। इसलिये **हठयोग, राजयोग, लययोग, मंत्रयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, पराभक्तियोग, अपराभक्तियोग, विचारयोग, जपयोग, तपयोग** इत्यादि—इत्यादि इन सब योगोंका वर्णन इस ग्रंथमें अपने—अपने ठौरपर किया हुआ है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः**] स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ जो नवां और दशवां यज्ञ है तिसका वर्णन सुनो! इन दोनोंके करनेवाले **स्वाध्याययज्ञा** और **ज्ञानयज्ञा** कहलाते हैं। जो प्राणी ब्रह्मचर्य्यादि व्रतको विधि-पूर्वक पालनंकर गुरुके समीप वेद वेदांग सहित मोक्षके मार्ग बताने वाले ग्रंथोंके अध्ययन करनेमें यत्न करता है, वही स्वाध्याय—यज्ञका करने वाला है। इस यज्ञवालेको चाहिये, कि जिस वेदके जिस शा-खामें उसकी उत्पत्ति हो पहले उसी वेदके पढनेमें परिश्रम करे। अथवा लिंगपुराणके नवें अध्यायमें कहा है, कि " **प्रणवः शतरुद्रीयं**

तथाऽथर्व्वशिरः शिखा । एतेषां यो तपः पुत्र स्वाध्याय इति कीर्त्तितः । अर्थात् प्रणव, रुद्री, अथवा अथर्ववेदशिर, वा शिखाको जपना "स्वाध्याय-यज्ञ" कहलाता है । इनमें प्रणवका विषय आगे अध्याय ८ के श्लो० १३ में वर्णन किया हुआ है । देखलेना । रुद्रीको यजुर्वेद में देखकर पढलेना । अथर्ववेद शिखाके मंत्रोंको उपनिषद्समुच्चय नामक ग्रंथमें देखो । यदि सम्पूर्ण शिरके जपनेमें क्लेश हो, तो केवल " ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः " से आरंभ करके ॐ आपो ज्योतिरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् " कहकर सम्पुट करे । अथवा " शीर्ष जनदाम विश्वरूपोसि " पढकर समाप्त कर देवे । इन्ही सब क्रियाओंका नाम स्वाध्याय-यज्ञ है । इनके करनेवाले " स्वाध्याययज्ञा " कहेजाते हैं ।

दशवें ज्ञानयज्ञके करनवाले वे हैं जो ज्ञान-प्राप्तिके निमित्त परिश्रम और यत्न करके ज्ञानकी सातों भूमिकाओंको (जिनका वर्णन अध्याय ३ श्लो० १८ की टीकामें संक्षिप्त रीतिसे किया हुआ है) समाप्त कर मोक्षपदको प्राप्त करते हैं । इसी ज्ञानयज्ञके विषय योगेश्वर भगवानने उद्धवके प्रति निज मुखारविन्दसे कहा है, कि हे उद्धव ! " नवैकादश पंच त्रीन भावान् भूतेषु येन वै । ईक्षेताऽथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥ (श्रीमद्भागवत स्कं० ११ अ० १९ श्लो० १४)

जिसका अर्थ श्रीधरस्वामी यों करते हैं, कि "तत्र ज्ञानं कथयति ।

नवेति । प्रकृतिपुरुषमहदहंकारपंचतन्मात्रा एकादशेन्द्रियाणि पंचमहाभूतानि त्रयो गुणा एतान् भावान अष्टाविंशतिभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु कार्येष्वनुगतान येन ज्ञानेनेक्षेत अथ एष्वपि भावेष्वेकं परमात्मतत्त्वमनुगतं येनेक्षेत कार्यकारणात्मकं जगत्पश्यन् परमकारणमत्कमेवैतन्नतु ततः पृथगिति येन पश्येत तज्ज्ञानमित्यर्थः ॥१४॥

अर्थ— श्यामसुन्दर अपने सरोज मुखसे ज्ञानको यों वर्णन करते हैं, कि हे उद्धव! मेरा तो यह निश्चय है, कि "नवेति" १. प्रकृति, २. पुरुष, ३. महत्तत्व, ४. अहंकार, ५. श्रवण, ६. रूप, ७. रस, ८. गंध, ६. स्पर्श. ये नवों मन सहित जो ग्यारेह इन्द्रियां क्षिति, अप, तेज, वायु और आकाश ये पांचों महाभूत रज, सत और तम ये तीनों गुण सब मिलकर जो ये अठाईसों तत्त्व जिस प्रकार ब्रह्मासे लेकर एक वृक्ष पर्य्यन्त अपना—अपना कार्य्य कररहे हैं उन कार्य्योंको जिस दृष्टिसे देखते हैं उसे ज्ञान कहते हैं। फिर इन अठाईसों शक्तियोंके मध्य एक परमात्म—तत्त्वकी शक्तिको भी जिस दृष्टिसे देखते हैं उसे ज्ञान कहते हैं। फिर इस कार्य्यकारणात्मक जगत् को देखते हुए जो अपनी दृष्टिसे समझे, कि यही परमात्मा जगत्का परमकारणात्मक—तत्त्व है अर्थात् सब कारणोंका कारण महाकारण है। एक तृण अथवा त्रसरेणु भी उसके बिना वर्तमान नहीं रहसकती। इतनी बातें जिस दृष्टिसे जानी जावें वही ज्ञान-दृष्टि है अर्थात् ज्ञान है। जो प्राणी इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेके तात्पर्य्यसे गुरुचरण सेवामें निरत हैं वे ज्ञानयज्ञा कहेजाते हैं।

इस ज्ञानका पूर्ण वर्णन अध्याय १३ से १८ अध्याय तक कियाहुआ है ।

अब योगेश्वर भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! ये सब यज्ञ-करनेवाले कैसे हैं? कि (यतयः) अपने-अपने यज्ञोंमें पूर्ण—प्रकार यत्न करने वाले हैं। अर्थात् इस बात पर पूर्ण ध्यान रखते हैं, कि ब्रह्मचर्यादिके भ्रष्ट होजानेके कारण यह मेरा यज्ञ भ्रष्ट न होजावे और जो कुछ परिश्रम किया है वह निष्फल न होजावे। फिर वे कैसे हैं, कि (संशितव्रताः) जिनका व्रत अत्यन्त तीक्ष्ण है अर्थात् जैसे छुरेकी धार अत्यन्त चोखी और शीघ्र काट करजानेवाली होती है । इसी प्रकार उनकेलिये अपने-अपने व्रतका मार्ग ऐसा अत्यन्त तीखा है, कि जिसके चुभते ही शरीरके टुकडे-टुकडे होजावें। इसलिये अपनें व्रतपर अर्थात् उक्त दश प्रकारके यज्ञोंमें जिस यज्ञका आरम्भ किया है उसके नियमोंपर पूर्ण ध्यान रखते हैं। जैसे नट हाथमें एक बांस और सरपर तीन चार घडोंको लेकर दोनों पैरोंमें सींग बांध कर एक पतली रस्सीपर चलता है, अपने **मनोयोग** को चूकने नहीं देता। इसी प्रकार ये यज्ञ करनेवाले संशितव्रत कहेजाते हैं।

किसी—किसी टीकाकारके मतसे " **यतयः संशितव्रतका** " यों भी अर्थ करलो, कि यती अपने यतरूप—व्रतमें संशित हैं अर्थात दृढतापूर्वक ब्रह्म--चर्य्यका धारण कियेहुए हैं वे भी यतरूप यज्ञके करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

अब आनन्द कन्द श्री कृष्णचन्द्र बारह यज्ञोंमें जो दो यज्ञ रहगये हैं उनका कथन अगले श्लोकमें करते हैं—

मू०— अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
॥ २६ ॥

पदच्छेदः— तथा, अपरे (इतरे) **प्राणायामपरायणाः** (प्राणायामतत्पराः) **प्राणापानगती** (श्वासोच्छ्वासगती । मुखनासिकाभ्याम्वायोर्निर्गमनम् । प्राणस्य गतिस्तद्विपर्ययेणाधोगमनमपानस्य ते प्राणापानगती) **रुद्ध्वा** (विरुद्ध्य) **अपाने** (अपानवृत्तौ) **प्राणम्** (प्राणवृत्तिम्) **तथा प्राणे** (प्राणवृत्तौ) **अपानम्** (अपानवृत्तिम्) **जुह्वति** (प्रक्षिपन्ति) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (**अपरे**) ग्यारहवें यज्ञ करनेवाले वे हैं जो (**प्राणायामपरायणाः**) प्राणायाम क्रियामें तत्पर रहनेवाले हठयोगी हैं जो (**प्राणापानगती**) श्वासोच्छ्वासकी चालोंको (**रुद्ध्वा**) रोककर (**अपाने**) नासिका वा मुखके द्वारा भीतर प्रवेश कर अधोमुख चलनेवाली अपानवायुकी चालमें (**प्राणम्**) नासिका वा मुख द्वारा बाहर निकाल कर उर्द्धगमन करनेवाली वायुको तथा इसके प्रतिकूल (**प्राणे**) प्राणवायुकी चालमें (**अपानम्**) अपानवायुको (**जुह्वति**) हवन करदेते हैं अर्थात् पूरक, कुम्भक और रेचक मिश्रित प्राणायाम करते हैं वे हठयोगी कहलाते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ:— अब श्री योगीश श्री जगदीश ग्यारहवें यज्ञका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे**] हे अर्जुन! जो ग्यारहवें यज्ञ करनेवाले हठयोगी हैं वे अहर्निशि प्राणायाम क्रिया ही को सिद्ध करनेके निमित्त अपना सारा पुरुषार्थ व्यय करते हैं तथा अपना सर्वस्व इसीके साधनमें लगा देते हैं इसलिये वे अपान वायुमें प्राणकी गतिको और प्राणवायुमें अपानकी गतिको हवन करते हैं अर्थात् पूरक और रेचक करते हैं। पहले पूरक करते हैं फिर रेचक करते हैं। पर इन दोनोंको कैसे करते हैं? तो भगवान् कहते हैं, कि [**प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः**] जो लोग प्राणायाम-परायण हैं अर्थात् प्राणायाम क्रियामें परम प्रीति रखते हैं वे पूरक करनेके पश्चात् प्राण और अपान दोनोंकी गतिको रोककर करते हैं अर्थात् पूरकके पश्चात् कुम्भक करलेते हैं। कुछ देर तक श्वासको रोक देते हैं फिर रेचक करते हैं।

प्रमाण— **प्राणञ्चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्।**
पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वताम्।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्द्धतः॥
(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थ— प्राणायाम-परायण पुरुषको चाहिये, कि प्राणवायुको ईडा नाडी द्वारा पीवे अर्थात् दाहिने नासापुटको अँगुलियोंसे रोक कर बायें नासापुटसे वायुको धीरे-धीरे सूत्रद्वारसे खींचकर पेटमें भरदेवे इसीको प्राणवायु

का पीना कहते हैं। सो नियमित करके पीवे अर्थात् समयको × नियत करले।

एवम् प्रकार बायीं नाडी ईडासे प्राण पीकर " भूयोऽन्यया " फिर दूसरी नाडी जो पिंगला उससे बायुको बाहर फेंकदेवे अर्थात् रेचक करे। फिर इसी प्रकार पिंगला द्वारा वायुको पूर्ववत् खैंच मस्तकमें " बद्ध्वा " रोककर अर्थात् कुम्भक कर ईडासे रेचक करदेवे।

एवम् प्रकार बारंबार सूर्य्य और चन्द्र नाडियोंसे पूरक, रेचक तथा कुम्भकका अभ्यास करता जावे ऐसा करनेसे " शुद्धा नाडिगणाः " जितनी योगीयोंके शरीरकी साढेतीन लक्ष नाडियां हैं तीन माससे कुछ अधिक समयमें सब शुद्ध और निर्मल होजाती हैं। नाडियोंके शुद्ध हुए अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। इस कुम्भक और रेचकके लिये भी समयका नियम बांधा हुआ है।

यह प्राणायाम कुम्भकके भेदसे आठ प्रकारका है। जिसमें शीत और उष्ण समय तथा देशके भेदसे किसीमें पिंगलासे किसीमें ईडासे पहले वायु खींचनेकी आज्ञा दी गई है। वे आठों पाठकोंके कल्याण

× तहां द्विजोंके लिये समय यों नियत कियागया है, कि प्राणायाम मन्त्रमें ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम्। ये जो सप्तव्याहृतियां हैं इनको जितनी देरतक मनमें उच्चारणकरे उतनी देरतक वायु खींचता चलाजावे अर्थात् पूरक करता चलाजावे। फिर गायत्री मन्त्रसे कुम्भक कर शीर्ष मन्त्रसे रेचक करदेवे।

इस क्रियाका विधिपूर्वक वर्णन श्री हंसस्वरूपकृत बृहत्सन्ध्याविधि में देखलेना और इतर जातियोंके लिये पौराणिक सन्ध्याविधिमें देखो।

निमित्त +टिप्पणीमें संक्षिप्त-रीतिसे वर्णन करदिये जाते हैं पर बिना गुरु इस क्रियाके समीप भी मत जाओ तथा झूठमूठ प्राणको जैसे तैसे खींच कर दिखाने वालोंको गुरु भी मत बनाओ ।

+ सूर्य्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा । भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ।

१. सूर्य्यभेदन— दाहिने नासापुटसे पूरक कर नियत काल तक कुम्भक करने के पश्चात् बायें नासापुटसे रेचन करदे । यह शीतकाल और शीत-प्रधान देशमें उपकारी है।

२. उज्जायी— दोनों नाडियोंसे पूरक कर नियत काल तक कुम्भक करनेके पश्चात् ईडा नाडीसे रेचक करदे । यह शीत और उष्ण दोनों प्रकारके काल और देशमे उपकारी है ।

३. सीत्कारी— दोनों होठोंके बीच जिह्वा लगाकर (सीत्) ऐसा शब्द करता-हुआ मुंहसे वायुको खींचे फिर नियत काल तक कुम्भक करनेके पश्चात् दोनों नासा-पुटोंसे रेचक करदेवे । यह केवल उष्ण देश और उष्णकालमें हितकारी है ।

४. शीतली— जिह्वाको पक्षीके चोंचके समान होठोंके बाहर निकाल मुंहसे पूरक कर नियतकाल तक कुम्भक कर फिर दोनों नासापुटोंसे रेचक करदे । यह उष्णकालमें हितकारी है और इसके द्वारा पित्तसे उत्पन्न रोगोंकी तथा पिपासाकी शान्ति होती है ।

५. भस्त्रिका— इसके साधनकी दो रीतियां हैं प्रथम तो यह, कि लोहारकी भाथी के समान केवल पिंगलासे कई बार पूरक रेचक करताहुआ जब थकजावे तब उसी पिंगलासे पूरक कर नियत काल तक कुम्भक करनेके बाद बायें नासापुटसे रेचक कर देवे । फिर बायें नासापुटसे पूर्ववत् कईबार रेचक पूरक करताहुआ नियतकाल तक कुम्भक करनेके पश्चात् बायें नासापुटसे रेचक करदेवे । ऐसे ही बारम्बार करे ।

दूसरी रीति यह है, कि पिंगलासे पूरक कर ईडासे रेचक करदे और ईडासे पूरक कर पिंगलासे रेचक करदे । यह सर्व काल तथा सब देशमें हितकारी है पर निर्बल पुरुषके साधन करने योग्य नहीं है ।

प्राणायाम साधने वालोंको चाहिये, कि इन आठोंमेंसे एकको गुरु-द्वारा पूर्ण-प्रकार समझकर साधें । ऐसा न करें, कि कभी एक और कभी दूसरा साधने लग जावें । फिर ऐसा भी न करें, कि केवल ग्रंथ पढकर मनमाना साधने लग जावें । बिना गुरु क्रियाकी प्राप्ति नहीं होसकती । इसीलिये भक्तवत्सल भगवान् आगे श्लो० ३४ में भक्तोंको प्रथम गुरुकी शरण जाकर विषयोंको पूछनेकी आज्ञा देते हैं । यह प्राणायाम अष्टांग-योगका चौथा अंग है इसको साधन करते—करते पृत्याहार, धारणा और ध्यानको सिद्ध करता हुआ प्राणी गुरु कृपासे समाधितक पहुंच जाता है ॥ २६ ॥

---

६. भ्रामरी— ईडा वा पिंगला किसी एक नाडीसे भ्रमर (भौंरा) के समान नाद करताहुआ पूरक कर नियत काल तक कुम्भक करनेके पश्चात् भ्रमरी (भौंरी)के समान शब्दसे दूसरी नाडी द्वारा रेचक करे । इसको शीतकाल और शीत देशमें पिंगलासे और उष्णकाल और उष्णदेशमें ईडासे आरंभ करना चाहिये ।

७. मूर्च्छा— किसी एक नाडीसे पूरक करनेके पश्चात् जालन्धर बांध धीरे-धीरे रेचक करे तो यह कुम्भिका मूर्च्छा उत्पन्न करती है । यह योगियोंके लिये सुख-दायी है ।

८. प्लाविनी— पूरक करके शरीरमें चारों ओरसे वायुको बांधकर इस प्रकार उदरको भरलेवे, कि अथाह जलके ऊपर कमलपत्र ऐसा सुखपूर्वक बहता रहे । ऐसे कुम्भक को प्लाविनी कहते हैं । इसके द्वारा बिना नौकाके नदीके पार जासकता है ।

कुम्भक के भेदसे ये ही आठ प्रकारके प्राणायाम हैं । इनका विस्तारपूर्वक वर्णन श्री स्वामी हंसस्वरूप कृत प्राणायामविधिमें देखो । अथवा हठयोगप्रदीपिका ग्रन्थमें देखो ।

अब श्यामसुन्दर बारहवें यज्ञका वर्णन करते हैं—

मू०— अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ! ॥
॥ ३०, ३१ ॥

पदच्छेदः— कुरुसत्तम ! (हे कुरुकुलश्रेष्ठ अर्जुन !) अपरे (अन्ये) नियताहाराः (परिमित आहारो येषां ते । अथवा निगृहीत आहारो विषयभोगो येषां ते वैराग्यादि मन्तः) प्राणान् (वायोर्भेदान् । समनस्कानीन्द्रियाणि तान्) प्राणेषु (प्राणवायुषु वा मनश्चित्ताहंकारेष्वऽन्तःकरणवृत्तिभेदेषु) जुह्वति (प्रविलापयन्ति । यस्य यस्य वायोर्जयः क्रियते इतरान्वायुभेदांस्तस्मिञ्जुह्वति) एते, सर्वे (निखिलाः) यज्ञविदः (यज्ञलब्धारः । यज्ञज्ञाः) यज्ञक्षपितकल्मषाः (यज्ञैर्नाशितानि पापानि येषां ते) यज्ञशिष्टामृतभुजः (यज्ञेभ्योऽवशिष्टममृताख्यमन्नमात्मानन्दं ये भुञ्जते ते) सनातनम् (पुरातनम् । नित्यस्वरूपम् । चिरन्तनम्) ब्रह्म (सच्चिदानन्द-स्वरूपम्) यान्ति (प्रविशन्ति । गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति) अयज्ञस्य (यज्ञविहीनस्य । यज्ञानुष्ठानशून्यस्य) अयम् लोकः (अल्पसुखस्थानीयो मनुष्यलोकः) न (नैव) अस्ति (भवति) अन्यः (विशिष्टसाधनसाध्यः परलोकः । आत्मलोकः) कुतः (न कुतश्चित्) ॥ ३०, ३१ ॥

पदार्थः— (कुरुसत्तम) हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन !) (अपरे) बारहवें यज्ञकरने वाले वे हैं जो (नियताहाराः) परिमित भोजनके करने वाले हैं अथवा जो विषय रूप आहारको अर्थात् विषय भोगोंको निग्रहकरनेमें तत्पर हैं वे (प्राणान्) मनसहित इन्द्रियोंको (प्राणेषु) प्राणापानादि वायुओंमें अथवा अन्तःकरणमें (जुह्वति) हवन करदेते हैं अर्थात् लयकरदेते हैं (एते) ये (सर्वे) सब (यज्ञविदः) बारहों प्रकारके यज्ञकरनेवाले (अपि) भी (यज्ञक्षपितकल्मषाः) अपने यज्ञोंसे पापोंको तथा चित्तवृत्तिकी चंचलताको नाश करनेवाले (यज्ञशिष्टामृतभुजः) यज्ञका अवशिष्ट अमृतरूप फल अर्थात् आत्मानन्दके भोगनेवाले (सनातनम्) नित्यस्वरूप तीनों कालोंमें वर्त्तमान (ब्रह्म) ब्रह्मको (यान्ति) प्राप्त होते हैं । इसके प्रतिकूल (अयज्ञस्य) यज्ञ नहीं करनेवालेके लिये तो (अयं लोकः) यह जो नरलोक तिसका सुख भी (न अस्ति) प्राप्त नहीं है तो (कुतः अन्यः) कई सहस्र गुण जो परलोक अथवा आत्म-लोकका सुख है वह कैसे लाभ हो सक्ता है ? अर्थात् यज्ञसे शून्य पुरुषके दोनों लोक नष्ट होजाते हैं ॥ ३०, ३१ ॥

भावार्थः— अब श्यामसुन्दर बारहों प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करते हुए तथा उनके सम्पादन करनेवालोंका परिणाम दिखलाते हुये कहते हैं, कि [**अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति**] वे जो बारहवां यज्ञ करने वाले हैं जो थोडा आहार करके अपान, व्यान, उदान, समान, कृकल, कूर्म, देवदत्त, नाग और धनंजय जो प्राणके भिन्न भिन्न भेद हैं जिनके जो शरीर भिन्नभिन्न शारीरिककर्मोंको

एक साथ समेट कर सबोंके श्रेष्ठ प्राण-वायुमें हवन करदेते हैं अर्थात् सब इन्द्रियोंकी स्थितिका कारण जो प्राण-वायु तिसमें इन्द्रियोंके कार्य्यको हवन करदेते हैं। जैसे सरयू, घाघरा, कोशी, यमुना, ब्रह्मपुत्र इत्यादि अनेक छोटी और बडी नदियां पर्वतसे निकलकर गंगामें जा मिलती हैं इसी प्रकार शरीर-स्थित नाना प्रकारकी सब वायु अपने श्रेष्ठ प्राणवायुमें जा मिलती हैं। इस प्राणको श्रुतियोंने भी श्रेष्ठ ही कहा है **"यो ह वै श्रेष्ठं च ज्येष्ठं च वेद स ह वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च"** (छा० उ० प्र० ५ श्रु० १)

अर्थ— जो प्राणी श्रेष्ठ और ज्येष्ठ (सबसे बडा) को जानता है वही सबसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ होता है। सो यह जो प्राण सो ही श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है॥ क्योंकि मातृ-गर्भमें भी जब यह शरीर तैयार होता है तो सबसे पहले प्राण ही इस मांस पिण्डमें प्रवेश करता है। तब अपान, व्यानादि अन्य सब वायु तथा श्रवण, चक्षु इत्यादि सब इन्द्रियां इस लोथमें प्रवेश करती हैं।

इसी कारण शरीरकी सब वायु तथा सब इन्द्रियां तथा इस शरीरका मरना जीना सब प्राणही के अधीन है। वरु ऐसा कहना चाहिये, कि यह शरीर ही प्राणके आश्रय चलरहा है। इस प्राणकी श्रेष्ठता को छान्दोग्योपनिषदकी श्रुतियोंने कैसी उत्तम रीतिसे सिद्ध किया है सो कहते हैं—प्राणका अर्थ इन्द्रियां भी है सो भी इन ही श्रुतियोंसे सिद्ध होजावेगा।

"ॐ अथ ह ÷प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्युदिरेऽहꣳ श्रेयान

÷प्राणाः— इन्द्रियाणि=प्राणका अर्थ इन्द्रिय इस श्रुतिसे सिद्ध है।

स्यहꣳश्रेयानस्मीति ॥ ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति ॥" (छान्दो० उत्तरार्ध प्रपा० ५ श्रुति० ६)

अर्थ—एक बार सब इन्द्रियां अपनी-अपनी श्रेष्ठताके विषय परस्पर लडपडीं और सब कहने लगीं, कि मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं एवम् प्रकार सब लडती हुई और अपनेको श्रेष्ठ कहती हुई प्रजापति पितामहके पास पहुंचीं और बोलीं, कि भगवन् ! हम सबोंमें सबसे श्रेष्ठ कौन है ? सो कहो ! तब ब्रह्माने उनसे कहा, कि तुम लोग अपनी-अपनी श्रेष्ठता कैसे दिखलाती हो ? सो कहो ! नेत्र बोला मैं शरीरमें न रहूं तो सर्वत्र अंधेला ही भासे फिर शरीर इधर उधर हिल न सके और कुछ न देख सके। पांव बोला, कि तू मत रह मैं रहूं तो हाथोंमें लठिया लेनेवालेको जहां चाहूं पहुंचादूं और मेरा परम मित्र हाथ सब वस्तुओंको छूकर बतादेवे, कि यह अमुक वस्तु है। एवम् प्रकार सब एक-एक इन्द्रियने अपनी शक्तिकी बडाई की तब ब्रह्माने कहा, कि— ॐ तान् हो वाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ (छा० उत्त० प्रपा० ५ श्रुति ७)

तुम लोगोंमें जिसके निकलजानेसे यह शरीर पापिष्ठतरे अर्थात् मृतक होजावे, निरर्थक होजावे और स्पर्श करनेके योग्य न रहे, वही तुममें श्रेष्ठ कहाजावेगा। इतना सुन सब इन्द्रियोंमें से प्रथम आंख निकल गई। " ॐ चक्षुर्होच्चक्राम तत्सम्वत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणाऽन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ " (छा० उत्त० प्रपा० ५ श्रुति ८)

अर्थ—सबसे पहले आंख निकलगई और सालभर किसी दूसरे स्थानपर रहकर लौट आई और पूछा, कि हे शरीर ! तू मेरे बिना कैसे जीता रहा ? शरीरने उत्तर दिया, कि जैसे अन्धा बिना देखे प्राणसे श्वास लेता है, मुंहसे बोलता है, कानसे सुनता है, मनसे ध्यान करता है ऐसे मैं रहा मेरी किसी प्रकारकी हानि न हुई । तब आंख लज्जित हो शरीरमें चुप बैठ गई ।

तब इसी प्रकार श्रुति कहती है, कि एक-एक इन्द्रियोंने निकल कर अपनी-अपनी शक्ति देखली जब देखा, कि हममें तो किसीके बिना कुछ भी हानि नहीं होती तब सब लज्जित हो बैठीं । मनको घमण्ड हुआ, कि मैं सब इन्द्रियोंका राजा हूं । मेरे निकलजानेसे अवश्य इन लोगोंकी हानि होगी तब सबोंसे पीछे मन निकला "**मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच कथमशकततें मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥**" (छा० उत्त० प्रपा० ५ श्रुति ११)

अर्थ—तब मन शरीरसे निकलकर सालभर कहीं अन्य स्थानमें रहकर लौटा और बोला, कि हे शरीर ! तू मेरे बिना कैसे रहा ? तब शरीर बोला जैसे माकी गोदमें खेलनेवाला मासदिवसका बालक बिना मनके वर्त्तमान रहता है, प्राणसे जीवितरहता है, मुहसे किलकिलाता है, आंखोंसे देखता है, कानोंसे सुनता है, ऐसे मैं रहा । तब मनभी लज्जित होकर शरीरमें जाबैठा ।

एवम् प्रकार मन भी लज्जित हुआ तब प्राणने कहा, कि तुम लोग सब संभल बैठो, अब मैं निकलता हूं " **ॐ अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्स**

यथा सुहयः पड्वीशशंकून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्तं् हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥ ”
(छा० उत्त० पूपा० ५ श्रुति १२)

अर्थ– जब प्राणने निकलनेकी इच्छा की तब जैसे श्रेष्ठ अश्व जब भागना चाहता है तब अपने खूंटे, कील, अगाडी, पिछाडी इत्यादि के बन्धनोंको उखाडता चला जाता है। इसी प्रकार यह प्राण सब इन्द्रियोंको उखाडने लगा तब सब इन्द्रियां तथा अन्य सब अपान, समानादि वायु समीप जाकर बोलीं भगवन्! तुम ही हम सबोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो तुम इस शरीरसे मत निकलो।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि एवम् प्रकार जो मनुष्य प्राणवायुको सबमें श्रेष्ठ जानकर सब इन्द्रियोंको तथा सर्व प्रकारकी वायुओंको इसी प्राणमें हवन करते हैं। अर्थात प्राणको एकाग्र कर सब ओरसे एकाग्रता प्राप्त कर अपानादि तथा चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियोंको रोक रखते हैं। अर्थात (प्राणान प्राणेषु) प्राण नाम इन्द्रियोंको महाप्राणमें हवन करदेते हैं वे बारहवें यज्ञवाले अर्थात प्राणयज्ञा कहलाते हैं। इसी कारण भगवानने इनको (नियताहाराः) कहा है। क्योंकि परिमिति अहारके करनेसे प्राणसंचार करने वाली नाडियां कफसे नहीं भरती हैं, वायुओंके संचार करनेके मार्ग शुद्ध और निर्मल रहते हैं। पर इतना कम भोजन भी न करे जिससे इन्द्रियां दुर्बल होजावें। और अन्तःकरणको कुछ विचारनेकी शक्ति ही न रहे। नियताहार कहनेसे इतना ही तात्पर्य्य है। अथवा नियताहाराका यों भी अर्थ कर लीजिये, कि इन्द्रियोंको मनमें हवन करते हैं, फिर उस मनको बुद्धिमें, उस बुद्धि

को अहंकारमें हवन करके उस अहंकारको आत्मामें हवन कर निरहंकार हो कर्मोंका अभिमान छोड अन्तःकरणकी शुद्धता प्राप्त कर मोक्षके अधिकारी होते हैं ।

अब आनन्दकन्द बारहों प्रकारके यज्ञोंकी महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं— [**सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः**] अर्थात् १. दैवयज्ञ, २. ब्रह्मयज्ञ, ३. संयमयज्ञ, ४. इन्द्रिययज्ञ, ५. आत्मसंयमयज्ञ, ६. द्रव्ययज्ञ, ७. तपोयज्ञ, ८. योगयज्ञ, ९. स्वाध्याययज्ञ, १०. ज्ञानयज्ञ, ११. अष्टांगयोगयज्ञ, १२. प्राणयज्ञ ये बारहों प्रकारके यज्ञोंके प्राप्त करने वाले निश्चयकरके अपने-अपने यज्ञकी सिद्धि प्राप्त कर अपने पापोंको नाश करनेवाले तथा [**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्**] उस यज्ञका अवशिष्टभाग अर्थात् फल जो अमृतस्वरूप अन्न है अर्थात् आत्मानन्द है तिसके भोगनेवाले होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब तक इस संसारमें प्रारब्ध वश इस पांचभौतिक—शरीरमें ये यज्ञ करने वाले निवास करते हैं तब—तक आत्मानन्दरूप अमृतका पान करते रहते हैं क्योंकि जैसे अमृत पीनेवालेको मृत्युका भय नहीं रहता निर्भय होजाता है इसी प्रकार ये यज्ञविदः आत्मज्ञानरूप अमृतको पीकर संसारचक्रके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापोंसे रहित होकर, पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा, इत्यादि नाना प्रकारकी कामनाओंसे निवृत्त होकर यतचित्तात्मा कहलाते हुये अन्तमें ब्रह्म स्वरूपमें लय होजाते हैं । क्योंकि जितने यज्ञ हैं सबका पति अर्थात् अधिष्ठातृदेव वही ब्रह्म है ।

अब श्री गोविन्द कहते हैं, कि [**नायं लोकोस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम !**] हे कुरुकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जो प्राणी इन मेरे कथन किये हुए यज्ञोंमें एकका भी सम्पादन नहीं करता उसे तो इस लोकके सुखकी भी प्राप्ति नहीं होती परलोक तथा अन्य किसी लोक वा आत्मलोकके सुखको कैसे पासकता है ? क्योंकि ऐसा प्राणी सदा विषयोंमें मग्न रहकर शिष्णोदरपरायण होरहा है, अर्थात् स्त्रीके पीछे लगा हुआ है, स्त्रीकी ही आज्ञामें समयको बिताता है, दिन रात अपने पेटहीके धन्धेमें लगा रहता है, परलोककी भी ओर एक बारगी दृष्टि नहीं करता । दान, हवन, जप, स्मरण और भजन कभी कुछ नहीं करता है । जिसका मस्तक तीते तूंबेके समान है जो कभी किसी देवालय वा महात्मा, गुरु, माता, पिताको नहीं झुकता । जिसके कान कभी हरियश श्रवण नहीं करते वरु परायेकी निन्दा सुननेमें तत्पर रहते हैं । जिसकी आंखें कभी साधु, महात्मा तथा भगवत्-मूर्त्तिका दर्शन नहीं करतीं वरु परस्त्रीकी छवि और शृंगार देखनेमें तत्पर रहती हैं, जिसकी जिह्वा कभी स्वाहा स्वधाका अथवा प्रणवादि मंत्रोंका उच्चारण नहीं करती, जिसके हाथ द्रव्यदान देकर असमर्थोंका पालन पोषण नहीं करते, जिसके पांव कभी परोपकारमें नहीं दौडते, जिसका मन कभी किसी सात्त्विककर्मका संकल्प तक नहीं करता, जिसकी बुद्धि ज्ञानतत्त्वसे विमुख हो केवल छल, कपट, प्रपंच और धूर्त्ततामें पडीहुई स्वार्थ साधनमें लगी रहती है ऐसे प्राणी को अयज्ञ कहकर पुकारते हैं । ऐसे ही प्राणीको " **नायं लोकोस्ति** " इस नर-लोकका भी आनन्द प्राप्त नहीं है । अर्थात् नरलोकका स-

म्पूर्ण आनन्द तो अलग रहा सहस्रांशमें एक अंशकी भी प्राप्ति नहीं है । तो परलोकका विशेष सुख कैसे मिल सकता है वा भगवत्की प्राप्ति कैसे होसकती है ? अर्थात् नहीं होसकती ।

प्रश्न— नरलोकका सुख क्या है, कहांतक है ?

उत्तर— " ॐ युवा स्यात् साधु युवाऽध्यायकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथ्वी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः ॥ " (तैत्तिरी० व० २ अनु० ८ श्रु० १ में देखो)

अर्थ— मनुष्य कैसा हो, कि युवा हो, श्रेष्ठ हो, चारों वेद-वेदांगादिसे लेकर छोटे-छोटे ग्रन्थोंतक जितने शास्त्र पुराण हैं और जितनी विद्याएँ हैं सब प्राप्त किये हो, गुरुसे वा माता पितासे शिक्षा पाये हुआ हो, सर्व कार्य्योंमें दृढ हो, बलवान ऐसा हो, कि किसीसे युद्धमें पराजय नहीं पाया हो, सम्पूर्ण पृथ्वी-मण्डलका एक चक्रवर्त्ती राजा हो, इतना सुख जिसे प्राप्त हो जानो, कि नरलोकके सम्पूर्ण सुख उसे प्राप्त हैं । सो इतने सुख बिना प्रबल पुरुषार्थ अर्थात् बिना पुण्योंके साधन किये नहीं होसकते । जो प्राणी अयज्ञ है, उसे इन सुखोंमें एकका भी लाभ नहीं होसकता । परलोक तो अलग रहा ।

इस श्लोकमें भगवान अर्जुनको कुरुसत्तम ऐसा विशेषण देकर पुकारते हैं । इसका कारण यह है, कि " यथोक्तेऽर्थे बुद्धिसमाधानं कुरुकुलप्रधानस्यार्जुनस्यानायासलभ्यमिति वक्तुं कुरुसत्तमेत्युक्तम्" (आनन्दगिरिः) कुरुवंशियोंमें उत्तम जो अर्जुन तिसकी बुद्धि वचनोंके यथार्थ अर्थोंको बिना किसी परिश्रमके शीघ्र ही समझनेमें

समर्थ है इसलिये भगवान्ने " कुरुसत्तम " कहकर पुकारा है। क्योंकि ये जो बारह प्रकारके यज्ञ कहे तिनके समझनेकेलिये सर्व-साधारणकी बुद्धि काम नहीं देती। क्योंकि ऊपरसे देखने-मात्र तो इनमें बहुत अन्तर देख पडता है पर यथार्थमें सबका फल एक ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति ही है। इसलिये अर्जुनके प्रति मानो भगवान् कुरुसत्तम कहकर बडाई देरहे हैं, कि तू इन बारहों प्रकारके यज्ञोंके मर्मको समझनेमें समर्थ है ॥ ३०, ३१ ॥

अब यज्ञपति श्री हरि कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यदि तुझको शंका हो, कि इन यज्ञोंका वर्णन पहलेसे भी किसी ग्रन्थमें है, कि केवल मैंने ही तुझको कहा है ? तो सुन—

मू०—एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्म्मजान् विद्धि तान् सर्व्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥
॥३२॥

पदच्छेदः— एवम् (यथोक्ताः । अनेन प्रकारेण) बहुविधाः (अनेकप्रकाराः) यज्ञाः (यागाः) ब्रह्मणः (वेदस्य) मुखे (द्वारे । वदने । आनने । आस्ये । मुखविवरे । मंत्रे) वितताः (विस्तृताः) तान् (यज्ञान्) सर्वान् (निखिलान्) कर्मजान् (कायिकवाचिक-मानसकर्मोद्भवान् । आत्मस्वरूपसंस्पर्शसहितान्) विद्धि (जानीहि) एवम् (ईदृशम्) ज्ञात्वा (बुद्ध्वा) विमोक्ष्यसे (संसारबन्धनात् विमुक्तो भविष्यसि) ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (**एवम्**) ये जो बारह प्रकारके यज्ञ जैसे पूर्व में कहेगये हैं इसी प्रकार (**ब्रह्मणः**) वेदके (**मुखे**) मुखमें अर्थात् आरम्भमें अथवा सम्पूर्ण वेदवचनोंमें (**बहुविधाः**) नाना प्रकारसे (**विततः**) विस्तार-पूर्वक कथन कियेगये हैं (**तान्**) तिन (**सर्वान्**) सबोंको हे अर्जुन ! तू (**कर्मजान्**) कायिक, वाचिक और मानस कर्मोंसे उत्पन्न (**विद्धि**) जान (**एवम्**) इस प्रकार (**ज्ञात्वा**) जानकर तू (**विमोक्ष्यसे**) संसार-बन्धनसे छूट-जावेगा ॥ ३२ ॥

भावार्थः— जब आनन्दकन्द व्रजचन्द बारह प्रकारके यज्ञों को कहचुके तब अर्जुनके मनमें यह चिन्ता हुई, कि ये बारह प्रकार के यज्ञ आज ही मेरे समीप श्री गोविन्दने कथन किये अथवा इससे पूर्व भी किसी महापुरुषने किसी ग्रन्थमें इनके विषय कुछ कहा है ? अन्तर्यामी भगवान अर्जुनके मनकी यह बात समझ अर्जुनको दृढ विश्वास करानेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! इन यज्ञोंका वर्णन आज ही मैंने तेरे समीप नहीं किया वरु पहले भी ये वर्णन किये गये हैं । कहां वर्णन किये गये? सो सुन ! [**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो** *** मुखे**] ये सबके सब यज्ञ वेदके मुखमें अर्थात् वेदोंके आरम्भमें विस्तार-पूर्वक कथन किये हैं । सर्व विद्वान् तथा वेदोंके ज्ञाता जानते हैं, कि वेदोंके तीन भाग किये हुये हैं । प्रथम

---

* यहां ब्रह्मणो मुखेका दो प्रकारसे अर्थ किया जावेगा— १. वेदके मुखमें अर्थात् आरम्भमें । २. सम्पूर्ण वेदवाक्योंमें अर्थात् ऋचाओंमें ।

भागमें कर्मकाण्डका दूसरेमें उपासनाका और तीसरेमें अर्थात् अन्त में ज्ञानका । इसलिये आनन्दकन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन! ये सब यज्ञ वेदके मुखमें वर्णन कियेहुए हैं । सो जैसा मैंने तुझको केवल पांच अथवा छः श्लोकोंमें कथन करेदिया ऐसा नहीं वरु नाना-प्रकारसे सहस्रों वेद-मंत्रोंके द्वारा विस्तार-पूर्वक कथन किये हुए हैं । श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्दने जो द्वादश-यज्ञोंका विषय प्रारम्भ करते हुए प्रथम दैवयज्ञ अर्थात् अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, दर्श, पौर्णमासादिका कथन श्लोक २५के अर्धभागमें किया है । उन यज्ञोंके सम्पादन निमित्त अग्नि, चरु, होता इत्यादिकी आवश्यकता पडती है । इसलिये इनके विषय प्रत्येक वेदके आरम्भमें जो विधान है उनमेंसे प्रथमके दो एक मंत्र प्रत्येक वेदोंसे दिखलादिये जाते हैं जिससे यह सिद्धान्त होजावेगा, कि वेदोंके मुख (आरम्भ) में यज्ञोंका वर्णन है ।

शु० यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा अध्या० १ मंत ५—

ओ३म् अग्ने व्रतपते व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयन्तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात्सत्य मुपैमि । इस मंत्रसे यज्ञके अनुष्ठानकी प्रतिज्ञा कीजाती है ।

अर्थ—हे अग्निदेव! यज्ञके पति! मैं यज्ञका अनुष्ठान करूंगा। उसे मैं पूर्ण करसकूं । यह मेरा यज्ञ निर्विघ्न सिद्ध करो और मैं इस अनृत-संसारसे छूटकर सत्य जो भगवत्स्वरूपमें सायुज्य-मुक्ति उसे प्राप्त करूं ऐसी कृपा करो!

अब यज्ञ-हविके बनानेकेलिये ऊखल, मूशल तथा हवि बनाने वालेके विषय मंत्र लिखते हैं—

" ॐ अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनन्देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्गावासि वनस्पत्यः स इदन्देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व हविष्कृदेहि ! हविष्कृदेहि !! हविष्कृदेहि !!! । "

(शु० यजु० अ० १ मं० १५)

इस मंत्रसे ऊखलमें हवि डालते हैं, मूशल हाथमें लेते हैं और वि बनानेवालोंको बुलाते हैं । अर्थ— हे हवि ! तुम अग्निके शरीर हो, क्योंकि तुम्हारे डालनेसे अग्निकी वृद्धि होती है फिर तुम वाचोविसर्जन हो क्योंकि जलसे शुद्ध करनेके समय जो वेद-वचन तुम्हारे विषय बोलेजाते हैं, ऊखलमें डालतेसमय उनका विसर्जन होजाता है । इसलिये तुम जो वाचाविसर्जन हो सो तुमको "देववीतये" ईश्वरकी प्राप्तिके अर्थ ऊखलमें डालनेकेलिये ग्रहण करता हूं । हे मूशल ! तू लकडीका बनाहुआ दृढतर है सो तू इस व्रीहिरूपहविको देवताओंके लिये "शमिष्व" इसकी भूसी हटाकर निर्म्मलकर हे "शमि !" शान्तरूप मूशल ! तू इस हविको "सुशमिष्व" अच्छे प्रकार शान्त करो ! अर्थात् स्वच्छ करदो ! हे "हविष्कृत् !" हविष्यका बनानेवाला यहां आ ! हे हविष्यका बनानेवाला यहां आ !! हे हविष्यका बनानेवाला यहां आ !!! तीनबार पुकारकर हविष्य बनानेवालेको हविष्य बनानेकेलिये दृढ करते हैं । ये दो मंत्र यजुर्वेदके प्रथम अध्यायमें दिखलाये गये हैं । अब सामवेदसे लिखते हैं—

सामवेद— "ॐ अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये नि होता सत्सि बर्हिषि । " (सामवेद प्रथम प्रपाठक मंत्र १)

हे अग्निदेव ! यज्ञ होगा यह शब्द करतेहुए तुम चरू, पुरोडाश इत्यादि हविके भक्षण और देवताओंके हविदानकेलिये हमारे यज्ञमें आओ ! जिस कारण देवताओंके आह्वाहनकर्त्ता तुम कुशासन-पर बैठाकरते हो। अब ऋग्वेदसे दिखलाते हैं—

ऋग्वेद— ॐ उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्त धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

अर्थ— हे सबसे उपासना कियेजाने योग्य अग्निदेव ! हमलोग (दिवे दिवे) अनेक प्रकारके विज्ञान होनेकेलिये दिन-दिन (धिया) अपनी बुद्धि और कर्मोंसे आपकी (भरन्तः) उपासनाको धारण और (दोषावस्तः) रात्रि दिनमें निरंतर (नमः) नमस्कार आदि करते हुए (उप एमसि) आपकी शरणमें प्राप्त होते हैं । सब वेदोंके आरंभमें इन यज्ञीयमंत्रोंके देखनेसे ऐसा प्रत्यक्ष होता है, कि सब वेदोंके मुखमें अर्थात् आरंभमें बहुविधयज्ञोंके विधान हैं । पर इतना अवश्य जानना चाहिये, कि वेदोंके आरंभमें पूर्व कथन कियेहुए द्वादश यज्ञोंमें केवल देवयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, अष्टांगयोगयज्ञ, प्राणयज्ञ इनही ७ यज्ञोंका वर्णन है। शेष पांच यज्ञ ब्रह्मयज्ञ, संयमयज्ञ, इन्द्रिययज्ञ, आत्मसंयमयज्ञ, ज्ञानयज्ञका वर्णन वेदके अन्त-भागमें है इसलिये इस श्लोकमें जो ब्रह्मणो मुखे का अर्थ वेदका मुख अर्थात् आरंभ कियागया है वहाँ वेदमुखका अर्थ वेदवाक्य करना चाहिये क्योंकि वेदोंके अन्तमें तो ब्रह्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ इत्यादिका वर्णन है ।

इसकेलिये यजुर्वेदके अन्तिम अध्याय ईशावास्यको देखो ।

इसी प्रकार सब वेदोंका अन्त ज्ञानयोगका ही वर्णन करता है। चारों वेदोंके सब मंत्र मिलकर गणनामें एकलक्ष १००००० हैं इनमें ८०००० तो कर्म और उपासनाके विषय हैं और २०००० ज्ञानके विषय हैं । इसलिये यों कहना चाहिये, कि वेदके मुखमें अर्थात् मुंहमें आदिसे अन्ततक बारहों यज्ञ विस्तार-पूर्वक कथन कियेहुए हैं अर्थात् ये सब वेद अपने मुखसे यज्ञोंको विस्तार पूर्वक कह चुके हैं।

एवम् प्रकार सब वेदोंमें सब प्रकारके यज्ञ विस्तारपूर्वक कथन कियेहुए हैं । विस्तारके भयसे यहां सब नहीं दिखलाये जासकते केवल दो चार मंत्रोंको दिखलाकर सूचना करदी गई है ।

जिसको जिस यज्ञकी विधि जाननी हो और वह जिस वेदवाला द्विज हो अपने वेदसे उस यज्ञको निकाल लेवे ।

शंका— पहले श्यामसुन्दर अर्जुनसे यह कह आये हैं, कि— " त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! " वेद त्रिगुणात्मक कर्मोंके बतानेवाले हैं इसलिये तू निस्त्रैगुण्य होजा (देखो अ० २ श्लो० ४५)

और अब फिर इन्हीं वेदोंसे यज्ञोंको बतला रहे हैं और कहरहे हैं, कि (वितता ब्रह्मणो मुखे) वे सब यज्ञ वेदके मुखमें विस्तारपूर्वक कथन किये हुए हैं । और यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् । जो इन यज्ञोंके अवशिष्ट अमृतका भोजन करते हैं ।

वे सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। इन दोनों वचनोंमें पूर्वापर विरोध होनेसे प्रमादका प्रवेश होता है। सो सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्वकलापूर्ण अन्तर्यामी श्री भगवान् कृष्णचन्द्रके मुखसे नहीं होना चाहिये सो ऐसा क्यों हुआ ?

समाधान—वादी इस तेरी शंकाके निवारणार्थ भगवान् आगे आधे श्लोकमें कहते हैं, कि (**कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**) हे अर्जुन ! ये जितने यज्ञ कथन किये हैं उन सबोंको तू कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मोंसे उत्पन्न जान! ये सब कर्मज हैं वेदोंमें कथन कियेहुए हैं इन्हींका साधन करते-करते पारमार्थिक बुद्धि होती है तब मनुष्य निस्त्रैगुण्य होता है। अर्थात् वेदोंसे पार जा ब्रह्मको प्राप्त होता है। इसी कारण भगवान् यह भी कहचुके हैं, कि " **न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**" (अ० ३ श्लो० ४) बिना कर्मके आरंभ किये कोई प्राणी नैष्कर्म्य-अवस्थाको नहीं प्राप्त होसकता अर्थात् निस्त्रैगुण्य नहीं होसकता और अब कहते हैं, कि " **यज्ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे** " जिन कर्मजयज्ञोंका साधन करते-करते उनके यथार्थ भेदको जानकर तू मोक्षको प्राप्त होगा यहां किसी प्रकार की शंका मत करो !

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि ये जो द्वादश प्रकारके यज्ञ हैं सबोंका सम्बन्ध काया, वचन और मनसे है बहुतों का तीनोंसे, बहुतोंका दो से, बहुतोंका केवल एकसे ही है। इसलिये इनको कर्मज कहना पडा। श्रुतिका वचन है, कि " **यन्मनसा मनुते**

तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति " अर्थ— पहले प्राणी जिस बातका मनन करता रहता है वही वचनसे बोलता है फिर जैसा वचनसे बोलता है तदनुसार ही करता है। यह मानुषी-स्वभाव है इसलिये जितने यज्ञ कर्मसे उत्पन्न हैं उन सबोंका सम्बन्ध मन, वचन और काया तीनोंसे होना आवश्यक है। सो यहां दिख-लाया जाता है —

१. देवयज्ञ— इस यज्ञमें जो संकल्प है वह मानसिक कर्म है फिर संकल्पके पश्चात् जो मंत्रका उच्चारण है सो वाचिक कर्म है पश्चात् जो हाथोंसे हवनीयद्रव्य लेकर अग्निमें डालना है वह कायिककर्म है। अथवा यों कहो, कि अपने-अपने इष्टदेवके प्रसन्न रखनेकी जो इच्छा है वह मानसिककर्म है, मुखसे जो उनकी प्रार्थना वा स्तुति करनी है सो वाचिक है और उनका षोडशोपचारपूजन अर्थात् धूप, दीप, नैवेद्य इत्यादिका जो यत्न करना है सो कायिक-कर्म है।

२. ब्रह्मयज्ञ— इस यज्ञमें ब्रह्मज्ञानकी जो अभिलाषा है सो मान-सिक है, उसकी प्राप्ति निमित्त जो गुरुशरण जाकर उपाय पूछना है सो वाचिक है और जो गुरुदेवकी सेवा है वह कायिक कर्म है।

३. संयमयज्ञ— इस यज्ञमें जो भिन्न-भिन्न संद्मोंकी ओर एकाग्र हो मनको स्थिर रखना है अर्थात् अपने लक्ष्यको स्मरण रखना है सो मानसिक कर्म है, तिस संयम-रूप आगमें हवन करनेके लिये जो श्रोत्रादि इन्द्रियोंको उनके विकारोंसे हटाना है सो कायिक है। और इसमें

भी कहीं-कहीं प्रणवादि मंत्रोंका उच्चारण है सो वाचिक है । यदि कोई शंका करे, कि संयम यज्ञके लिये मंत्र उच्चारणकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि इंद्रियोंको विकारोंसे हटालेना ही इस यज्ञसम्पादनके लिये बहुत है । तो उत्तर यह है, कि यदि इन इंद्रियोंके अधिष्ठातृदेवको प्रसन्न करनेके लिये मंत्रोंके द्वारा कुछ प्रार्थना, स्तुति कीजावे तो कुछ हानि नहीं " अधिकस्याधिकम् फलम् " जितना ही कर्ताको अधिक परिश्रम होगा अधिक फल होगा। विहित कर्मों का करना कायिक है उनका फल मंत्र द्वारा भगवत्में अर्पण करना वाचिक है और इस कारण मंत्रका प्रसाद वा शान्तिकी प्राप्ति मानस है।

५. आत्मसंयमयज्ञ— इस यज्ञमें × व्युथान और निरोध के पीछे प्रशान्तवाहिता संस्कारकी प्राप्ति है, वह मानस-कर्म है तिसके साधन निमित्त जो शारीरिक-परिश्रम है वह कायिक है।

६. द्रव्ययज्ञ— शारीरिक-परिश्रमसे शुद्ध अर्थ लाभकरना कायिक है, दुखियोंको बुलाकर दानदेना वाचिक है और मनमें यह विचारना, कि कूप, तडाग, गोशाला, पाठशाला इत्यादिमें इतने प्रमाणतक द्रव्यदान करूंगा मानसिक है।

७. तपोयज्ञ— भूख प्यास सहना तथा मौन इत्यादि साधनकरना कायिक कर्म है जिस प्रयोजनसे तप किया जाता है, उसकी सिद्धिका

× व्युत्थान, निरोध और प्रशान्तवाहिताका वर्णन श्लो० ३६ में देखो।

विचार करते रहना मानस है तथा प्रणवादिका जप वाचिक है ।

८. **योगयज्ञ**— आसन, मुद्रा इत्यादि लगाना कायिक है, 'हंसः' इत्यादि मंत्रोका उच्चारण करना वाचिक है, मनको एकाग्र करना मानसिक है ।

९. **स्वाध्याययज्ञ**— अध्ययनके लिये गुरु शरण जाना कायिक है वेदादि अध्यन तथा प्रणवादि उच्चारण और उनके अर्थोका विचार करते रहना मानसिक है ।

१०. **ज्ञानयज्ञ**— केवल मन बुद्धिका व्यापार है इसलिये इसको केवल मानसिककर्म कह सकते हैं, इसे कायिक वाचिकसे स्वल्प सम्बन्ध है ।

११. **प्राणयज्ञ**— प्राणायाम इत्यादि साधनके लिये आसन इत्यादि लगाना कायिक है, प्राणायाम मंन्त्रका उच्चारण करना वाचिक है और चित्तका निरोध होना मानसिक है।

एवम् प्रकार ये सब यज्ञ कर्म्मज हैं इसी कारण इनका अन्योन्य सम्बन्ध है । एकका गुण दूसरेमें घुसा हुआ है । अतएव सब यज्ञ करनेवाले फलोंको भगवत्में अर्पण करदेनेसे भगवत्स्वरूपको प्राप्त होते हैं ।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि " एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे " हे अर्जुन ! तू इस प्रकार यज्ञोंका भेद जानलेनेसे मोक्षको प्राप्त होजावेगा । अर्थात् युद्धादि कर्मोंका सम्पादन करता हुआ भी संसारबन्धनसे छूट मेरेमें आमिलेगा ॥ ३२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! इन द्वादशयज्ञोंमें
किस यज्ञको श्रेष्ठ मानूँ ? यह सुन भगवान् बोले—

मू०— श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
॥ ३३ ॥

पदच्छेदः— परंतप ! (हे शत्रुतापन !) द्रव्यमयात् (द्रव्यसाधनसाध्यात्) यज्ञात् (दैवादियज्ञात्) ज्ञानयज्ञः (वाह्यः कार्यप्रवृत्त्युपरमात्मक आत्मसाक्षात्कारयज्ञः) श्रेयान् (प्रशस्यतरः) पार्थ ! (हे पृथापुत्र !) सर्वम् (सकलम्) अखिलम् (सर्वाङ्गोपसंहारयुक्तम् निश्शेषम्) कर्म्म (देवद्रव्ययज्ञादिफलारंभककर्म) ज्ञाने (आत्मज्ञाने ब्रह्मसाक्षात्कारे) परिसमाप्यते (प्रबन्धत्तयद्वारेण पर्यवस्यति । अन्तर्भवति) ॥ ३३ ॥

पदार्थः— (परन्तप !) हे शत्रुओंका नाश करने वाला अर्जुन ! (द्रव्यमयात्) द्रव्यमय (यज्ञात्) यज्ञसे (ज्ञानयज्ञः) ज्ञानयज्ञ (श्रेयान्) श्रेष्ठ है क्योंकि (पार्थ !) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (सर्वम्) सब तथा (अखिलम्) सम्पूर्ण अंगोंके सहित (कर्म्म) जो यज्ञादि कर्म हैं वे (ज्ञाने) ज्ञानयज्ञमें (परिसमाप्यते) प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने पूछा है, कि पूर्वोक्त द्वादशयज्ञोंमें किस यज्ञकी श्रेष्ठता मानी गई है । इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि

[श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप !] हे शत्रु-ओंका नाश करनेवाला अर्जुन ! ज्ञानयज्ञ ही द्रव्य-मय-यज्ञसे श्रेष्ठ है। क्योंकि ये जितने द्वादशप्रकारके यज्ञ कहेगये इनमें ग्यारह यज्ञ तो द्रव्ययज्ञ हैं केवल ज्ञानयज्ञ ही द्रव्ययज्ञ नहीं है। यहां द्रव्य शब्दके दो अर्थ हैं। प्रथम वस्तु-तस्तु अर्थात् अन्न, वस्त्र, हिरण्य इत्यादि द्वितीय "क्षित्यप्तेजो मरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनो द्रव्याणि" इस न्यायसूत्रानुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मनको भी द्रव्य कहते हैं।

इसी कारण द्रव्ययज्ञ कहनेसे उन दोनों यज्ञोंका भी तात्पर्य है जिसे भगवान दैवयज्ञ और द्रव्ययज्ञ कहते हैं। क्योंकि इनका सम्बन्ध अन्न, वस्त्र, धन, सम्पत्ति, तिल, यव, अग्नि इत्यादिसे है तथा उन यज्ञोंसे भी अभिप्राय है जिनका सम्बन्ध क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर अर्थात् पांचों तत्त्वोंसे है, शरीर और अन्तःकरणसे है। तात्पर्य यह है, कि इन्द्रियज्ञ, प्राणयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, योगयज्ञ, तपयज्ञ इत्यादि भी द्रव्ययज्ञ ही कहलाते हैं। इसीकारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि हे शत्रुतापन अर्जुन ! इन द्रव्ययज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि ज्ञानयज्ञको किसी द्रव्यसे सम्बन्ध नहीं है।

यदि शंका हो, कि न्यायने तो आत्माको भी द्रव्य ही माना है और ज्ञानयज्ञको इस आत्मासे सम्बन्ध है इसलिये ज्ञानयज्ञ भी द्रव्य-यज्ञ क्यों नहीं कहा जावेगा ? तो उत्तर यह है, कि न्यायवालोंने अपने प्रयोजन साधन करने तथा अपनी युक्तियोंको सिद्ध करनेके

तात्पर्य्यसे आत्माको भी द्रव्य मान लिया है । नहीं माननेसे सारा न्यायशास्त्र ही मिट्टीमें मिलजावेगा । यदि उनसे पूछो, कि वेदसे आत्माके द्रव्य होनेका प्रमाण दो, तो वे नहीं देसकते । इसलिये उनका ऐसा मानना अप्रमाणके समीप-समीप कहना चाहिये ।

दूसरी बात यह है, कि न्यायवाले आत्माको अहंकारका आश्रय और × मनोमात्र इन्द्रियसे आत्माका ग्रहण मानते हैं । अर्थात् ऐसा कहते हैं, कि *मनके द्वारा आत्माको जानलेते हैं*, पर वेदका अन्तिम भाग वेदान्त न्यायके इस सिद्धान्तका खण्डन करता है । श्रु०—"अय मात्मा ब्रह्म" यह आत्मा ब्रह्म है । इसी कारण मनादिसे ग्रहण नहीं होसकता । श्रु०— "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो ···· " अर्थात् इस आत्मामें आंख नहीं जाती, न वचन जाता है, आत्मा मनोगोचर नहीं है । श्रु०— "यन्मनसा न मनुते येनाहु र्मनो मतम् ····" फिर वेदने आत्माको व्यापक कहा है । प्रमाण— यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषुचात्मानन्ततो न विचिकित्सति ।" (यजुर्वेद अ० ४ मं ६) अर्थ— जो मुमुक्षु अव्यक्तसे लेकर स्थावर पर्य्यन्त सर्वप्रकारके द्रव्योंको तथा सर्वप्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और सबमें आत्माको देखता है वह संसारबन्धनका कुछ भी डर नहीं रखता है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि नैयायिकोंके जितने पंचभूत मन, आकाश, काल इत्यादि द्रव्य हैं सब आत्मामें हैं और आत्मा सबमें है । इस कारण आत्माको पंचभूत इत्यादि आठ द्रव्योंके साथ नवां

× अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः (सिद्धान्तमुक्तावलि परिच्छेद १ का० ५०)

द्रव्य बनाकर कहना मानों गुंजाके साथ चिन्तामणिको पिरोना है। हां! इतना तो है, कि नैयायिक भी आत्माको +विभु अर्थात् व्यापक और बुद्धि इत्यादि गुणोंवाला तथा नित्य मानते हैं, *इन्द्रियादिका अधिष्ठाता मानते हैं।

इस कारण "विभु" नित्य तथा अधिष्ठाता कहनेमें न्याय और वेदान्तकी एक सम्मति होरही है। इसे तो मानना ही चाहिये।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि आत्मा द्रव्य नहीं इसलिये आत्मज्ञानयज्ञको द्रव्ययज्ञ नहीं कह सकते।

यदि आत्मज्ञानयज्ञ और द्रव्ययज्ञ एक समान हों, तो भगवान् अपने मुखसरोजसे ज्ञानयज्ञको द्रव्ययज्ञसे श्रेष्ठ क्यों कहते? इस कारण हे वादी! तू ज्ञानयज्ञको द्रव्ययज्ञ नहीं कह सकता।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता अन्य एकादश-यज्ञोंसे माननी ही चाहिये क्योंकि द्रव्य द्वारा अन्नदान, गोदान, वस्त्रदान, हिरण्यदान इत्यादि योग, तप, जप किसी प्रकार के कर्म क्यों न हों जब तक ज्ञान न हो सब बन्धनके कारण हैं। जब ज्ञान प्राप्त होता है तो सबोंके फल उसी ज्ञानके भीतर जाकर समाप्त होजाते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [सर्वं कर्मा-

---

+ विभुर्बुद्ध्यादि गुणवान् (मुक्तावली परि॰ १ का॰ ५१ में देखो)

* आत्मेंद्रियाधिष्ठाता (मुक्ता॰ परि॰ १ का॰ ४७ में देखो)

खिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते] हे पार्थ ! सर्व यज्ञोंके सम्पूर्ण कर्म सब अंगोंके सहित ज्ञानयज्ञमें जाकर लय होजाते हैं । क्योंकि अन्य सब यज्ञ जन्म मरणके बन्धनमें डाला करते हैं और ज्ञानयज्ञ अन्य फलोंसे शून्य होनेके कारण केवल मोक्ष ही प्रदान करनेवाला है । ज्ञानयज्ञसे शरीर निर्मल, निर्विकार और निरहंकार होकर मेरी ओर झुकता है और मेरे स्वरूपको प्राप्त करता है ।

जैसे सब नदियां चारों ओरसे सिमट कर समुद्रमें लय होजाती हैं इसी प्रकार सर्व प्रकारके कर्मजयज्ञ ज्ञानयज्ञमें लय होजाते हैं । प्रमाण श्रु०— " **ॐ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।** " (काठकोप० अ० २ वल्ली १ श्रु० २)

अर्थ— जो बालक हैं, अज्ञानी हैं वे ज्ञानसे पहले कामनाओंकी सिद्धिकी ओर अर्थात् धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र इत्यादिकी ओर दौडते हैं । इस प्रकार दौडते हुए मृत्युके बहुत बडे फैलेहुए फांसमें पडकर नष्ट होजाते हैं । पर जो धीर हैं वे अमृतत्व जो कैवल्यपरम-पद तिसे नित्य जान कर (अध्रुवेषु) इस अनित्य संसारकी प्रार्थना नहीं करते । अर्थात् परम ज्ञानके प्रतिकूल विषयोंकी कांक्षा नहीं करते इसलिये ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता सिद्ध है ।

मुख्य अभिप्राय भगवान्‌के कहनेका यह है, कि जब तक कामना है तब तक कर्म अपनी शाखा प्रशाखा फैलाकर प्राणीको बांधलेता है । सो कामना ज्ञान-यज्ञ-रूप अग्निकी ज्वालामें भस्म होजानेसे कर्मके सब जाल फांस भी भस्म होजाते हैं ।

ज्ञानका उदय और कामनाओंका अस्त दोनों साथ-साथ आरम्भ होते हैं। इनके उदय और अस्तके बीचमें जो सन्धिका समय है वही अन्तःकरणकी शुद्धिके साधनकी अवस्था है। इधर जैसे-जैसे ज्ञानके उदयसे कामनाओंका अस्त आरम्भ होता है, तैसे-तैसे उधर अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती जाती है।

इस ज्ञानयज्ञके साधन करनेवालोंको ज्ञानकी सातों भूमिकाओं को जानना आवश्यक है। (तिन भूमिकाओंका वर्णन अध्याय ३ श्लो० १८ में देखो) ॥ ३३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! ऐसे ज्ञानकी प्राप्ति
किस प्रकार हो और कहांसे हो? सो कृपा कर कहो!
इतनासुन श्री गोविंद बोले—

मू०—तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
॥ ३४ ॥

पदच्छेदः—तत् (ज्ञानम्) **प्रणिपातेन** (दीर्घनमस्कारेण दण्डवत्पतनेन वा) **परिप्रश्नेन** (कर्मोपासनाज्ञानविज्ञानादि बहुविषयकेन प्रश्नेन। कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या का चाविद्येति परिप्रश्नेन) **सेवया** (शुश्रूषया सर्वभावेन तदनुकूलकारितया) **विद्धि** (विजानीहि। लभस्व) **ज्ञानिनः** (न्यायविचारपूर्वकवेदार्थज्ञाः) **तत्त्वदर्शिनः** (यथावत्तत्त्वदर्शनशीलाः) ते (तुभ्यम्) **ज्ञानम्** (परमात्मविष-

यम) उपदेक्ष्यन्ति (कथयिष्यन्ति । उपदेशेन सम्पादयिष्यन्ति)
॥ ३४ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! जिस ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय तूने पूछा है (तत्) तिसको तू (**प्रणिपातेन**) महानपुरुषोंके सम्मुख जा दण्डके समान पृथ्वीपर गिरकर अर्थात् उनको नम्रता पूर्वक दण्डवत् प्रणामकरके, (**परिप्रश्नेन**) उपासना, ज्ञान, विज्ञानादि नाना प्रकारके विषयोंके समझानेके निमित्त प्रश्न करके तथा (**सेवया**) उनके चरणोंकी सेवा करके (**विद्धि**) जानले और समझले । क्योंकि तेरी सेवासे प्रसन्न होकर वे (**ज्ञानिनः**) न्याय और विचारके साथ वेदार्थके जाननेवाले ज्ञानी तथा (**तत्त्वदर्शिनः**) ब्रह्मज्ञानके गूढतत्त्वके साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मनिष्ठ (**ते**) तेरेलिये (**ज्ञानम्**) ज्ञानतत्त्वको (**उपदेक्ष्यन्ति**) उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्‌से यह प्रार्थना की है, कि हे दया सागर ! इस ज्ञानयज्ञके प्राप्त करनेका क्या उपाय है ? उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया**] हे अर्जुन ! तू इस ज्ञानयज्ञको, प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इन तीन उपायोंसे प्राप्त करले । अर्थात् गुरुदेवकी शरण जा दण्डवत प्रणाम कर उनकी सेवामें तत्पर हो प्रश्न कर ज्ञानयज्ञका स्वरूप प्राप्त करले ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय क्या है ? सो सुनो ! बहुतेरे प्राणी यज्ञोपवीतसंस्कारके पश्चात् ब्रह्मचर्य्याश्रमके नियमोंके अनुसार

गुरुकुलमें जाकर वेदोंको वेदांगोंके सहित तथा नाना प्रकारके अन्य शास्त्रोंका अध्ययन कर यों समझने लगजाते हैं, कि मैं आत्मज्ञानी तथा तत्त्वदर्शी बन गया, पर ऐसा उनका समझना निरर्थक है । हां ! वे विद्वान् तो अवश्य हैं, पर तत्त्वदर्शी नहीं कहे जासकते । क्योंकि तत्त्वदर्शी होनेके लिये उन महात्माओंसे उपदेश लेना अति ही आवश्यक है जो विद्याध्ययनके पश्चात् ब्रह्मका साक्षात्कार करचुके हैं । अर्थात् जो श्रोत्रिय भी हैं और ब्रह्मनिष्ठ भी हैं ।

शंका—क्या वे विद्वान्, ब्रह्मवेत्ता तथा भगवत्-स्वरूपके अनुरागी नहीं होते ?

उत्तर—नहीं ! कदापि नहीं ! यदि मनुष्य वेद, शास्त्र पढकर विद्वान् होनेहीसे ब्रह्मनिष्ठ होजायाकरता तो रावण जो पूर्ण-विद्वान् था जिसने वेदोंपर भाष्य किया है, राक्षस नहीं कहाजाता । इसी प्रकार चार्वाक् जो विद्वान् था नास्तिक कहाजाता है तथा बौद्धमतके बडे-बडे विद्वान् भी वेदकी निन्दा करनेसे नास्तिक कहेजाते हैं । इनको ब्रह्मनिष्ठ कोई भी नहीं कहता, नास्तिक ही कहता है । मैं तुमको श्रुतियों से सिद्धान्त कर दिखलाता हूं, कि केवल शास्त्रोंका ही विद्वान् होनेसे प्राणी ब्रह्मवेत्ता नहीं होसकता । सो सुनो ! नारद जो सर्वविद्यानिधान थे पहले आत्मज्ञान से रहित थे । एक दिन अपने मनमें बिचारने लगे, कि मैं सर्व-विद्याओंका अध्ययन करचुका पर अबतक मुझे यह बोध नहीं हुआ, कि संसार-क्लेशसे उद्धार करनेवाली कौनसी विद्या है ? क्योंकि जितनी मैंने जानी हैं उनमें तो ऐसी कोई विद्या नहीं देख

पडती जिससे मनुष्य ब्रह्मनिष्ठ हो, संसारसे पारहोजावे। ऐसा बोध होता है, कि इन विद्याओंके अतिरिक्त कोई अन्य विद्या भी है जो किसी ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषसे जाकर पूछनी चाहिये। ऐसे विचार नारद परमहंस सनत्कुमारके समीप जाकर ब्रह्मविद्याके विषय जिज्ञासु हुए। प्रमाण श्रु०— " ॐ अधीहि भगव इति होपाससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्तदूर्ध्वंम्वक्ष्यामीति " (छा० उत्त० प्रपा० ७ खं० १ श्रु० १)

अर्थ— नारदने सनत्कुमारके पास जाकर कहा; कि भगवन्! आप मुझे उपदेश कीजिये अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिका उपाय बताइये। इतना सुन सनत्कुमारने उत्तर दिया, कि जो कुछ तुम जानतेहो, जितनी विद्या तुमने सीखी है सबकीसब मुझसे कहो तब मुझे जो कुछ कहना होगा कहूंगा। यों आज्ञा पाते ही नारद बोले श्रु०— " ॐ स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजन-विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥ " (छा० उत्त० प्रपा० ७ खं० १ श्रु० २)

अर्थ— नारदने सनत्कुमारसे कहा, हे भगवन्! जो कुछ मैंने सीखी है आपके सम्मुख वर्णन करता हूं आप सुनें! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्व्वणवेद, पांचवां इतिहास, पुराण, वेदोंका वेद व्याकरण, श्राद्ध, कल्प जिसमें पितरोंके श्राद्धादिका वर्णन है, गणित-शास्त्र जिससे नाना प्रकारके भेद जानेजाते हैं, दैवशास्त्र जिससे दैवी-

उत्पात, दुर्भिक्ष, उल्कापात, भूकम्प इत्यादिका बोध होता है, +निधि-शास्त्र कुवेरकी नवों प्रकारकी निधियोंका वृत्तान्त, वाक्योवाक्य-शास्त्र जिसे तर्कशास्त्र भी कहते हैं, एकायनशास्त्र जिसे नीति-शास्त्र भी कहते हैं, देवविद्या, निरुक्त, ब्रह्मविद्या, ऋग्वेद, यजुः, साम इन वेदत्रयीका ब्राह्मण-भाग, शिक्षा -कल्प, भूतविद्या जिसे पदार्थविद्या भी कहते हैं जिससे भिन्न-भिन्न भूतों तथा पदार्थोंके मेलसे एक विचित्र शक्तिका ज्ञान होता है अथवा तन्त्रविद्या, मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन इत्यादिको भी भूतविद्या कहते हैं । "क्षत्रविद्या" अर्थात् युद्धमें वाणादि चलानेकी विद्या । "नक्षत्रविद्या" जिसे(ज्योतिषशास्त्र) भी कहते हैं । "सर्पविद्या" जिसमें सर्पोंके भेद तथा उनके विष उतारनेका ज्ञानहोता है। देवजन-विद्या जिसे नृत्य और गानविद्या भी कहते हैं । नारद कहते हैं, कि हे महर्षि सनत्कुमार ! मैंने इतनी विद्यायें सीखी हैं पर हे भगवन् ! ....

श्रु०— "ॐ सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृश्येभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोहं भगवः शोचामि तं मा भगवञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳ होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्" । (छां० उत्त० प्रपा० ७ खं० १ श्रु० ३)

अर्थ—सो मैं केवल मंत्रका जानने वाला हूं अर्थात् उन विद्याओंका शब्दार्थ मात्रका ज्ञाता हूं, केवल कर्मोंका सम्पादन करसकता हूं । पर मैं आत्मवेत्ता नहीं हूं । मैंने आपके समान आत्मवेत्ताओंसे सुना है,

+महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वं च निधयो नव ॥

कि आत्माका जाननेवाला शोकको तरजाता है। सो शोक और मोहमें प्राप्त जो मैं तिसको आप शोकसे पार करो। इस प्रकार नारदने जब कहा तब सनत्कुमार मुसकराकर बोले, कि हे नारद! "यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्" जो कुछ तुमने अध्ययन किया है सब नाम-मात्र ही है।

इन श्रुतियोंसे ही सिद्ध होता है, कि केवल विद्याध्ययनमात्रसे प्राणी शोक-सागरसे पार नहीं जासकता। जबतक आत्मवेत्ता न हो। तिस आत्मवेत्ता होनेकेलिये गुरुओंके पास जाना चाहिये।

इसलिये जगत्-गुरु श्री कृष्णचन्द्र अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू महात्माओंकी शरण जा उनके चरणोंपर गिर उनकी सेवाकर ज्ञान-प्राप्ति-निमित्त यों प्रश्नकर, कि हे भगवन्! प्राणी संसार सागरसे कैसे तरता है? गुरो! मोक्ष क्या है? बन्धन क्या है? जीव क्या है? ब्रह्म क्या है? माया किसे कहते हैं? एवम् प्रकार प्रश्न करनेसे वे तेरी सेवासे प्रसन्न होकर क्या करेंगे? सो सुन! [उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः] वे तुझे ज्ञान उपदेश करेंगे। वे कैसे हैं? तो ज्ञानी और तत्त्वदर्शी हैं। "ज्ञानिनः" विद्याऽध्यनकर सर्व-पदार्थोंको, सांगोपांग वेदार्थको जानकर, विचारशील हो ज्ञानप्राप्त करचुके हैं और (तत्त्वदर्शिनः) तत्त्वको साक्षात्कार करचुके हैं अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्तकर भगवत्-स्वरूप-परायण होचुके हैं। ज्ञानी और तत्त्वदर्शी कहनेका यही तात्पर्य है, कि जिनको सर्व-शास्त्रोंका पूर्णज्ञान है और जो ज्ञानी होकर तत्त्वदर्शी अर्थात् भगवत्-

स्वरूप-परायण होरहे हैं। इसी कारण वे उपदेश करनेके अधिकारी हैं। क्योंकि इन दोनों गुणोंसे सम्पन्न हुए बिना कोई पुरुष आत्मज्ञानके उपदेशमें कुशल नहीं होसकता। जैसा, कि भाष्यकार शंकर भगवान्‌ने अपने भाष्यमें कहा है, कि " ये **सम्यग्दर्शिनस्तैरुपदिष्टं ज्ञानं कार्य्यक्षमम्भवति** " जो सम्यक्‌दर्शी हैं उनहीका उपदेश कल्याण-कारक है और सिद्धि-प्रदान करने वाला है। दूसरोंका नहीं। क्योंकि जो केवल शास्त्रोंके जाननेवाले श्रोत्रिय हैं, पर वे ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं और ब्रह्मज्ञानरहित हैं, वे अनुभवसहित ब्रह्मज्ञानका उपदेश नहीं करसकते। और जो केवल ब्रह्मनिष्ठ ही हैं, शास्त्र नहीं पढे, वे दृष्टान्त, युक्ति, अनुमान, शंका और समाधान-पूर्वक उपदेश नहीं करसकते। इसलिये उपदेष्टाको **श्रोत्रिय** और ब्रह्मनिष्ठ दोनों ही होना चाहिये।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें तीन बातें कही हैं। उनपर ध्यान रखना चाहिये। १. **प्रणिपातेन**, २. **परिप्रश्नेन**, ३. **सेवया**।

१. × **प्रणिपातेन**— गुरुदेवके साष्टांग-प्रणामको **प्रणिपात** कहते हैं।

२. **परिप्रश्न**— अपनी जो कुछ दशा हो उन सबोंको स्वच्छ-रीतिसे गुरुदेवके समीप प्रकटकर किसी अपने रहस्यको नहीं छिपाकर पाप, पुण्य सब स्पष्टरूपसे कहकर अपने उद्धारका पूछना **परिप्रश्न** कहा जाता है।

× प्रकर्षेण निच्चैः पतनम् प्रणिपातो दीर्घ-नमस्कारः। (शंकरः)

३. सेवा— गुरुदेवके युगल-चरणोंकी सेवा, सो सेवा भी कैसी ? तो साधारण नहीं । नीचसे भी नीच सेवा जैसे गुरुदेवके स्नान निमित्त जलका घट भरलाना, इन दिनों बहुतसे शिष्योंको यह सुनकर हिचकसी लगेगी पर औरोंको कौन पूछे ? स्वयं श्री कृष्ण भगवान् की ही गुरु-सेवाका दृष्टान्त देता हूं—

सभी जानते हैं, कि भगवान् बचपनमें अपने गुरुदेवके लिये लकडी तोडकर अपने मस्तकपर लाया करते थे उनके साथ उनका मित्र सुदामा भी जाया करता था । एक दिन जंगलमें इंधन तोडते समय रात्रि होगयी, घोर वर्षा होने लगी, इसलिये इन दोनों मित्रोंने मस्तक पर इंधनका बोझ लिये, इधर उधर मार्ग जोहते बहुत ही क्लेश पाया, पर इंधनका बोझ न छोडा । मानो भगवान्ने सुदामाके मिससे संसारको यह उपदेश किया, कि प्राणीको इसी प्रकार गुरुमहाराजकी शरण प्राप्त हो उनकी सेवा करनी चाहिये । यह इतिहास लोकप्रसिद्ध है इसलिये विस्तारके भयसे संक्षिप्त करदिया गया ।

टिप्पणी— बहुतेरे नवीन प्रकाशवाले यों कहपडेंगे, कि वे तो बच्चे थे इसलिये मस्तकपर इंधनका बोझ लिये फिरे । हम मूंछ दाढीवाले जवान हैं तथा सरदार थानेदार, जमीदार और तहसीलदार हैं हम क्यों गुरुदेवके फरमाबरदार हों ! तो प्यारे नवयुवको ! चाहे तुम कोई " दार " क्यों न होजाओ पर गुरुदेवका तो फरमाबरदार और चोबदार ही रहना पडेगा । देखो सुलतान बलखबुखाराने तो गुरुदेवके स्थानमें भाड झोंकनेका कार्य सम्पादन किया है । जानेदो ये तो सुनीहुई बातें हैं । मैं स्वयं अपनी आंखोंसे देखी हुई बात तुम्हें सुनाता हूं, कि आगरा शहरमें राय शालिग्राम पोस्ट·

अब भगवान् कहते हैं, कि जब एवम् प्रकार सेवा करनेसे गुरुमहाराज प्रसन्न हों तब तो "परिप्रश्नेन" उनसे भिन्न-भिन्न प्रश्नोंको कर शिक्षा लेनी चाहिये। अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान तथा अन्य बहु प्रकारके विषयोंके विषय अपनी शंकाओंकी निवृत्ति करतेहुए आत्मज्ञानकी जिज्ञासा करनी चाहिये! तब वे ज्ञानी, तत्त्वदर्शी, गुरुदेव सार वस्तुओंका उपदेश करेंगे। भगवान्का यह श्लोक इस श्रुतिके अनुकूल ही है प्रमाण—

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत् कवयो वदन्ति" (का० अ० १ बल्ली ३ श्रु० १४)

अर्थ— जैसे माता अपने परम प्रिय पुत्रको नींदसे जगाती है ऐसे श्रुति मोहकी निद्रामें सोये हुए बच्चोंको जगाती है और कहती है, कि हे अविद्याके अन्धकाररात्रिमें सोये हुए बच्चे! उठो! उठो! जागो! जागो! (वरान् प्राप्य) ज्ञानी, तत्त्वदर्शी आचार्योंको प्राप्त करके ज्ञानके मार्गको ग्रहण करो। क्योंकि यह ज्ञानका पथ छुरेकी धारसे भी अत्यन्त तीक्ष्ण है और बडी कठिनतासे पारजाने योग्य है। ज्ञानी-लोग ऐसा ही कहते हैं ॥ ३४ ॥

मास्टर जेनरल जो १३०० रुपये मासिक पाते थे जिनकी आज्ञामें सैकडों पोस्टमास्टर काम करते थे। जलका घट भरकर अपने मस्तकपर ला अपने गुरुदेव राधास्वामी को स्नान कराते थे। तुम लोग यह शंका करोगे, कि जब गुरु भी वैसा महात्मा हों तब न उनकी ऐसी सेवा कीजावे! सच है! तुम्हारी बात थोडी देरके लिये मैं मानता हूं इसी कारण किसी महात्माने कहा है, कि "गुरु कीजे जान, पानी पीजे छान" यदि तुम ऐसा ही चाहते हो तो महात्माओंको पहचानकर गुरु कियाकरो। लेंडी बूचोंको गुरु कियाकरो।

अब श्यामसुन्दर श्री कृष्णचन्द्र इस प्रकार गुरुदेवके चरणोंकी सेवा द्वारा ज्ञानकी प्राप्तिका फल कहते हैं—

मू०— यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
॥ ३५ ॥

पदच्छेदः— पांडव ! (पांडुकुलोद्भव अर्जुन !) यत् (पूर्वोक्तं ज्ञानमाचार्य्यैरुपदिष्टम्) ज्ञात्वा (प्राप्य । लब्ध्वा) पुनः, एवम् (इदानीमिव !) मोहम् (बन्धुबधादिनिमित्तं शोकम्) न (नैव) यास्यसि (प्राप्स्यसि) येन (ज्ञानयोगेन) अशेषेण (साकल्येन) भूतानि (ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तानि । ब्रह्माण्डोदरवर्तीनि चराचराणि) आत्मनि (स्वस्मिन् स्वरूपे) अथ (अनन्तरम्) मयि (वासुदेवे) द्रक्ष्यसि (अवलोकयिष्यसि) ॥ ३५ ॥

पदार्थः— (पाण्डव !) हे पाण्डुकुलभूषण अर्जुन ! (यज्ज्ञात्वा) जिस ज्ञानको जानकर (एवम्) इस प्रकार जैसे तू अब मोहमें पडा है (पुनः) फिर तिस (मोहम्) बन्धुवर्गोंके मरणरूप मोहको (न यास्यसि) नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि (येन) जिस ज्ञान के प्राप्त होनेसे तू (अशेषेण) सकल (भूतानि) भूतोंको अर्थात् ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त को (आत्मनि) अपने आत्मामें (अथ) तदनन्तर (मयि) मुझ वासुदेव परमात्मामें भी (द्रक्ष्यसि) देखेगा। ॥ ३५ ॥

भावार्थः— अब श्री आनन्दकन्द जगद्गुरु महानुभावों द्वारा इस ज्ञानयज्ञकी प्राप्ति करलेनेका फल वर्णन करते हुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव**] हे पाण्डुहृदयानन्दवर्द्धन अर्जुन! गुरुओंकी शरण जानेसे जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है उस ज्ञानको लाभ करके तू फिर कभी ऐसे शोक और मोहको नहीं प्राप्त होगा जैसा, कि तू इस समय अपने बन्धुवर्गोंके मारे जानेके मोहमें पडाहुआ है।

भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि इस जीवका यह स्वभाव सनातनसे चला आरहा है, कि ज्ञान न हो तो जैसे अन्धोंको मार्ग चलनेमें नाना प्रकारके क्लेश उत्पन्न होते हैं ऐसे इस संसारके पथमें यह जीव त्रिविधप्रकारके दुःखोंको भोगता है पर जब गुरुदेव दया-दृष्टिकर ज्ञानकी शलाकासे इसके नेत्रोंके पटल खोलदेते हैं तब यह सांसारिक-दुःखोंसे छूट शोक और मोहरहित हो परमानन्दको प्राप्त होजाता है। इस विषयमें श्रुति एक उत्तम दृष्टान्त देकर समझाती है। सुनो—

श्रु०—" ॐ यथा सौम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा यत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताऽभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥ तस्य यथाभिहननं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्य्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ॥२॥ " (छा० उ० प्र० ६ खं० १४ श्रुतिः १, २)

अर्थ— महर्षि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहते हैं, कि हे सौम्य ! जैसे कोई चोर गान्धार देशके राजकुमारकी आंखोंपर पट्टी बांधकर घरसे ला निर्जनबनमें फेंकदेवे तो सो राजकुमार तिस बनमें कभी पूर्व, कभी पश्चिम, कभी उत्तर, कभी दक्षिण, "प्रध्मायिता" फिरता हुआ पुकारता है, कि भाई ! कोई हो तो मेरी दशा देखो,कि मैं आखोंपर पट्टी बांधकर यहां लायागया हूं और ऐसे इस बनमें छोड-दियागया हूं। इस प्रकार उसकी पुकार सुनकर कोई दयालु-पुरुष राज-कुमारकी पट्टी खोल उससे कहे, कि हे बेटा ! देखो! इधर तेरा गन्धार नगर है तू इस ओर चलाजा। तब वह बालक ग्रामसे ग्रामको पूछता हुआ पण्डित और मेधावी बनकर अर्थात् मार्गका सब वृत्तान्त जानकर अपने गन्धार देशको पहुंच जाता है। इसी प्रकार जो पुरुष आचार्य्यवान् होता है, अर्थात् गुरु द्वारा शिक्षा पाता है वह अपने स्वरूपको जान-लेता है सो इस संसारमें केवल प्रारब्ध-भोगतक जीता है, फिर ब्रह्ममें जा मिलता है।

मुख्य अभिप्राय श्रुतिका यह है, कि इसी प्रकार प्रारब्ध रूप चोरने इस जीवरूप बालकके ज्ञान और वैराग्य रूप नेत्रोंपर अज्ञा-नकी पट्टी बांधकर ब्रह्मानन्दरूप गान्धारनगरसे लाकर संसाररूप निर्जन बनमें छोड दिया है। जो बन काम, क्रोधादि बडे-बडे व्याघ्र, सिंह, विच्छू और सर्पों करके परिपूर्ण है तहां यह जीव बार-बार आध्या-त्मिक इत्यादि घोरदुःखोंमें व्याकुल पुकारता फिरता है, कि हा ! मैं इन सांसारिक दुःखोंसे पिसकर मर रहा हूं। कोई मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो ! तब अकस्मात् कोई दयालु-पुरुष अर्थात् कोई श्रोत्रिय,

ब्रह्मनिष्ठ उसकी पुकार सुन कृपा कर उसकी आंखसे मोह रूप पट्टीको उतार, सांसारिक विषयोंके फांसको तोड, उसे सन्मार्ग पर चढा देता है, कि बेटा ! जा ! तेरा ब्रह्मानन्द-रूप गान्धार नगर इस ओर है। इधर सीधा चला जा। तब यह जीव दृढ वैराग्यवान् हो एक ग्रामसे दूसरे ग्रामका पता लगाता हुआ अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि ग्रामोंको देखता हुआ अपने ब्रह्मानन्द रूप गन्धार देशमें पहुंच जाता है। तब उसके मोहकी निवृत्ति होजाती है।

कहनेका अभिप्राय यह है, कि जो आचार्य्यवान् हुआ है अर्थात् गुरुदेवकी शरण पाचुका है, वही इस मर्मको जानता है और ऐसे जानकर संसार—सागरसे पार होजाता है।

शंका— अर्जुनको तो श्यामसुन्दर स्वयम् ज्ञान उपदेश कररहे हैं फिर ऐसा क्यों कहा ? कि तू प्रणिपात, प्रश्न और सेवा कर महात्माओंसे ज्ञान सीख !

समाधान— भगवानने अर्जुनके पूछनेपर सर्वसाधारण जिज्ञासुओंके लिये यह उपाय कथन करदिया। क्योंकि अर्जुनको तो भगवान उपदेश कर ही रहे हैं पर भगवान् अर्जुनके हृदयका यह अभिप्राय भी जान गये हैं, कि अपने मिससे संसारका कल्याण किया चाहता है। इसी कारण संसारियोंके कल्याण निमित्त भगवान् यह उपाय बता रेहे हैं। शंका मत करो !

अब भगवान् कहते हैं, कि [**येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि**] हे अर्जुन ! एवम्प्रकार ज्ञान लाभ करलेनेसे

तू (भूतानि) ब्रह्मलोकसे तृण पर्य्यन्त सब भूतोंको अपने आत्मामें, फिर मुझ वासुदेवमें ओत-प्रोत देखेगा अर्थात् देव, दनुज, मनुज, गन्धर्व, किन्नर, सूर्य्य, चन्द्र, तारागण, आकाश, वायु, पृथ्वी इत्यादि जो कुछ है सबको तू अपने आत्मामें देखेगा और सम्पूर्ण विराट्को आत्मा ही जानेगा। जैसे सहस्रों मणिकायें एक सूत्रमें पिरोई रहती हैं इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी वस्तु-वस्तु आत्मरूप सूत्रमें पिरोयी हुई देखेगा। फिर बिना भेद भावके कुशाग्रके सहस्रों भाग करनेसे जितना होता है उतना भी शेष न छोडकर सबको (मयि) मुझमें देखेगा सब प्रकार सब मुझमें हैं और मैं सबोंमें हूँ।

भगवानने जो (अशेषेण) पद कहकर अपनेमें सबको दिखलाया है इसी वचनको श्रुति भी स्पष्टरूपसे कहती है—

ओ३म् एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथ्वी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च * क्षुद्र मिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चांडजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वागावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरम् सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऐतरेय० प्र० अ० ३ श्रु० ३)

---

* क्षुद्रमिश्राणीव— जल, पृथ्वी, आकाशादि पांचों तत्त्वोंमें जो छोटे-छोटे जीव हैं तिनको श्रुति मिश्राणीव कहकर पुकारती है। आजकलके अंग्रेजी पढ़नेवाले

अर्थ— यही ब्रह्म है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही सब देव है। पंचमहाभूत भी यही है अर्थात पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि ये पांचों भी यही है । (क्षुद्र) छोटे-छोटे जीव सर्प, मत्कुण (खटमल) मशक इत्यादि तथा जो आंखोंसे नहीं देखे जाते ऐसे जीव भी यही है। अन्य नाना प्रकारकी वस्तुओंका बीज अर्थात कारण भी यही है । तथा अन्नादि तिसके बीज फिर अण्डज, पिण्डज, उष्मज तथा उद्भिज, स्थावर सब यही है । फिर अश्व, गऊ, पुरुष, हस्ती जो कुछ जंगम पक्षी सब प्रज्ञा-नेत्र कहेजाते हैं । अर्थात् सबोंको लेचलनेवाला वही प्रज्ञारूप × नेत्र है । सब उसी प्रज्ञा (ब्रह्म) में प्रतिष्ठित हैं । इसलिये यह लोक भी प्रज्ञा-नेत्र ही कहाजाता है । फिर यही प्रज्ञा (ब्रह्म) सम्पूर्ण जगत्की प्रतिष्ठा अर्थात् उत्पत्ति, पालन और लयका स्थान है।

इसी कारण श्री आनन्दकन्दने " अशेषेण भूतानि " शब्दका प्रयोग किया ।

अब श्यामसुन्दर कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो प्राणी एवम् प्रकार महात्माओंसे ज्ञान प्राप्त करता है वह सबको आत्मामें देखताहुआ मुझ ब्रह्मस्वरूपमें भी देखता है यह तू निश्चय जान !

समझते हैं, कि यह बात केवल अंग्रेजी ग्रन्थोंमें ही है पर ऐसी-ऐसी अनेक बातें श्रुतियों में लिखी हुई हैं ।

× नीयते जनेनेति नेत्रम् ।

शंका—भगवान्‌ने आत्मनि और मयि दो बार कहा इसका क्या कारण ? क्या आत्मामें और उनमें कुछ भेद है ? क्या आत्मा कोई विलग तत्त्व है और वासुदेव श्रीकृष्ण कोई दूसरा है ?

समाधान—योगेश्वर भगवानने यहां आधे श्लोकमें अर्जुनको यथार्थ तत्त्व ही उपदेश करदिया। क्योंकि वह यह कह रहे हैं, कि हे अर्जुन ! एवम् प्रकार ज्ञान होनेसे तू अशेष-ब्रह्माण्डको अपने आत्मामें अर्थात् स्वरूपमें देखेगा, पश्चात् अपनेको मुझ वासुदेवमें भी देखेगा। अर्थात् सम्पूर्ण विराट्को पहले अपनेमें देखेगा फिर उस अपनेको मुझ वासुदेव भगवत् स्वरूपमें देखेगा। तात्पर्य्य यह है, कि पहले तुझको "तत्त्वमसि" महा वाक्यका बोध होगा फिर "अहम्ब्रह्मास्मि" तथा "सोहमस्मि" का यथार्थ मर्म तेरी समझमें आवेगा। फिर तो न कहीं तू रहेगा न कहीं यह सृष्टि रहेगी। सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देख पडेगा। अर्थात् तेरी दृष्टिमें सर्वत्र मैं ही मैं हो जाऊँगा और तू अपनेको भी मेरा ही रूप देखेगा।

क्योंकि हे अर्जुन ! सत् चैतन्यदेव जो मैं सो आभासरूप तथा प्रतिबिम्बरूपसे सर्वत्र इस ब्रह्माण्डमें प्रवेश किये हुआ हूँ परन्तु बिम्ब प्रतिबिम्ब दोनोंके चैतन्य-स्वरूपके विषय समता होनेसे शुद्ध चैतन्य-स्वरूप जो मैं, तिसीका प्रवेश सर्वत्र जानना। क्योंकि बिम्ब प्रतिबिम्बका जो परस्पर भेद भासता है सो दर्पणरूप उपाधिका किया हुआ है यथार्थमें नहीं। इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिसे "तत्त्वमसि" महा वाक्यके यथार्थ अर्थका तू अनुभव करने लगजावेगा।

किसी किसी टीकाकारने आत्मनि और मयि का समानाधिकरण करके अर्थ किया है अर्थात् (आत्मनि मयि) मुझ आत्मामें सबको देखेगा सो अर्थ एकदेशिक होसकता है। क्योंकि समानाधिकरण होता तो मध्यमें " अथ " शब्दके लानेकी आवश्यकता नहीं होती ॥ ३५ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन् ! आपके सदृश दूसरा कोई महानुभाव मैं कहांसे लाऊं ? जब आप ही मेरे भाग्यवश मुझको हाथ लग गये हैं, तो फिर मैं ज्ञानका प्यासा अमृतके समुद्रके तटपर आकर कहां किस खारसागरकी ओर लौटूं ? इसलिये मैं यह पूछता हूं, कि इस घोर युद्ध करनेसे जो मुझे पाप लगेंगे उन पापोंसे मुक्त करनेके लिये यह ज्ञान-यज्ञ समर्थ होगा वा नहीं ?

इतना सुन श्यामसुन्दर मुसकरातेहुए बोले—

मु०— ×अपि चेदसि पापेभ्यः सर्व्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्व्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

पदच्छेदः— चेत् (यदि) सर्व्वेभ्यः (सम्पूर्णेभ्यः) पापेभ्यः (पापकारिभ्यः) पापकृत्तमः (अतिशयेन पापकारी) अपि, असि [तथापि] सर्व्वम् (सम्पूर्णम्) वृजिनम् (पापार्णवम् । अघसागरम्) ज्ञानप्लवेन (ज्ञानपोतेन) एव (निश्चयेन) सन्तरिष्यसि (अनायासेन अतिक्रमिष्यसि) ॥ ३६ ॥

× अपि चेत् — संभाविताभ्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ ।

पदार्थः— हे अर्जुन ! (चेत्) यदि (सर्वेभ्यः) सर्व प्रकार के (पापेभ्यः) घोर पापियोंसे (अपि) भी तू (पापकृत्तमः) अधिक पाप करनेवाला पापी (असि) है तो भी (सर्वं वृजिनम्) सम्पूर्ण घोर पापके समुद्रको (ज्ञानप्लवेन) ज्ञानकी नौका द्वारा (सन्तरिष्यसि) सम्यक् प्रकारसे पार होजावेगा ॥ ३६ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि युद्धमें जो मुझे पाप लगेंगे उन पापोंसे ज्ञानयज्ञ मुझे मुक्त करसकता है वा नहीं ? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः**] हे अर्जुन ! यदि तू सब पापियोंसें अधिक पाप करनेवाला महा घोर पापी भी होवे अर्थात् सुरापान, ब्रह्महत्या इत्यादि घोर पापोंको भी करचुका हो तो भी तू [**सर्वं ज्ञान प्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि**] सम्पूर्ण पापोंके समुद्रको ज्ञान की नौका द्वारा तरजावेगा । अर्थात् ज्ञान प्राप्त होनेसे तुझे पाप नहीं पकडसकते । ज्ञानकी महिमा ऐसी ही है, कि यदि घोर आततायियोंमें भी क्यों न हो तथापि ज्ञानरूप नौका द्वारा प्राणी सब पापोंसे पार चलाजाता है ।

शंका— घोर पापी भी यदि ज्ञानकी नौका द्वारा तरजाते हैं तो क्या अच्छी बात है, कि आयुष्पर्यन्त जहां तक संभव हो घोर पापोंका आचरण करता रहे । जब मरनेका समय आवे तब गुरु-शरण जाकर, गुरुको लम्बा दण्डवत् देकर, बल-पूर्वक हाथ पांव दबाकर सब विषयोंको पूछपाछकर, ज्ञानकी नौका द्वारा तरजाया करे । ऐसा

कहनेसे तो पापियोंको पाप करनेका पूर्ण अवकाश मिला। कहावत है, कि " हांके भीम होंहि चौगुणा "।

समाधान— ज्ञान हँसी ठट्ठेकी बात नहीं है। हाटका साग नहीं है जो पैसे सेर बिकरहा है, जो ही चाहे ज्ञान मोल लेआवे। ज्ञान-तत्व प्राप्तिके लिये एक ही दिन गुरुकी टांग दबाकर लेआना होता तब तो जितने प्राणी विषयी, लम्पट, धूर्त, चतुर, चालाक थे सब ज्ञानको लेआते। पर ऐसा नहीं समझना चाहिये। ज्ञान अमूल्य रत्न है। अनेक जन्मके संस्कारोंके उदय होनेसे प्राप्तहोता है। सैकड़ों जन्मके उत्तम संस्कार जब एक संग जुटते हैं तब कोई महान् पुरुष मिलजाता है जो दयाकर ज्ञानका उपदेश करदेता है। जो प्राणी घोर विषयी और लम्पट है उसका हृदय तो पापोंसे मलीन होरहा है उसमें ऐसी प्रेरणा तो हो ही नहीं सकती जो ज्ञान प्राप्तिका संयोग लगासके। जैसे व्याघ्रके समीप जम्बुकका जाना असम्भव है ऐसे तत्त्वदर्शी महात्मा-ओंके समीप घोर पापियोंका प्रवेश असंभव है। इसी कारण श्याम-सुन्दरने चेत् और अपि दोनों अव्ययोंको इस श्लोकमें लगाया है। अर्थात् भगवान् कहते हैं, कि कदाचित् कोई पाप अर्जुनके संचितमें रहगया हो तो उसे ज्ञान अवश्य नाश करदेगा। क्योंकि ज्ञानसे संचित-कर्म ऐसे भस्म होजाते हैं जैसे रुईका ढेर अग्निसे।

यह तो शंका करनेका स्थान ही नहीं है क्योंकि यह तो सिद्धान्त होचुका है, कि प्रारब्ध भोगसे नाश होता है, संचित ज्ञानसे नाश होजाता है और क्रियमाण प्रायश्चित्तसे नाश होकर जो शेष रहजाता है फिर

संचितमें जा जुटता है । हां ! जो प्राणी निष्काम होकर क्रियमाण-कर्म करता है उसके तो फल ही उसके सम्मुख नहीं आते । फिर नाश ही क्या होगा । अब प्रतिवादीका प्रश्न यह है, कि जो प्राणी ऐसा विचार करे, कि जन्मभर पूर्णप्रकार विषय भोगोंमें रंगरलियां उडालो जब अन्तिम-श्वास समीप पहुंचेगा, दो-चार घंटे मृत्युके रहजावेंगे तब किसीको गुरु बना झट उसकी टांग पकड मुक्त होजाऊँगा । सो ऐसा नहीं होसकता । ऐसा विचारना ही मूर्खता है ।

जैसे कोई यह विचारे, कि घरमें आग लगादो, अग्निकी ज्वालाके भडकनेका आनन्द देखलो, जब सारा घर जलकर भस्म होजावेगा तब कूपसे नहर निकलवाकर पानी ले आऊंगा । यह कैसा उन्मत्त विचार है । ऐसा विचार किसी पागल, प्रमादी, उन्मादी तथा महा मूर्खका होगा । इसीलिये मरते समय ज्ञान प्राप्तिके भरोसे अपनी सारी आयुके गृहको विषयकी आग लगाकर जलादेना उचित नहीं । बुद्धि, विचार, विवेक, साहस, धीरज, बल, पराक्रम और संस्कार सबको भस्म बनाकर फिर उसपर जल डालना उचित नहीं । क्योंकि भस्मपर जल डालनेसे गृह नहीं तयार होगा । वरु सर्वत्र कीचही कीच देख पडेगा शंका मत करो !

भगवान्के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि भूलसे प्रकृतिकी प्रेरणा द्वारा विषयोंमें कुछ काल फंसकर जो परम पापी होरहा हो वह यदि किसी दिन अपने श्रेय-संस्कारके उदय होनेसे चेत जावे और कुछ काल गुरु-सेवा द्वारा ज्ञानरूप अमृतको प्राप्त करले तो उसका बेडा पार होजावेगा । क्योंकि जैसे बैठना और चलना दोनों बातें एक संग नहीं होसकतीं । जैसे अन्धकार और प्रकाश दोनों एक साथ नहीं

होसकते । इसी प्रकार शुभेच्छा और अशुभेच्छा दोनोंका एक प्राणीमें एकही बारे समावेश नहीं होसकता, जबतक विषयकी इच्छा बनी है तबतक ज्ञानकी इच्छा होहीगी नहीं और जब ज्ञानकी इच्छा होगी तो विषयकी इच्छा रहेही गी नहीं। यदि ऐसी शंका हो, कि जब-तक प्राणीके हृदयमें ज्ञानकी इच्छा परिपक्व होगी और विषयकी इच्छा एक-बारगी छूट जावेगी तबतक मध्य अवस्थामें जो उससे शुभा-शुभ कर्म उत्पन्न होंगे वे कहां जावेंगे ? तो इसका समाधान तो इस गीता-शास्त्रमें करते ही चलेआते हैं । अर्थात् निष्काम—कर्मोंके अभ्याससे शुभा-शुभ-कर्मोंके फल बाधा ही नहीं करते । क्योंकि वे शुभा-शुभ भगवच्चरणोंमें अर्पण होजाते हैं । इस विषयको भगवान् आगे अ० ९ श्लो० २७ में कहेंगे। एवम् प्रकार भगवच्चरणोंमें कर्मोंके अर्पण होजाने से उसे परम ज्ञानका लाभ होता है और पापोंसे तरजाता है शंका मतकरो!

श्री आनन्दकन्द व्रजचन्दने इस श्लोकमें केवल ज्ञानका महत्त्व उपदेश किया है । अर्जुनका मिस लेकर भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यही है, कि ज्ञान-तत्त्वको अवश्य प्राप्त करो। जिसके द्वारा संचि-तका एकबारगी नाश होजावे और वर्त्तमान जन्ममें निष्काम-कर्मोंका अभ्यास करते जाओ जिससे वह कर्म संचित बनकर पिछले संचितके साथ न जुटने पावे। अरु उन कर्मोंकेफलोंका तुम्हारे साथ स्पर्श ही न हो और प्रारब्धको भोगसे नाश करलो। जब एवम्प्रकार ज्ञानसे संचित, निस्काम-कर्मोंसे आगामी और भोगलेनेसे प्रारब्ध तीनोंका नाश होजावेगा तब तो तुम्हारा बेडा पार ही है । फिर तो कोईकर्म तुम्हारा ऐसा बच नहीं रहेगा जो तुमको पकडकर मातृ-गर्भमें ले आवे। यदि तुमको भय

हो, कि जो घोर आततायी पाप हैं वे भी क्या ज्ञानसे नाश होजावेंगे ? तो इसमें तनक भी शंका मत करो ! इसी शंकाको हटानेके लिये यह ३६ वां श्लोक इस गीतामें कथन कियागया है ॥ ३६ ॥

अब भगवान् उपर्य्युक्त दृष्टान्तसे भी उत्तम ज्ञानद्वारा पापके नष्ट होनेका दूसरा दृष्टान्त अगले श्लोकमें दिखलाते हैं—

मू०— यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

पदच्छेदः— अर्जुन ! (हे धनंजय !) यथा (येन प्रकारेण) समिद्धः (सम्यक् प्रकारेण प्रज्वलितः) अग्निः (हुताशनः) एधांसि (काष्ठानि) भस्मसात् (भस्मीभावम्) कुरुते (नयति) तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि (सकलानि प्रारब्धफलभिन्नानि पुण्यपापानि) भस्मसात (भस्मीभूतानि) कुरुते ॥ ३७ ॥

पदार्थः— (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (यथा) जैसे (समिद्धः) बलतीहुई (अग्निः) आग (एधांसि) लकडियोंको (भस्मसात्कुरुते) भस्मीभूत करदेती है (तथा) तैसेही (ज्ञानाग्निः) ज्ञानरूप अग्नि भी (सर्व्वकर्माणि) पुण्यपाप सब कर्म्मोंको (भस्मसात्कुरुते) भून भानकर निर्बीज करदेती है ॥ ३७ ॥

भावार्थः— भगवान्‌ने जो पूर्व श्लोकमें समुद्रका दृष्टान्त देकर पाप-सागरसे पार जाना दिखलाया । अब इससे भी उत्तम दृष्टान्त देकर ज्ञान-द्वारा पापका नष्ट होना दिखलाते हैं । सुनो ! [यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !] हे अर्जुन ! जैसे

जलतीहुई आग लकडियोंको भस्म करदेती है [**ज्ञानाग्निः सर्व्व-कर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा**] इसी प्रकार यह ज्ञानकी आग सब कर्मोंको भस्म करडालती है; अर्थात् ज्ञान कर्मोंको निर्बीज करदेता है । जैसे किसी अन्नका बीज जबतक भस्म नहीं हुआ है तबही तक पृथ्वीमें पडनेसे अंकुर देनेकी शक्ति रखता है पर जब वह भस्म होजाता है, तब उसमें फिर अँकुरनेकी शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार कर्मोंके बीज भी भस्म होजानेसे आगे फिर किसी शरीरके धारण करवानेकी शक्ति नहीं रखते ।

शंका— ज्ञानसे तो प्रारब्धका नाश नहीं होता। फिर भगवान्ने (सर्व्वकर्म्माणि) अर्थात् सब कर्मोंका नाश होना क्यों कहा ? यदि प्रारब्धका भी नाश ज्ञानसे मानाजावे तो प्रारब्धके साथ-साथ ज्ञानीके शरीरका भी तो नाश होजावेगा। क्योंकि शरीरकी स्थिति तबही तक रहती है जबतक प्रारब्धका भोग शेष रहता है । भोगके समाप्त हुए शरीरकी भी समाप्ति होजाती है। तहां व्यासदेव अपने ब्रह्मसूत्रमें कहते हैं, कि "**भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते**" (उ० मी० अ० ४ पा० १ सू० १६) जिसका भाष्य शंकर भगवान् यों करते हैं, कि "**अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात् क्षय उक्तः । इतरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते**"

अर्थ— जिस पुण्य-पापने फलका आरम्भ नहीं किया ऐसे जो संचित और आगामी, तिनका विद्यासे अर्थात् ज्ञानकी शक्तिसे क्षय होजाता है। पर प्रारब्धको तो जिसने फलका आरंभ किया है, ज्ञानी भोग ही द्वारा समाप्त कर ब्रह्मको प्राप्त होजाता है। इन वचनोंसे सिद्ध

होता है, कि प्रारब्धका नाश भोगसे ही होता है पर ज्ञानसे नहीं। फिर भगवान्का इस श्लोकमें "सर्व्वकर्म्माणि" कहना शास्त्रवचनोंसे विरुद्ध होता है ऐसा क्यों ?

समाधान— यहां "**सर्वकर्माणि**" कहनेमें भगवतका कुछ विशेष तात्पर्य है। सो यहां स्पष्ट कर दिखलायाजाता है।

कर्मोंके तीन भेद हैं— संचित, प्रारब्ध और आगामी। इस जीवने अनादि-कालसे अनेक जन्मोंमें जो पाप और पुण्य किये हैं तिनके फल जो एकठौर संचित हैं अर्थात् इकट्ठे हैं उन्हींके समूहोंको संचित कहते हैं सो अनगिनत हैं। इसी संचितमेंसे शुभाशुभ-कर्मों के फलोंका जितना भाग उदय होकर अपने संस्कारानुसार शरीर तयार कर भोगनेके लिये जीवके सन्मुख आता है उसे **भाग्य वा प्रारब्ध** कहते हैं। यह प्रारब्ध शरीरके साथ-साथ उदय होता है। सो शरीर प्रारब्धके भोगने तक वर्त्तमान रहता है। फिर एक शरीरके नाश होते ही उसी संचितसे दूसरा भाग निकल कर झट सामने आखडा होता है और तदनुसार ही दूसरा शरीर तयार करता है। **मुख्य तात्पर्य** यह है, कि संचित ही मेंसे **प्रारब्ध** निकलता आता है। **मोटा-मोटी** यों समझना चाहिये, कि जैसे किसी सेठके भंडारमें करोडों मन नाजका ढेर है उसमेंसे जब उसे भूख लगी तो भोजनके लिये सेर दो सेर निकाल लिया। इसी प्रकार शरीरसे भोगनेके लिये संचितके भण्डारसे प्रारब्ध निकला करता है। यदि यह कहो, कि संचितसे प्रारब्ध निकलता जाता है तो किसी न किसी दिन यह संचित प्रारब्ध होते-होते आप ही विनश जावेगा। संचितके नाशके लिये ज्ञानकी आवश्यकता

क्यों ? तहां उत्तर यह है, कि संचित प्रारब्ध होताहुआ तब ही समाप्त होवे यदि प्राणी प्रारब्ध भोगते समय चुपचाप बैठा रहे कुछ न करे। पर ऐसा हो ही नहीं सकता पहले ही भगवान् कहआये हैं, कि (**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः**) प्रकृति अवश्य अपने गुणों द्वारा प्राणीसे कुछ न कुछ मन्द वा श्रेष्ठ कर्म करवाती ही रहती है इसलिये जबतक प्राणी एक प्रारब्धको भोगता है तब तक उस शरीरसे जो पाप पुण्य सम्पादन होते रहते हैं तिनका नाम **क्रियमाण** वा आगामी है। सो क्रियमाण आगे संचितमें जुटते जाते हैं और संचितकी वृद्धि होतीजाती है। इसलिये साधारण प्राणीके संचितका नाश कभी नहीं होसकता। क्योंकि एक ओरसे एक भाग निकलताहुआ प्रारब्ध होकर भोगताजाता है और दूसरी ओरसे **क्रियमाण** कर्म उसी संचितमें मिलता जाता है। जैसे किसी सरोवर से एक नाली होकर कुछ जल बाहर निकलरहा हो और दूसरी नाली होकर उसमें जल भररहा हो तो कभी सम्भव नहीं है, कि उस तालावका जल समाप्त होसके। इसलिये साधारण प्राणी कर्मके फन्दे पडाहुआ बारम्बार जन्म-मरणके फन्देमें पडा रहता है। अब इन सब कर्मोंका नाश ज्ञानसे कैसे होता है ? सो सुनो।

ज्ञान होते ही कर्मका बीज नाश होने लगजाता है। क्योंकि ज्ञानी जो कुछ करता है सबको ब्रह्मरूप जानता है और उन कर्मोंके फलोंकी इच्छा नहीं रखता। आसक्तिरहित होकर लोकसंग्रहार्थ वा शरीरयात्रा—निर्बाहार्थ कर्म करता है। ज्ञानकी दृष्टिमें ऐसा ही भान होता है, कि मैं कुछ करता ही नहीं। जब एवम् प्रकार ज्ञानी कर्मोंका फल नहीं

चाहता तो उसके सब कर्म भगवत्में लय होजाते हैं। इसको पूर्ण-प्रकार सिद्ध करआये हैं, कि फलके त्यागदेनेसे तथा कर्तृत्वाभिमान छोड सबको ब्रह्म-रूप समझनेसे कर्मोंके बीज नाश होजाते हैं (देखो अ० ४ श्लो० २४) इसी कारण आगामी कर्मोंसे ज्ञानीको श्लेश अर्थात् स्पर्श भी नहीं होता।

एवम् प्रकार जब जल देनेवाली नालीका मुख रुकगया अर्थात् क्रियमाणके निष्फल होनेसे संचितकी वृद्धि रुकगई तो प्रारब्धका बनना भी अवश्य रुकजावेगा। यदि यह कहो, कि आगामीके नाश होनेसे संचितका नाश तब हो जब संचितमें जितने कर्म्म हैं सब प्रारब्ध होकर भोगे जावें। सो इनके भोगनेके लिये असंख्य जन्म होने-चाहियें तब तो ज्ञानीको भी अज्ञानियोंके समान सम्पूर्ण संचित भोगने के लिये बारम्बार शरीर धारण करना पडेगा।

अज्ञानी फलाकांक्षी होनेके कारण जन्म लेता ही जाता है, पर ज्ञानीको भी तो पिछले संचितकी समाप्तिके लिये जन्म लेना पडेगा। इसी कारण श्यामसुन्दर कहते हैं, कि ज्ञान होनेहीसे सर्व कर्म भस्म होजाते हैं। कुछ भी नहीं भोगना पडता। कारण यह है, कि ज्ञानी ज्ञान लाभ करते ही भगवत्-स्वरूपमें मग्न हो ऐसा अकथनीय सुख प्राप्त करता है, कि फिर उसे इन्द्र, वरुण, कुवेर, बृहस्पति, प्रजापति इत्यादिकी पदवी भी तृणके समान जानपडती है।

अब विचारने योग्य है, कि जिसने जीवन्मुक्ति प्राप्त की है वह शरीर छोडनेपर संचितके बन्धनमें कैसे आसक्ता है ? जिस सेठने

अपना भण्डार ही त्याग दिया संजीवनी मूरि खाकर भूखप्याससे रहित होगया उसे किसी भण्डारकी क्या आवश्यकता रही? अथवा जो सिंह की शरण जाबैठा वहां जंबुक कैसे जासकता है ? इसी प्रकार ज्ञानी-का संचित निर्मूल होजाता है । जब शरीरके बननेका कारण जो संचित वही नष्ट होगया तो फिर उसमेंसे कोई भाग प्रारब्ध बनकर कैसे आसकता है? एवम् प्रकार आगामीका अश्लेश (स्पर्श न होनेसे) अश्लेश और संचितका नाश हो ही जाता है । इस विषयमें व्यासदेवका ब्रह्मसूत्र सुनो!

" **तदधिगम उत्तरपूर्वार्द्धयोरश्लेशविनाशौ तद्व्यपदेशात्** "

(ब्रह्मसूत्र अध्या० ४ पाद० १ सू० १३)

अर्थ— आत्मसाक्षात्कार होते ही विद्वान्के पूर्व-संचित-कर्मों का नाश होजाता है और उत्तर किये हुए अर्थात् इस जन्ममें किये-हुए कर्मोंका स्पर्श होता ही नहीं क्योंकि उसका कर्तृत्वाभिमान नष्ट होजाता है ।

अब रहा प्रारब्ध सो साधारणको तो शरीर वर्त्तमान रहने तक पूर्णप्रकार दुःखी सुखी होकर भोगना ही पडेगा । पर ज्ञानीके प्रारब्धका नाश इस प्रकार समझाजाता है, कि ज्ञानीके सम्मुख प्रारब्ध तो आतेही हैं पर वह दुःख सुख दोनोंमें सम और शान्त रहता है । दुखी सुखी नहीं होता । सो श्यामसुदर बार-बार इस गीताशास्त्रमें कहते चले आरहे हैं, कि "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" । अर्थात् दुःख आनेपर जो उद्विग्न नहीं होता, घबराता नहीं, व्याकुल नहीं होता, चिल्लाता-कराहता नहीं तथा सुख आनेपर जो प्रसन्न नहीं

होता और यह नहीं चाहता, कि यह मेरा सुख वर्त्तमान रहे वही ज्ञानी है ।

यहां एक दृष्टान्त देकर ज्ञानीके तीनों प्रकारके कर्मोंकी समता अर्थात् तीनोंका नष्ट होना दिखलाया जाता है—

एक नगरमें एकने देखे तीन तालाव दो सूखेसाखे एकमें पानी ही नहीं। जिसमें पानी नहीं तिसमें तैरे तीन जवान । दो ऊबडूबके मरगये एक मिलता ही नहीं। जो मिलता ही नहीं उसने बसाये तीन ग्राम। दो उजड-पुजड गये एक वसता ही नहीं। जो बसता ही नहीं उसमें बसाये तीन कुलाल। दो लंगडे लूले एकके हाथ ही नहीं । जिसके हाथ नहीं उसने बनाई तीन हांडी। दो फूटी फाटी एकमें पेंदी ही नहीं। जिसमें पेंदी नहीं उसमें पकाये तीन चावल। दो उछल कूद कर रहगये एक पकता ही नहीं । जो पकता ही नहीं उसने बुलाये तीन पाहुने। दो आ आ कर लौटगये एक आता ही नहीं।

मुख्य तात्पर्य इस कहानीसे यही निकलता है, कि केवल वाचा-रम्भण विकारसे इतनी बडी कहानी बनगई पर इसमें सार कुछ नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानीके तीनों प्रकारके कर्मोंमें कुछ सार नहीं। वाचा-रम्भण-विकार मात्र ही है।

अर्थात् बुद्धिमानोंके समझानेके लिये ज्ञानसे संचित,निष्कामकर्मोंसे आगा-मी का नाश और भोगसे प्रारब्धका नाश मानाजाता है। पर यथार्थ पूछोतो ज्ञा-नीके लिये सब समान हैं। इसलिये भगवान्‌का इस श्लोकमें सर्वकर्म्माणि

यह कहना, कि ज्ञानसे सर्व प्रकारके कर्म भस्म होजाते हैं उचित ही है शंका मत करो ॥ ३७ ॥

अब भगवान इस ज्ञानकी स्तुति अगले
श्लोकमें करते हैं—

मू०— न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
॥ ३८ ॥

पदच्छेदः— इह (वेदे लोकव्यवहारे वा) ज्ञानेन, सदृशम् (तुल्यम्) पवित्रम् (पावनम् । शुद्धिकरम् । पापनाशनम्) न हि (नैव) विद्यते (वर्त्तते । ज्ञायते) तत् (पूर्वोक्तज्ञानम्) कालेन (चिरपर्यन्तसाध्यत्वेन) योगसंसिद्धः (निष्कामकर्मयोगेन समाधियोगेन वा योग्यतामापन्नः पुरुषः) स्वयं, आत्मनि (अन्तःकरणे) विन्दति (लभते) ॥ ३८ ॥

पदार्थः— (इह) वेदमें अथवा लोकव्यवहारमें (ज्ञानेन सदृशम्) ज्ञानके समान (पवित्रम्) पवित्र करनेवाला अन्य कुछ भी (न हि) नहीं (विद्यते) देखनेमें आता है (तत्) तिस पवित्र आत्माके ज्ञानको (कालेन योगसंसिद्धः) बहुत काल तक यत्न पूर्वक निष्काम कर्म-योग साधन कर सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष (स्वयम्) आपसे आप (आत्मनि) अपने अन्तःकरणमें (विन्दति) लाभ करता है ॥ ३८ ॥

भावार्थः— अब योगेश्वर भगवान अर्जुनके प्रति ज्ञानकी स्तुति करतेहुए कहते हैं, कि [**न हि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते**] ज्ञानके समान परम पवित्र कोई दूसरा तत्त्व वेदमें अथवा इस संसारमें नहीं देखाजाता है क्योंकि यह ज्ञान सब कर्मों को भस्म कर भवसागरसे पार उतार भगवत्-स्वरूपमें मिलादेता है। [**तत्र स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति**] हे अर्जुन! तिस ज्ञानको कर्म-योगकी सिद्धि प्राप्त किये हुआ प्राणी अपने अन्तःकरणमें आपसे आप लाभ करता है।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि तिस ज्ञानकी प्राप्ति उसीको होती है जो बहुत काल तक निष्काम-कर्मयोगको यत्न पूर्वक सम्पादन करताहुआ कर्मकी सिद्धि प्राप्त कर अपने अन्तःकरणको शुद्ध करलेता है। ऐसे निष्काम-कर्म द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि वालेको फिर तिस आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये किसी दूसरे प्रकार के यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होती। वह तो आपसे आप (आत्मनि विन्दति) अपने आत्मामें अर्थात् अपने अन्तःकरणमें तिस ज्ञानको प्राप्त करलेता है। क्योंकि सर्व शास्त्रोंके तथा महानुभावोंके उपदेशोंसे यही सिद्धान्त होचुका है, कि जितने प्रकारके यज्ञादि कर्म हैं सब ज्ञान ही को प्राप्त कर भगवत्-स्वरूपको लाभ करनेके निमित्त हैं।

तहां उत्तरमीमांसाका प्रमाण है— व्यासदेव कहते हैं, कि "अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्" (ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद १ सूत्र १६)

अग्निहोत्रादि जो कर्म हैं वे केवल ज्ञानके कार्य निमित्त हैं। क्योंकि ज्ञान ही सब रत्न है जिससे परमात्माका साक्षात्कार होता है अर्थात् भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

प्रमाण श्रुतिः— "एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानां संभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा" (बृ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० २२ में देखो)।

अर्थ— यह जो आत्मा है सोई भूतपति है सब भूतोंका पालन करनेवाला है, यही सेतु है और यही भूलोकसे लेकर सत्यलोक पर्यन्त तक आरोहण करजानेके लिये बहुत बडा सेतु विधरण है अर्थात् लोक-लोकान्तर होतेहुए ब्रह्म-लोक तक पहुंजानेका परम दृढ-सेतु कारक है। इसलिये (तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति) ब्रह्मविद् वेदके मंत्रोंद्वारा यज्ञ, दान और तप इत्यादिका साधन कर इसी ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं अर्थात् अन्य कामनाओंको त्याग इसीको चाहते हैं।

शंका— गीताशास्त्रके प्रथम ६ अध्यायोंमें कर्म, दूसरे ६ अध्यायोंमें उपासना और तीसरे ६ अध्यायोंमें ज्ञानका वर्णन कियागया है। फिर क्या कारण है, कि भगवान् स्वयम् इस चौथे अध्यायमें ज्ञानका वर्णन कर रहे हैं ?

समाधान— जैसे कोई प्राणी अपने घरसे श्री बदरिकाश्रमकी यात्रामें चलते-चलते थक कर किसी उत्तरणस्थान (सराय) में टिकजाता

है और घोर निद्रामें डूब सोजाता है तब सवेरे प्रातःकाल होतेही उसका साथी पुकारकर कहता है, कि अजी ! यहां सराय ही में रहोगे अथवा चलोगे भी ? देखो ! अभी आश्रम बहुत दूर है । महीनों चलना है, इसलिये शीघ्रता करो ! उठो ! चलो ! इस दृष्टान्तसे तात्पर्य्य यह है, कि मार्ग चलने वालेको मार्गकी थकावटसे अपना मुख्य लक्ष्य ध्यान से न जातारहे इसलिये उसके समीप कभी-कभी मार्गमें उस अपने लक्ष्यका महत्त्व वर्णन करते जाना चाहिये । जैसे तीर्थके पण्डे यात्रियोंके सम्मुख उस तीर्थका महत्त्व कहते चलेजाते हैं, तब उस यात्रीको चाहे कितना भी थक गया हो आगे बढनेकी श्रद्धा बनी रहती है । अपने स्थानपर पहुंचनेकेलिये शीघ्रता करता है ।

इसी प्रकार श्यामसुन्दर कर्म्मकाण्डका कथन करतेहुए कभी-कभी मध्यमें अर्जुनके प्रति ज्ञानका महत्त्व कहतेजाते हैं और अर्जुनको निष्कामकर्म करनेकी शिक्षा देते जाते हैं।

विचारकर देखो १२ प्रकारके यज्ञोंका वर्णन इसी अध्यायमें करचुके हैं । उन यज्ञोंको कर्मज कहा है । आत्मज नहीं कहा । इसी कारण इस आधे श्लोकमें ज्ञानको परम पवित्र कहकर आधेमें उसकी प्राप्तिका उपाय जो कर्म-योग उसे ही वर्णन करते हैं और कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यह जो परम पवित्र ज्ञान सो उसीको प्राप्त होता है जो योग-संसिद्ध पुरुष है अर्थात् कर्मयोग द्वारा इस ज्ञानको पाता है । इतना कहनेसे कर्महीकी स्तुति हुई । उपाय कहतेहुए उपेयकी प्राप्ति वर्णन करदेना आवश्यक है इसलिये उपाय जो कर्मकाण्ड तिसे इस अध्या-

थमें वर्णन करते हुए उपेय जो ज्ञान तिसका लक्ष्य करारहे हैं । यहां शंका मतकरो ॥ ३८ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह वर्णन करते हैं, कि इस ज्ञानको किस प्रकारका प्राणी लाभ करता है और तिससे उसकी कैसी गति होती है—

मू०— श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
॥ ३९ ॥

पदच्छेदः— श्रद्धावान् (गुरूपदिष्टवाक्येष्वास्तिक्यबुद्धिमान। गुरुशास्त्रादौ विश्वासो विद्यते यस्य सः) तत्परः (गुरूपासनादावभियुक्तः तदेव ज्ञानमेव परं श्रेष्ठं पुरुषार्थं यस्य सः) संयतेन्द्रियः (विषयेभ्यो निवर्त्तितानि प्राङ्मुखानि वा इन्द्रियाणि यस्य सः) ज्ञानम्, लभते (प्राप्नोति) [तत] ज्ञानम् लब्ध्वा (प्राप्य) अचिरेण (क्षिप्रमेव । ज्ञानव्यवधानेन) पराम (मोक्षाख्याम् चरमाम्) शान्तिम् (उपरतिम कैवल्यं वा । अविद्याकार्य्यनिवृत्तिरूपामवस्थाम) अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ३९ ॥

पदार्थः— (श्रद्धावान) गुरुके उपदेश कियेहुए वाक्योंमें तथा वेदशास्त्रोंमें जिसको दृढ विश्वास है तथा (तत्परः) गुरुकी सेवा द्वारा ज्ञानकी प्राप्तिमें जो अहर्निश तत्पर है तथा (संयतेन्द्रियः) विषयोंसे दमन कररखा है अपनी इन्द्रियोंको जिसने ऐसा प्राणी (ज्ञानं लभते)

ज्ञानको प्राप्त करता है और (ज्ञानम्) तिस ज्ञानको (लब्ध्वा) लाभकरके (अचिरेण) बहुतही शीघ्र (परां शान्तिम्) परम निवृत्ति अर्थात् कैवल्य परम पदको (अधिगच्छति) प्राप्त होजाता है ॥ ३९ ॥

भावार्थः— श्री वृन्दावनबिहारी भक्तहितकारीने जो ज्ञानके लाभका अत्यन्त सरल उपाय गुरु अभिवादन, सेवा इत्यादि द्वारा इस अध्यायके श्लोक ३४ में बताया है, उसी उपायको फिर इस श्लोक ३९ में दृढ करते हैं । पुनर्वार लौटकर उसी विषयको कहनेसे भगवानका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि दण्डवत प्रणाम तो मायावी, कपटी और छली, भी करसकता है इसलिये कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः**] जो प्राणी श्रद्धावान् है अर्थात् गुरुमहाराजकी शरण प्राप्त होकर जो कुछ शिक्षा पायी है उसमें पूर्ण आस्तिक्य बुद्धि रखता है, तर्क, कुतर्क, वितण्डावाद इत्यादिसे उनके वाक्योंका खण्डन नहीं करता है और ऐसा जानता है, कि जो कुछ श्री दयालुने उपदेश किया है वह साङ्गोपाङ्ग वेदशास्त्रके अनुकूल है इसलिये सदा कर्तव्य है वही प्राणी ज्ञान प्राप्त करनेका अधिकारी होता है । किन्तु ऐसा भी न हो, कि श्रद्धावान् तो हो पर आलसी हो मारे आलस्यके वेदवचनोंका पालन हीन करसके इसलिये भगवान् कहते हैं, कि " तत्परः " वह श्रद्धावान् तत्पर भी होनाचाहिये अर्थात् गुरुवेद-वचनोंके पालनमें तथा शीघ्र ज्ञान प्राप्त करनेमें आलस्य-रहित होकर तत्पर होना चाहिये । अब कहते हैं, कि यदि शिष्य श्रद्धावान् भी हो और निरालस्य होकर ज्ञान प्राप्तिमें तत्पर भी

रहे पर यदि विषयी हो, कामी हो और लोलुप हो तो उसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होसकती। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि " संयतेन्द्रियः " विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंका दमन करनेवाला भी हो अर्थात् परस्त्रीकी ओर आंख उठाकर न देखे, परायेके स्वर्णको मिट्टीके समान जाने और राग-द्वेष-रहित रहे वही गुरु-कृपाका अधिकारी होकर ज्ञानका अधिकारी होता है।

प्रश्न= शिष्य पहलेहीसे संयतेन्द्रिय होकर गुरु-शरण आवे ? अथवा गुरु-शरण आनेके पश्चात् उनकी कृपा द्वारा धीरे-धीरे इन्द्रियों का दमन करे ?

उत्तर= दोनों प्रकारके अधिकारी गुरु-शरण आसकते हैं। जिसने पहलेसे इन्द्रिय-दमनका अभ्यास नहीं किया वह मन्द अधिकारी मध्यम श्रेणीका कहाजावेगा। और जिसने इन्द्रियोंके दमनका अभ्यास पहलेहीसे कररक्खा है वह उत्तम श्रेणीका अधिकारी कहा जावेगा। मध्यम अधिकारीको ज्ञान प्राप्त होनेमें कुछ विलम्ब होगा और उत्तम अधिकारीको शीघ्र ज्ञानकी प्राप्ति होगी। जैसे उज्ज्वल वस्त्रपर किसी प्रकारका रंग चढनेमें विलम्ब नहीं होता ऐसे उत्तम अधिकारीके अन्तःकरण पर शीघ्र ज्ञानका रंग चढजाता है पर मध्यम अधिकारीको विलम्ब होता है। क्योंकि जो वस्त्र मलीन है प्रथम उसके धोनेकी आवश्यकता है इसलिये उसके धोनेमें कुछ विलम्ब लगता है। जब धुलकर स्वच्छ होजाता है तब रंग चढानेके योग्य होता है इसी कारण भगवान् पूर्व श्लोकमें कहचुके हैं, कि " कालेनात्मनि विन्दति " अर्थात् कुछ

कालतक निष्काम-कर्म करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होता है तब प्राणी आत्म-ज्ञानको लाभ करता है । जो हो विलम्ब करके हो वा शीघ्र हो पर उसे ज्ञान लाभ होना चाहिये । जब ज्ञान लाभ होजाता है तब भगवान् कहते हैं, कि [**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति**] इस ज्ञानको लाभ करते ही प्राणी बहुत ही शीघ्र परम शान्ति जो कैवल्य परम पद तिसे लाभ करता है । जैसे अँधेले घरमें दीपक बलते ही प्रकाश होजाता है, वस्तु-तस्तु को देखने लगजाते हैं । इसी प्रकार ज्ञानका दीपक हृदयमें बलते ही तीनों लोकोंकी वस्तु-तस्तु दीखने लगजाती हैं, आत्माका साक्षात्कार होजाता है, सर्वत्र, सब ठौर आत्मा ही आत्मा व्यापक दीखने लगजाते हैं, और अन्तःकरण ब्रह्माकार होजाता है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि भगवान्ने ज्ञान प्राप्तिके छौ उपाय कहे उनमें तीन **वाह्यउपाय** हैं और तीन **आन्तरउपाय** हैं । **प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा** जो श्लो० ३४में कहचुके वे वाह्य-उपाय हैं और **श्रद्धा, तत्परता और जितेन्द्रियता** जो इस श्लोकमें कहरहे हैं वे आन्तर-उपाय हैं । जो प्राणी इन छवों प्रकारके उपायोंमें तत्पर रहेगा वही ज्ञानके लाभ करनेका अधिकारी है । उसे ही ज्ञान लाभ होते ही परम पद अर्थात् भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति होगी ॥ ३६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि भगवन् ! जिस प्राणीमें उक्त छवों उपायोंमें कोई भी उपाय न हो और महानुभावोंके वचनोंमें संशय रखता है उसकी क्या दुर्दशा होगी ?

जगद्गुरु बोले सुन—

मू०— अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥
॥ ४० ॥

पदच्छेदः— अज्ञः (गुरुमुखादनधीतशास्त्रत्वेनात्मज्ञानशून्यः) च (तथा) अश्रद्दधानः (गुरोर्वाक्यार्थे नास्तिकत्वेन श्रद्धारहितः) च (तथा) संशयात्मा (ममेदं सिद्धेद्वा न वेति संशयाक्रान्तचित्तः) विनश्यति (भ्रष्टो भवति) संशयात्मनः (वेदवाक्येऽपि संशयाक्रान्तचित्तस्य) न (न हि) अयम् लोकः (मनुष्यलोकः) न (नैव) परः (स्वर्गः) न (नैव) सुखम् (जीवन्मुक्तिसुखम) अस्ति (विद्यते) ॥ ४० ॥

पदार्थः— (अज्ञः) जो मनुष्य गुरुद्वारा शिक्षा न पानेके कारण आत्मज्ञानसे शून्य है अथवा जो विद्याहीन है तथा (अश्रद्धानः) नास्तिकबुद्धि होनेके कारण गुरु और वेदवचनोंमें विश्वास रहित हो कुछ भी श्रद्धा नहीं रखता तथा जो संशयात्मा है अर्थात् ऐसा विचारता रहता है, कि गुरूने जो मार्ग बताया है उस मार्गपर चलनेसे सिद्धि होगी वा न होगी । वह प्राणी (विनश्यति) भ्रष्ट होजाता है (संशयात्मनः) ऐसे संशयसे भरेहुऐ मनुष्यका नतो (अयम् लोकः) यह मनुष्यलोक (न परः) न परलोक (च) और (न सुखम्) न जीवन्मुक्ति इत्यादि किसी प्रकारका सुख (अस्ति) लाभ होता है ॥ ४० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्नकिया है, कि जो प्राणी पूर्व कथन कियेहुए ज्ञानप्राप्तिके छओं उपायोंसे शून्य है उसकी क्या दशा होती है तिसके उत्तरमें श्यामसुन्दर कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति**] जो प्राणी अज्ञ है जिसने न तो विद्या अध्ययन की न किसी प्रकारके सत्संगमें कभी प्रवेश किया, केवल संसारी व्यवहारोंमें मग्न रहकर शिश्नोदर-परायण रहा । अर्थात् पशुओंके समान इन्द्रियोंके स्वादमें मग्न रहा और पेट भरनेकी चिन्तामें अपनी अमूल्य आयु नष्ट करता रहा, सदा अनात्मामें जिसकी प्रीति बनी रही ऐसे प्राणीको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होसकती ।

यहां इस श्लोकमें दो चकार देकर भगवान यह दिखलाते हैं, कि अज्ञानी तो किसी प्रकार सुधर भी सकता है पर तिस अज्ञानताके साथ श्रद्धारहित भी हो अर्थात् गुरु-वाक्यमें विश्वास न रखता हो नास्तिकोंके समान वेद, पुराण, शास्त्र इत्यादिको कुछ भी नहीं मानता हो तथा संशयात्मा भी हो अर्थात् ईश्वरके ही होनेमें जिसको विश्वास न हो तो ऐसे घोर दुष्टात्माका सुधरना कठिन है । ऐसे को ज्ञानकी प्राप्ति शीघ्र हो ही नहीं सकती । क्योंकि " **हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना-भवसागरे** " हरिसे जो त्याग-दियेगये हैं वे भवसागरमें ही मग्नरहते हैं । इसलिये आत्मज्ञान तथा भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिकी इच्छा ही उनको नहीं होती । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ऐसा प्राणी " विनश्यति " विकराल कालके गालमें पडकर नष्ट होजाता है ।

प्रश्न— ऐसे अज्ञानी, श्रद्धारहित और संशयात्मा जितने हैं इनमें क्या किसीको भी ज्ञानका लाभ नहीं होसकता ?

उत्तर— अज्ञ-प्राणी शिक्षा पाकर सुधरसकता है तथा श्रद्धारहित को भी धीरे-धीरे घुणाक्षर-न्यायसे कभी श्रद्धा उत्पन्न होसकती है । क्योंकि श्रद्धारहित प्राणियोंके हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न करानेहीके तात्पर्य्यसे महानुभावोंने अनेक मार्ग निकाले हैं । जैसे मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्त्तिके सामने समय-समयपर नृत्य, गान इत्यादि अथवा रामलीलाका करना । यदि यह कहो, कि नृत्य, गान इत्यादि तो विषय हैं । विषके तुल्य प्राणीको नाश करनेवाले हैं । इनके द्वारा वे कैसे श्रद्धावान् हो-सकते हैं ? तो उत्तर यह है, कि जैसे संखिया एक विष है जो ग्रहण करते ही प्राण नाश करदेता है, पर वैद्योंने जब यह देखा, कि संखिया प्राणीके रुधिरमें शीघ्र दौडजाता है, यहां तक कि सप्तधातुओंको वेध कर मज्जा और वीर्य्य तक पहुंच जाता है, तब उस संखियाके साथ रोगियोंकी औषधियोंको मिलाकर रोगियोंको देना आरंभ किया जिससे वह औषधि संखियाके साथ-साथ शीघ्र रुधिरमें प्रवेश कर रोगीको रोग से मुक्त करे। इसी प्रकार श्रोत्रिय तत्त्वदर्शी माहात्माओंने जब विचा-रते-विचारते यह अनुभव करलिया, कि इन दिनों विषय रूप संखिया प्राणियोंके रुधिरमें शीघ्र प्रवेश करजाता है तब हरिनाम रूप चूर्णको इस राग, तान इत्यादि विषय रूप संखियाके साथ मिलाकर देना आरं-भकिया जिससे उनके रोम, चर्म्म इत्यादि सप्तधातुओंमें भगवत्-प्रेमकी श्रद्धा फैल जावे। जैसे कोई विषयी प्राणी किसी मन्दिरमें उत्तम गवैयाका केवल गान सुननेकी अभिलाषासे गया तहां गानेवालेने सोहनी राग-

नीके साथ भगवत्की मोहनी मूर्ति मिलाकर तान छेडा तो उस विषयी के हृदयमें सोहनी रागनीके साथ भगवत्की मोहनी मूर्तिकी प्रीति भी उत्पन्न होगई । भक्तमाल ग्रन्थ देखनेसे ज्ञात होगा, कि इस राग तान सुननेकी इच्छासे मन्दिरोंमें रासलीला और रामलीला इत्यादि देखनेसे बहुतेरे विषयी-पुरुष हरिभक्त होगये हैं । उसी भक्तमालमें मीरमाधवका वृत्तान्त देखो ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि माहानुभाव तत्त्वदर्शी अज्ञोंको भी ज्ञानी बना सकते हैं और अश्रद्धावानोंको भी श्रद्धा दिला सकते हैं, पर " संशयात्मा " का सुधारना कठिनसे-कठिन है । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि जिस प्राणीके मनमें शंका भरी हुई है अर्थात् जो "संशयात्मा" है ऐसा प्राणी अवश्य ही नाश होजाता है । क्योंकि संशयकी कोई औषधि नहीं है, संशय महा घोर पाप है । इसलिये शंकर भगवान् अपने भाष्यमें कहते हैं, कि " **संशयात्मा तु पापिष्ठः सर्वेषाम्** " सबोंसे संशयात्मा पापिष्ठतर है । क्यों कि जबतक संशय बना रहेगा तबतक अपने स्वरूपका भी बोध नहीं होगा । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [**नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः**] संशयात्माके लिये न तो यह लोक है न परलोक है और न उसे किसी प्रकारका कहीं सुख है । जब दोनों लोक भ्रष्ट होगये तो सुख कहीं नहीं मिलसकता है । अथवा यों कहो, कि सुखमें भी उसे संशय बना रहता है । इसलिये कभी-कभी सुख-प्राप्तिके लिये अपना धर्म छोड दूसरे धर्ममें जाता है पर वहां भी उसे सुख नहीं प्राप्त होता । फिर तो इस मतसे उस मतमें मारा फिरता है । इसलिये संशयको

परित्याग करना चाहिये । श्रुतियोंने भी इस संशयको आत्मज्ञानका प्रतिबन्धक कहा है। क्यों कि इस संशयका मुख्य कारण अविद्या है जो विद्याको अर्थात् ज्ञानको समीप नहीं आनेदेती । इसलिये इस अविद्याकी निवृत्तिका यत्न करना चाहिये जिससे संशय न उत्पन्न होनेपावे। प्रमाण श्रु०— " **संशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्य निवृत्तस्तन्नित्यबोधस्तत्स्वमेवावस्थितिस्तं शान्तमचलमद्वयानन्द विज्ञानघन एवास्मि** " (परमहंसोपनिषद् श्रु० २ में देखो)

अर्थ— संशय, विपरीत और मिथ्याज्ञानका हेतु जो अविद्या है तिससे नित्य निवृत्ति होजाना " नित्यबोध " कहलाता है । तहां स्वयम् अपनी स्थिति कहीजाती है । सो ही अवस्था परमशान्त अवस्था है सो अचल है । तब ही मनुष्यको यह बोध होता है, कि मैं अद्वितीय आनन्द-स्वरूप तथा विज्ञानका घन हूं । मुझे किसीका भी भय नहीं है यही ज्ञान है ।

प्रश्न— संशय, विपरीत और मिथ्याज्ञान ये तीनों एक हीहैं अथवा इनमें कुछ अन्तर है ?

उत्तर— इनमें स्वल्प अन्तर है सो सुनो !

१. **संशय**— " **कोटिद्वयावलम्बी प्रत्ययः संशयः** " " **यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति** " संशय उसे कहते हैं— जिस समय दो कोटियोंके मध्य अपने बोधका अवलम्बन हो । जैसे अँधेलेमें एक ठूँठे वृक्षको देख यह भ्रम होता है, कि यह ठूंठ है वा मनुष्य है । इसी अवस्थाको संशय कहते हैं ।

२. विपरीत— "विपरीतमतस्मिंस्तद्बुद्धिर्यथा शुक्तिकादौ रजतज्ञानम्" विपरीत उसे कहते हैं, कि जो जैसा न हो तिसमें तैसेका बोध होना जैसे सीपीमें चांदीका बोध होना।

३. *मिथ्याज्ञान— "सदसदुभयानुभयादिप्रकारैरनिर्वाच्यं तच्चाज्ञानं ज्ञाननिवर्त्यं चेति मिथ्याज्ञानम् ॥" अर्थात् जो सत्य वा असत्य दोनों अथवा एक प्रकारसे भी कहने योग्य नहीं। अर्थात् किसी प्रकारसे कहा न जावे, जिसके कहनेके निमित्त कोई वचन ही नहीं, दोनों प्रकारसे अनिर्वचनीय है तिसी अज्ञानताकी अवस्थाको मिथ्याज्ञान कहते हैं।

इसलिये इन तीनोंमें अत्यन्त स्वल्प अन्तर है। जब प्राणी इन तीनोंसे निवृत्त होकर शुद्ध अन्तःकरणवाला होजाता है तब उसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि संशयात्मा नाश होजाता है अतएव संशय नहीं करना चाहिये ॥ ४० ॥

*मिथ्याज्ञान के विषय सूत्रकार पतंजलि यों कहते हैं, कि "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम" (पतं० समा० पा० सू० ८) अर्थात् मिथ्या ज्ञानके कारण विपर्ययकी जो उत्पत्ति होती है तहां मनुष्योंकी बुद्धिमें विपर्ययके साथसाथ विकल्पका भी बिम्ब पडता है। इसी संशयको दूर करनेके तात्पर्यसे सूत्रकारने मिथ्याज्ञान शब्दका प्रयोग करके विपर्यय और विकल्पको अपने-अपने स्थानपर पूर्णरूपसे दिखला दिया है। विपर्यय मिथ्याज्ञानके ही कारण होता है। यद्यपि वस्तुमें तो सत्यता ही रहती है मिथ्यात्व नहीं रहता पर ज्ञानमें मिथ्यात्व होनेके कारण विपर्यय भासता है। जैसे रस्सी तो सत्य है ही और सर्प भी सत्य ही है पर रस्सीमें सर्पका भान होना विपर्यय है। इसी प्रकार नित्य, आत्मा और अनित्यका भान होकर विपर्यय देखनेका कारण मिथ्याज्ञान ही है। इसलिये अपनेको मिथ्याज्ञानसे बचाओ और इससे बचकर अन्तःकरणकी शुद्धि करलो जिससे शीघ्र ज्ञानकी प्राप्ति होवे।

सुनो—

मू०— योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

पदच्छेदः— धनंजय ! (हे अर्जुन !) योगसन्न्यस्तकर्माणम् (योगेन कर्मण्यकर्मदर्शनात्मकेन परमार्थदर्शनलक्षणेन भगवति समर्पितानि कर्माणि येन तम् । परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन सन्न्यस्तानि धर्मा-धर्माख्यानि कर्माणि येन परमार्थदर्शिना तम् । भगवदाराधनलक्षणसमत्वबुद्धिरूपेण भगवति समर्पितानि कर्माणि येन तम्) ज्ञानसंछिन्नसंशयम (आत्मनिश्चयलक्षणेन ज्ञानेन छिन्नः संशयो देहाभिमानलक्षणो यस्य तम) [एवम भूतम्] आत्मवन्तम् (अप्रमादिनम् । सर्वदा सावधानम) कर्माणि (गुणचेष्टारूपेण दृष्टानि शुभाशुभानि । लोकसंग्रहार्थानि स्वाभाविकानि वा) न (नैव) × निबध्नन्ति (अनिष्टमिष्टं मिश्रं वा शरीरं नारभन्ते) ॥ ४१ ॥

पदार्थः— (धनंजन !) हे अर्जुन ! (योगसन्न्यस्तकर्माणम्) निष्काम-कर्म करतेहुए ईश्वराराधनमें तत्पर जो कर्मके फलोंको ईश्वरमें अर्पण करता हुआ परमार्थदर्शी है वही **योग-सन्न्यस्तकर्मा** कहलाता है ऐसेको और (ज्ञानसंछिन्नसंशयम्) जीव ईश्वरका अभेद-रूप ज्ञान जो आत्मज्ञान अथवा भगवत्स्वरूपमें

× कहीं-कहीं निबन्धन्ति ऐसा भी पाठ देखागया है तिस दशामें ऐसे भाष्य होगा, कि (अनिष्टानिष्टं मिश्रं वा शरीरं नारभन्ते)

अपनेको लीन करदेनेकी जो अवस्था उसे प्राप्त कर उसके द्वारा नाश किया है अपने संशयोंको जिसने ऐसेको तथा (आत्मवन्तम्) जो सर्व प्रकारके प्रमादोंसे रहित सदा इन्द्रियोंके दमनादिमें सावधान रहता है उसे आत्मवन्त कहते हैं। ऐसेको (कर्माणि) शुभाशुभ कर्म (न निबध्नन्ति) बाधा नहीं करते । अर्थात् उसके दुःखके कारण नहीं होते। अथवा संचित बनकर आगे किसी प्रकारके शरीर की उत्पत्तिके कारण नहीं होते ॥ ४१ ॥

भावार्थः— श्री गोविन्दने जो इस चौथे अध्यायमें कर्म-योग का वर्णन करतेहुए नाना प्रकारके यज्ञोंका वर्णन किया फिर उन कर्मोंको निरभिमान होकर आसक्ति-रहित करनेसे चित्तकी शुद्धि द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति कही। अब तिसी ज्ञानका महत्व दिखलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं और कहते हैं, कि [**योगसन्न्यस्त-कर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् । आत्मवन्तम्**] जो लोग योगसन्न्यस्त-कर्मा हैं अर्थात् जिसने कर्मयोग द्वारा निरभिमान होकर तथा दुःखमें अनुद्विग्न और सुखमें निस्पृह होकर कर्मोंके फलोंका त्याग करदिया है अर्थात् ईश्वराराधनमें तत्पर होकर अपना विहित-कर्म ईश्वरमें समर्पण करदिया है तथा केवल लोकसंग्रहार्थ वा शरीर-यात्रा-निर्वाहार्थ कर्म करते हुए अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करली है वही परम चतुर और वीर पुरुष है। क्योंकि कर्मोंके फलका त्याग करना साधारण कार्य नहीं है। बडी ही वीरता और साहसका काम है, सबोंसे कर्म-फल त्याग करना नहीं बनसकता। अधिकांश प्राणी इस संसारमें केवल फलोंको ही सुनकर कर्म करते हैं। यदि उनको

यह ज्ञात होजावे, कि इस कर्मके करनेसे अमुक मनोकामना नहीं पूरी होगी। धन, सम्पत्ति, पुत्र, पौत्र अथवा स्वर्गका सुख नहीं प्राप्त होगा तो वे उस कर्मको कभी नहीं करेंगे। यदि उनसे लाखों बार कहा-जावे, कि तुम पुत्रकी इच्छा मत करो! केवल चित्तशुद्धिनिमित्त कर्म करो! तो वे नांक सिकोड भाग जावेंगे। इसलिये यह निश्चय है, कि बहुतेरे यज्ञकरनेवाले किसी न किसी कामनासे कर्मोंका सम्पादन कियाकरते हैं। अतएव वही प्राणी चतुर और वीर है जिसने भगवत्-स्वरूपके लिये कर्मोंको सन्न्यस्त करदिया है। कर्मोंका सन्न्यस्त करना दोनों प्रकारसे होसकता है, फलतः और स्वरूपतः अर्थात् कर्मों को कर, फलका त्याग करना अथवा ईश्वरभजनमें ही रहकर कर्मोंको छोडदेना। दोनों प्रकारसे कर्मोंका (सन्न्यस्त) त्याग ही कहा जावेगा। इसीको परमार्थदर्शन कहते हैं। जैसे दर्पणके ऊपर धूल जमजानेसे दर्पण मलीन होजाता है इसी प्रकार फलोंकी चिन्ता करते-करते प्राणीका अन्तःकरण मलीन रहता है। जैसे किसी दीपकपर काला वस्त्र धरदो तो ज्योति बाहर नहीं फैलती। इसी प्रकार अन्तःकरण भी मनोकामनाओं के काले वस्त्रसे ढकेजानेके कारण मलीन होजाता है। जैसे अन्धोंको प्रकाशका बोध नहीं होता ऐसे हृदयके घरमें जो भगवत्का प्रकाश है उसे नहीं सूझता।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! एवम् प्रकार कर्मोंको त्यागकर जो प्राणी ज्ञान-संछिन्नसंशय है ज्ञानसे काटदिया है संशय जिसने अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर ज्ञानकी प्राप्ति करली है जिस प्राणीने उसीके संशयका नाश होजाता है क्योंकि ज्ञानकी प्राप्ति

से सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान इत्यादिसे प्राणी रहित होजाता है। इसलिये सब प्रकारके संशय उससे दूरहोजाते हैं। प्रमाण श्रुतिः— "न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानवमाने च षडूर्मिवर्जं। निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोध लोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते" (देखो परमहंसोपनि० श्रु० २)

अर्थ—सरदी, गरमी, सुख, दुःख, मान, अपमान, और * षडूर्मियोंसे जो वर्जित है तथा निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष असूया, अहंकारादिको नाश करके (स्ववपुः) अपने शरीरको जो कुणप (मृतकशरीर) के समान देखता है वही "ज्ञान-संछिन्नसंशय" कहाजाता है। अथवा यों अर्थ करलो, कि जिसने ज्ञान प्राप्तकर जीव और ईश्वरका भेद मेट कर परब्रह्म जगदीश्वरके साथ एकता प्राप्त की है, सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देख रहा है। वही ज्ञानसंछिन्नसंशय कहाजाता है।

तिस संशय का स्वरूप पाठकोंके कल्याणार्थ दिखलादिया जाता है (आत्मा देहादभिन्नोभिन्नो वा) यह आत्मा देहसे सटा हुआ है अथवा देहसे भिन्न है। (भिन्नोऽथविभुर्विभुर्वा) यदि देहसे भिन्न है तो अविभु (एकदेशी है) अथवा (+ विभु) है

* शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मयः

+ सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्

(सर्वत्र सब वस्तुओंमें व्यापक है ।) यदि विभु है तो " सोपि कर्त्ताऽकर्त्ता वा " सो भी कर्ता वा अकर्ता है ? " कर्तापि भोक्ता ऽभोक्ता वा " यदि कर्ता है तो भोक्ता है वा अभोक्ता है ? " अभोक्ताप्यनेक एको वा " यदि अभोक्ता है तो अनेक है वा एक है ? " एकोऽपि सगुणो निर्गुणो वा " यदि एक है तो सगुण है वा निर्गुण है ? तथा " प्रपंचः सत्यः मिथ्याभूतो वा) यह प्रपंच सत्य है वा मिथ्या है ? ये सब संशयके स्वरूप हैं ज्ञानसे इन सबोंका नाश होजाता है । सो ज्ञान " योगसन्न्यस्तकर्म " से ही उत्पन्न होता है ।

भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी एवम् प्रकार योगसन्न्यस्तकर्मा होनेसे ज्ञानसंछिन्नसंशय होजाता है वही " आत्मवन्त " होता है अर्थात् प्रमाद रहित होकर आत्मस्वरूपमें सावधान होजाता है । उसके सर्वप्रकारके प्रमादोंका नाश होजाता है ।

पाठकोंके कल्याण निमित्त प्रमादका स्वरूप श्रुति द्वारा दिखलाया जाता है— " ॐ मदिरोन्मत्त इवामोदमदिरोन्मत्तं पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विषदष्टं महान्धकार इव रागान्धमिन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिरिव मिथ्या मनोरममिति " (मैत्रायणि-उपनिषत् प्रपा० ४ श्रु० २)

अर्थ— जैसे प्राणी मद्य पीकर मतवाला होजाता है ऐसे मोह-रूप मद्यके पान करनेवालोंको तथा पापकी बेड़ीसे बँधुआ (कैदी)

के समान बंधेहुएको, महाव्यालसे डसे हुएके समान विषयरूप सर्पसे डसे हुएको, महाघोर भादोमास-अमावसकी रात्रिकेसमान विषयोंके रागरूप अंधकारसे घिरेहुएको, इन्द्रजालके समान मायासे भरेहुएको, स्वप्नके समान मिथ्या दर्शनमें रत रहनेवालेको, केलेके स्तंभके समान साररहित संसारको, नटके समान क्षणमात्रकेलिये रूपधारण कियेहुएको और दिवालपर चित्रोंके समान मिथ्या सुन्दरताईवालेको; अर्थात् ऐसे मिथ्या मनोरम संसारमें रत रहनेवालेको यथार्थ प्रमादी कहते हैं। इससे प्रतिकूल जो इन दुःखोंसे रहित केवल अपने आत्मामें रत सदा अपने प्राणप्रिय श्यामसुन्दरके साथ सावधान है वही "आत्मवन्त" कहाजाता है। सो इसी विषयको श्यामसुन्दर पहले भी कह आये हैं, कि "**निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्**" (देखो अ॰ २ श्लो॰ ४५) अर्थात् हे अर्जुन ! तू निर्द्वन्द्व नित्यस्वरूप निर्योगक्षेम और आत्मवान् हो अर्थात् प्रमत्त मत हो अपनेमें सावधान रह।

अब भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी निष्कामकर्मसाधन द्वारा अन्तःकरणको विकारोंसे शुद्धकर ज्ञान प्राप्तिका अधिकारी हो तिस ज्ञानकी प्राप्तिसे संशयोंका उच्छेदन करडालता है उसे [**न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनंजयः !**] हे अर्जुन ! कर्मबाधा नहीं करते अर्थात् कर्म उसके किसी प्रकार अनिष्टके कारण नहीं होते । जैसे संसारी जीव कूपघटिकायंत्र (रहट) के समान कर्मकी डोरीमें बंधेहुए नीचे ऊपर आवागमन कररहे हैं ऐसे आत्मवान् प्राणी नहीं करता । यहां "निबध्नन्ति" और "निबन्धन्ति" दोनों पाठ हैं पर तात्पर्य्य दोनोंके एकही हैं अर्थात् बाधा नहीं करते अथवा नहीं बांधते ॥ ४१ ॥

अब इस अध्यायका उपसंहार करतेहुए भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे पार्थ ! इस प्रकार ज्ञानका महत्व जानकर तुझे क्या करना योग्य है सो सुन !

मू०— तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

पदच्छेदः— भारत ! (पवित्रभरतवंशोत्पन्न अर्जुन !) **तस्मात्** (यस्मात् ज्ञानानुष्ठानविषये संशयवान् विनश्यति तस्मात् कारणात्) **अज्ञानसम्भूतम्** (अविवेकादुत्पन्नम्) **हृत्स्थम्** (बुद्धिस्थितम्) **एनम्** (सर्वानर्थमूलभूतम्) **आत्मनः संशयम्** (स्वस्यात्मविषयत्वात् संशयम्) **ज्ञानासिना** (ज्ञानखड्गेन) **छित्वा** (भित्वा) **योगम्** (आत्मज्ञानोपायं निष्कामकर्मानुष्ठानम्) **आतिष्ठ** (आश्रयं कुरु!) [तथा] **उत्तिष्ठ** (युद्धसम्पादनाय सज्जीभव!) ॥४२॥

पदार्थः— (**भारत** !) हे भरतवंशमें वीर ! (**तस्मात्**) इसलिये (**ज्ञानसम्भूतम्**) अज्ञानतासे उत्पन्न (**हृत्स्थम्**) बुद्धिके भीतर प्रवेश कियेहुए (**एनम्**) इस (+ **आत्मनः संशयम्**) अपने

+ शंकराचार्यने तो **आत्मनः** का अर्थ अपना किया है क्योंकि अर्जुनको भी युद्ध करनेमें शंका होरही है इसलिये भगवान्ने (आत्मनः संशयम्) कहकर अर्जुनकी शंका का संकेत करदिया । पर मधुसूदन और भाष्योत्कर्षदीपिका वालेने (आत्मनः) शब्दको ज्ञानके साथ समस्यमानकरके (आत्मज्ञानासिना) आत्मज्ञानके खड्गसे ऐसा अर्थ किया । (दोनों स्वीकार करने योग्य हैं)।

संशयको (ज्ञानासिना) ज्ञानके खड्गसे (छित्वा) काटकर (योगम्) ज्ञानके उपाय कर्म-योगको (आतिष्ठ) आश्रय कर! फिर शीघ्रता करके युद्धके लिये (उत्तिष्ठ) उठ खडा हो ॥ ४२ ॥

भावार्थः— अब इस श्लोकसे इस अध्यायकी समाप्ति होती है। इसलिये भगवान् सम्पूर्ण अध्यायका तात्पर्य अर्जुनके लिये कहना निश्चय करतेहुए अन्तमें अर्जुनको ही "संशयग्रस्त" बताकर तिस संशयको नाश करनेकी आज्ञा देते हैं। ४०वें श्लोकमें संशय करनेवाले की दुर्गति तथा ४१ वें में संशयरहित पुरुषका महत्व दिखलाते हुए अर्जुनको यह जनाते हैं, कि तू जो युद्ध करनेमें संशय कररहा है सो मत कर! वरु जैसे मैं कहता हूं तदनुसार कर। अर्थात् [तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः] ज्ञानसे ही संशयका छेदन होता है इसलिये अज्ञानतासे उत्पन्न जो तेरी बुद्धि में संशय समारहा है जिस करके तू रथके पीछे जाबैठा है और अत्यन्त कादरके समान दुःखी होरहा है, तुझसे बोला नहीं जाता, तेरी आंखें अश्रुओंसे भरी देखपडती हैं और प्रमादीके समान बायें दायें देखरहा है सो तू अपने इस संशयको उसी ज्ञानके खड्गसे काटडाल! क्योंकि यह संसय महा घोर पाप है। इससे बढकर मनुष्योंका कोई दूसरा शत्रु नहीं है सो संशय केवल अज्ञानता से ही उत्पन्न होता है। इसलिये तू ज्ञानके खड्गसे इस अज्ञानताको नाश करडाल! यह संशय धीरे-धीरे बुद्धिको मलीन करडालता है। जैसे उज्वल वस्त्र अपने अंगके संगसे दिन-दिन मैला होता जाता है इसी प्रकार बुद्धि संशयके साथ-साथ मलयुक्त होजाती है। इसलिये प्राणी सदा सशंक

और भयभीत रहता है । संशय-ग्रस्त चित्तवालेके सब काम भ्रष्ट होते हैं । यह संशय मनमें करते-करते वृद्धि पाताहुआ हृत्स्थ होजाता है, अर्थात् हृदयपर प्रभाव डालते-डालते हृदय-कमलकी कर्णिकामें जाघुसता है तिस हृदय-कमलकी कर्णिकाकी सीधमें बुद्धि है जिस पर हृदयका बिम्ब पडता है इसलिये " **हृत्स्थ** " संशयका बिम्ब भी बुद्धि पर पडता है । इसी कारण " हृत्स्थ " का अर्थ टीकाकारोंने " बुद्धिस्थ " किया है।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे भरत ! तू संशयको त्यागकर [**छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत !**] निष्काम-कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त होजा, अर्थात् अपने धर्म्मयुद्धको सम्पादनकरनेके लिये (उत्तिष्ठ) उठ खडा हो !

शंका— भगवान् कर्मानुष्ठानको ज्ञानप्राप्तिका उपाय कहते चले आरहे हैं अर्थात् पहले कर्मानुष्ठानकी सिद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि, तिससे ज्ञानकी प्राप्ति, तिससे संशयका छेदन कह चुके हैं । पर अब इस श्लोकमें अर्जुनसे कहते हैं, कि पहले ज्ञानके खड्गसे संश-यका छेदन कर तब कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त हो अर्थात् युद्ध कर ! ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । क्योंकि अबतक तो कर्मानुष्ठानको ज्ञानका कारण बताते आये । अब ज्ञानको कर्मानुष्ठानका कारण बताते हैं । ऐसा पूर्वापर विरोध क्यों ?

समाधान— ऐसा बोध होता है, कि पूर्वके किसी भाष्यकार वा टीका करनेवालेकी दृष्टि ऐसी शंकापर नहीं पडी । यदि पडी भी

हो तो इसके समाधानकी आवश्यकता उस समय न समझ कर छोड-दिया होगा ।

इसका समाधान यों है सुनो! प्रथम तो यह जानना चाहिये, कि कर्मयोग और ज्ञानयोगमें अन्योन्य सम्बन्ध है अर्थात् बिना निष्काम-कर्म सम्पादन किये ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तथा बिना ज्ञानहुये कोई प्राणी निष्कामकर्मोंका सम्पादन भी नहीं करसकता । अज्ञानियोंसे तो कर्मोंके फलका त्याग ही नहीं होसकता । इस विचारसे अनुमान होता है, कि कदम्बकोरकन्यायसे ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा (शुभेच्छा) कर्मयोग और अन्तःकरणकी शुद्धि ये तीनों कोरक (कलियां) मानुषी ×हृदयमें एक ही बार फूट निकलती हैं । आगे जाकर तीनों एक साथ मिलजाती हैं जहां संगम कहा जाता है । तहांसे केवल ज्ञानही ज्ञान रह जाता है । शेष दोनों उसमें लय होजाते हैं । जैसे भागीरथी, यमुना और सरस्वती तीनों एकही बार पर्वत फोडकर निकलती हैं और अपने पूर्ण वेगसे चलती हुई श्री प्रयागराजमें मिल जाती हैं, पर भागीरथी बलवती होनेके कारण अन्य दोनोंको अपने वेगमें लेकर अपनेमें लय करलेती है । तब केवल आप रहजातीहै ।

इसलिये भगवान् पहले इसी अध्यायके श्लो० २३ में कहआये हैं, कि " **यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते** " अर्थात् केवल भगवत्-

× कदम्बकी तीन चार कलियां एक ही समय फूटकर आगे बढ एक संग मिल एक पुष्प बनजाती हैं ।

निमित्त आसक्तिरहित कर्म करनेवालोंके सब कर्म ब्रह्मज्ञानके प्रवाहमें लय होजाते हैं ! इसीसे भगवान् फिर कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तुझमें जो ज्ञानका प्रथम अंग (शुभेच्छा) चल निकला है तिसके द्वारा अपने संशयको हटाकर निष्काम-कर्म-योगमें तत्पर हो ! अर्थात् युद्ध सम्पादन कर ! शंका मत करो !

अब शंका यह है, कि भगवान् कहआये हैं, कि "**तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति**" (देखो श्लोक ३८) अर्थात् कर्म-योग सिद्ध करनेवाला "**कालेन**" बहुत कालके पश्चात् ज्ञान प्राप्त करता है। सो ज्ञान यहां अर्जुन इतना शीघ्र रथ पर बैठा-बैठा कैसे प्राप्त करलेगा ?

समाधान—प्रथम तो यह कि, "कालेन" शब्दका अर्थ यदि थोडे काल में कियाजावे तो कोई हानि नहीं। आनन्दगिरिकृत भाषाटीकामें भी थोडे ही काल अर्थ किया है। अर्थात् थोडे ही कालमें प्राणीको ज्ञानकी प्राप्ति होसकती है। क्योंकि श्यामसुन्दरकी कृपासे क्षणमात्रमें अर्जुनके हृदयमें ज्ञानका दीपक बल सकता है। जिस अर्जुनके पूर्व जन्मोंके संस्कार इतने प्रबल हैं कि साक्षात् त्रिलोकीनाथ जगत्गुरु श्री गोलोकविहारी जगत्-हितकारी भक्तवत्सल भगवान् जो परलोक लेजानेवाले ज्ञान-रूप महाभारत युद्धके रथके रथवान हैं, सो आज इस अर्जुनके रथवान होरहे हैं। इससे सिद्ध होता है, कि भगवान् अर्जुनके दोनों लोकके रथवान होकर अर्जुनको क्षणमात्रमें आत्मज्ञानी बनादें तो क्या सन्देह है ? ऐसा ही हुआ भी है। रथपर बातें करते-करते अर्जुनको दिव्य-चक्षु प्रदान कर अपने विराट्-रूपका दर्शन करवा उसके सब

संशयोंका उच्छेदन करे युद्ध सम्पादन करवाया है। इसमें शंकाका कुछ भी स्थान नहीं है। ऐसे ज्ञानकी प्राप्ति निमित्त श्यामसुन्दरकी कृपाका कटाक्ष मात्रही बहुत है। अर्जुनको तो दर्शन मात्रसे ही ज्ञान प्राप्त है फिर अर्जुनको ज्ञान प्राप्तिमें विलम्ब भी नहीं होसकता। क्योंकि भगवान् पहलेभी यही वार्त्ता कह आये हैं, कि "**मयि सर्वाणि कर्म्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा०००००**" (देखोअ० ३ श्लो० ३०) अर्थात् विवेक बुद्धि करके मुझमें कर्मोंके फल अर्पण करके विगतज्वर होकर अर्थात् संशयरहित होकर युद्धकर। तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकका तथा चौथे अध्यायके ४२ वें श्लोकका एक ही तात्पर्य्य है। अर्जुनके प्रति इतना विस्तार करनेकी भी आवश्यकता न थी कृपाकटाक्षसे दो चार ही वचन बहुत थे। पर अर्जुनके अन्तःकरणमें यह अभिलाषा बनीहुई है, कि मेरे मिससे जगत्का भी कल्याण होता जावे। इसलिये तत्त्वकी वार्त्ताओंको भगवानसे पूछपूछ कर जीवोंको संसार-सागरसे पार उतारनेके लिये गीता-शास्त्रकी पूर्त्ति करवानेमें तत्पर है। मुख्य तात्पर्य यह है, कि संसारके अन्य जिज्ञासुओंके लिये जो अत्यन्त दुर्लभ और दुर्गम पथ है सो अर्जुनके लिये परम सुलभ और सुगम है। क्योंकि श्यामसुन्दर के समान परम गुरुसे शिक्षा प्राप्त कर रहा है। इसलिये संसारमात्रकेलिये कालेनका अर्थ बहुत काल और अर्जुनके लिये थोडा काल करना अयोग्य नहीं है। शंका मत करो!

प्रिय पाठको अब यह चौथा अध्याय समाप्त होता है। मुरली मनोहरके मुख सरोजसे टपकेहुए मकरन्दकी चार बूँदें जो ये चारों अध्याय हैं ये प्राणीको अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फलोंके देनेवाले

हैं । यदि कहो, कि फलोंकी इच्छा ज्ञानी नहीं करता है, फिर इन चारों फलोंको लेकर क्या करना है ? तो उत्तर इसका यह है, कि ये चारों फल यहां दूसरे तात्पर्यसे कहेगये हैं । अर्थात् जो लोग भगवच्चरणारविन्दके अनुरागी हैं उनका अर्थ भगवद्भक्ति ही है, उनका धर्म भगवच्चरणोंकी सेवा है, उनका काम भगवच्चरणोंमें लिपटना है और उनका मोक्ष भगवदाकार होजाना है । इसलिये ये चारों अध्याय इन चारों फलोंके देनेवाले हैं ॥ ४२ ॥

आधारं जगतां गतिं गतिमतां सूर्यादिभास्यं सतां,
सारं सारवतां गतागतिवतां चिन्तामसंजानताम् ।
संसारं विततां नतिं कृतवतां सर्वार्थदां देवताम्,
शौरिं सर्वततां परां भज सितां चेतो न चासाधुताम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां सांख्ययोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु अष्टविंशोऽध्यायः ॥

शुद्धाशुद्धि-पत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
चत्रियाणं	चत्रियाणां	७७८	१७
मिम	मिमं	७७६	१३
प ऋयश्च	ऋपयश्च	,,	२०
प्रचदयते	प्रचक्षते	८०६	७
मुत्पतिः	मुत्पत्तिः	८१४	२२
कुम्भकरण	कुम्भकर्ण	८१७	१
वेधसः	वेधसे	८१८	७
सत्यव्रताना	सत्यव्रतानां	,,	१४
श्रुत्युक्त्वा	श्रुत्युक्ता	८२२	६
सुखानुशायी	सुखानुशयी	८२७	१५
मार्ति	मर्ति	८४१	५
शुक्र	शुक्रं	८४६	८
शंसय	संशय	८६६	१०
भष्म	भस्म	८७३	१६
अकर्मणीयं	अकरणीयं	८७४	६
हिंसू	हिंसू	८८६	७
साचातूरूप	साक्षात्कार रूप	८८६	१६
पक्षीणां	पक्षिणां	६०८	४
शाश्वता	साश्वता	६२४	८
स्वतीयः	स्तृतीयः	६६२	११
उपांसु	उपांशु	६६४	१२
समादधति	समादधाति	६८०	२
शृवन्तः	शृण्वन्तः	१०१०	१४
यज्ञात्वा	यज्ज्ञात्वा	१०१६	२
सिद्धे	सिध्ये	१०६६	५
मानवमाने	मानावमाने	१०७५	२